आधुनिक राजस्थान का उत्थान

(राजस्थान का संस्मरणात्मक इतिहास)

रामनारायण चौधरी

- प्रकाशक : राजस्थान प्रकाशन मण्डल, अजमेर
- वितरक : बुक सेन्टर, अजमेर
- मुद्रक : उमेश प्रिन्टर्स, अजमेर
- मूल्य : पन्द्रह रुपये मात्र
- सन : १९७४

समर्पण

● **पं० अर्जुनलालजी सेठी** राजस्थान में राष्ट्रीयता के प्रणेता थे। उन्हीं ने इस प्रान्त में आजादी की चाह का बीज बोया और अपने त्याग व तपस्या से सींचा था। उन्होंने यहा साम्राज्यवाद और पूंजीवाद से पहले पहल लोहा लिया था।

● **श्री विजयसिंह जी पथिक** राजस्थान की ग्रामीण जनता के पहले नेता थे। उन्होंने यहा के किसान को जगाया, उन्होंने स्थानीय देशभक्ति की भावना को सजीव बनाया, उन्होंने राजस्थानी युवकों को आजन्म देश सेवा की दीक्षा दी। सामन्तवाद की जड़ें राजस्थान में पथिक जी ने ही हिलाई थीं।

● **ठाकुर केसरीसिंहजी बारहठ** के सारे परिवार ने त्याग का जो उदाहरण उपस्थित किया वह आधुनिक राजस्थान में तो अद्वितीय है ही, देशभर में भी उसकी मिसाल शायद ही मिले।

सेठीजी की प्रेरणा, पथिकजी के पथ प्रदर्शन और बारहठजी के स्नेह से लेखक बहुत उपकृत हुआ है। उसकी दृष्टि में आधुनिक राजस्थान के प्रधान निर्माता यही तीन बुजुर्ग थे। मैं इस त्रिमूर्ति को यह पुस्तक सादर समर्पित करता हूं।

—रामनारायण चौधरी

राजस्थान के सर्वश्रेष्ठ देशभक्त

स्व० कुंवर प्रतापसिंहजी बारहट

नेता

श्री रामनारायण चौधरी

राजस्थान की प्रथम सेविका

श्रीमती अंजना देवी

प्रकाशक का वक्तव्य

आधुनिक राजस्थान का उत्थान एक ऐसा महायज्ञ था जिसमें स्वयं लेखक का प्रमुख भाग रहा है। इसमें आहुतियां तो सैकड़ों नहीं, हजारों ने दी हैं, परन्तु तेरह व्यक्ति ऐसे हुए जिन्हें इस नाटक के सूत्रधार कहा जा सकता है। ये वे बुजुर्ग हैं जिन्होंने राजस्थान में साम्राज्यवाद और सामन्तवाद का मुख्य रूप में मुकाबिला किया और शुरू से आखिर तक देशी और विदेशी गुलामी से राजस्थान को आज़ाद कराने में अपनी सारी शक्तियां लगाईं। इन सबकी अलग अलग जीवनियां प्रकाशित होकर प्रान्त के स्कूलों में पढ़ाई जानी चाहियें। यह काम राज्य सरकार के ही करने का है। लेखक महोदय ने भी अपने ढंग से इन सभी की सेवाओं का उल्लेख किया है। इन बड़ों में से किसने कितनी सेवा राजस्थान की की, यह तो जनता के ही सोचने की बात है, मगर हमारे खयाल से प्रान्त के राष्ट्रीय यज्ञ में योगदान की ऐतिहासिकक्रम से नामावली यूं प्रस्तुत की जा सकती है:—(१) पं० अर्जुनलाल सेठी (२) श्री विजयसिंह पथिक (३) ठाकुर केसरीसिंह बारहठ (४) मौलाना मुईनुद्दीन (५) कुंवर चांदकरण शारदा (६) सेठ जमनालाल बजाज (७) श्री रामनारायण चौधरी (८) श्री माणिक्यलाल वर्मा (९) स्वामी कुमारानन्द (१०) बाबा नरसिंह दास (११) श्री जयनारायण व्यास (१२) पं० हरिभाऊ उपाध्याय और (१३) श्री हीरालाल शास्त्री। सच पूछा जाय तो स्वाधीनता के आने से पहले इन्हीं को सही अर्थ में प्रान्तीय नेता का पद मिला।

इन नेताओं में से वर्माजी, व्यासजी, उपाध्यायजी और शास्त्रीजी ने सत्तारूढ़ होकर सेवा का मेवा पा लिया। शेष में से सेठीजी, मौलाना, शारदाजी, पथिकजी, सेठजी और बाबाजी अपनी निष्काम देशभक्ति की अमर कीर्ति छोड़कर दिवंगत हो गये। राजस्थान के सौभाग्य से चौधरीजी और स्वामीजी की निःस्वार्थ सेवाओं का लाभ आज भी प्रान्त की जनता को मिल रहा है।

श्री रामनारायणजी चौधरी राजस्थान के सबसे पुराने जीवित नेता हैं। श्री चौधरीजी ने एक क्रांतिकारी के रूप में १९१३ से देश सेवा आरम्भ की और १९२० से १९५४ तक एक गांधीवादी की हैसियत से स्वातन्त्र्य संग्राम, .. स्थान की राजनीति और रचनात्मक प्रवृत्तियों में प्रमुख भाग लिया। सच

है कि वे वर्तमान राजस्थान के निर्माताओं में से है। १९५५ से १९५६ तक उन्होंने स्व० जवाहरलालजी नेहरू के निकटवर्ती साथी बनकर भारत सेवक समाज में जीवन संचार किया। पिछले आठ वर्ष से वे अपने स्वतंत्र संगठन, अखिल भारतीय ग्राम सहयोग समाज द्वारा राष्ट्रीय स्तर पर रचनात्मक कार्य में संलग्न है। वे प्रतिभाशाली लेखक, मौलिक विचारक, सफल प्रचारक, ओजस्वी वक्ता और कुशल संगठनकर्त्ता हैं। उन्होंने २ हिन्दी दैनिकों, ५ हिन्दी साप्ताहिकों, २ अंग्रेजी साप्ताहिकों और एक एक अंग्रेजी, उर्दू व हिन्दी मासिकों का सम्पादन किया है। ४ हिन्दी और २ अंग्रेजी पुस्तकें लिखी हैं और गांधी साहित्य के लगभग ५०००० पृष्ठों का हिन्दी में अनुवाद किया है। वे अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू, गुजराती, मराठी, पंजाबी और फ़ारसी भाषाएं जानते हैं। कांग्रेस, गोसेवा संघ, हरिजन सेवक संघ और देशी राज्य लोक परिषद के महामन्त्री, भारत सरकार के विकास मंत्रालय के सलाहकार और ईरान के राजदूत पद के प्रस्ताव अस्[illegible] करके तथा नेहरूजी के चाहने पर भी कोई राजनैतिक आकांक्षा न बताकर असाधारण त्याग का परिचय दिया है। वे अवसर मिलने पर भी वि[illegible] और लोक सभा के लिये चुनाव में खड़े नही हुए। पंजाब के मुख्य सलाहकार मंडल के अध्यक्ष नियुक्त होकर उन्होंने एक पर-प्रान्त में राजस्थान का गौरव बढ़ाया।

उनकी आत्मकथा एक तरह से आधुनिक राजस्थान का अपने ही ढंग का इतिहास है। हमें विश्वास है कि इससे प्रशासक, कार्यकर्त्ता और शिक्षित समुदाय अपने-अपने तरीके पर लाभ उठाएंगे।

इस पुस्तक में राजस्थान सेवा संघ के सिलसिले में भूल से चार युवकों का उल्लेख रह गया है। उनके नाम ये हनुमान, जयसिंह, अनूपसिंह और मोहनसिंह। पिछले तीनों राजपूत थे। इन्होंने संघ मे रह कर बड़े त्याग, परिश्रम और सेवा का परिचय दिया था।

हम राजस्थान की मातृशक्ति के प्रति अन्याय करेंगे, यदि माता अंजनादेवी चौधरी का ज़िक्र यहां नही होगा। ये पहली राजस्थानी महिला हैं जिन्होंने पर्दे और जेवर का त्याग किया। देशी राज्यों के आन्दोलन में गिरफ़्तार और निर्वासित होने वाली और जंगलों और पहाड़ों में किसान स्त्रियों का नेतृत्व करने वाली ये प्रथम वीरांगना हैं। वे राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य संग्राम में दो बार कठोर कारावास में रहीं और जेल में प्रथम श्रेणी की सुविधाएं मिलने पर भी अपनी 'सी' क्लास की बहनों के साथ उन्ही की तरह रहीं। १९२० से आज तक

वे सेवा कार्य में रत है। राजस्थान में शायद उन्हीं का परिवार है जिसमें उनकी सन्तानों के कुटुम्ब में भी खादी के सिवाय और कोई कपड़ा काम में नहीं लाया जाता।

राजस्थान इन सब बुजुर्गों को सदा श्रद्धापूर्वक याद करता रहेगा। यदि प्रस्तुत पुस्तक इस प्रेरणाप्रद स्मृति को ताजा रखने में सहायक होगी तो प्रकाशक अपना परिश्रम सफल समझेंगे।

मोहनराज भण्डारी
मन्त्री
राजस्थान प्रकाशन मंडल

अजमेर
९ अगस्त १९६७

लेखक के दो शब्द

बंगभंग के बाद देश के दूसरे हिस्सों की तरह राजस्थान में भी राष्ट्रीय जागृति आरम्भ हुई। प्रांत में क्रांतिकारी आन्दोलन शुरू हुआ। अजमेर-मेरवाड़ा में होमरूल की हलचल का असर पड़ा। उसके बाद गांधी युग आया। उसी के साथ श्री विजयसिंहजी पथिक का चलाया हुआ बिजौलिया का सत्याग्रह हुआ और राजस्थान सेवा संघ के नेतृत्व में रियासतों की देहाती प्रजा ने अपने कष्ट निवारण के लिये अनेक लड़ाइयां लड़ी। इसी बीच खादी, राष्ट्रीय साहित्य प्रकाशन और दूसरी रचनात्मक प्रवृत्तियों का सूत्रपात हुआ। इतने में सन् १९३० की शांत क्रांति आ पहुंची। राजस्थान ने उसमें भी भाग लिया। इसी तरह सन् १९३२-३४ के आज्ञा भंग आन्दोलनों में भी इस प्रांत ने पत्रपुष्प भेंट किया। फिर गांधीजी ने हिन्दू धर्म के माथे से अछूतपन का कलंक मिटाने के लिये जो महायज्ञ रचाया उसमें भी राजपूताने ने बूते के अनुसार हिस्सा बटाया। इसके बाद हरिपुरा कांग्रेस से देशी रियासतों की जनता को स्वावलंबन का जो संदेश मिला उस पर हमारे रजवाड़ों में अमल हुआ और प्रजामण्डलों का जन्म और संगठन हुआ। हमारे कई राज्यों में प्रजा ने अपने अधिकारों के लिये सत्याग्रह किया। सन् १९४० में दूसरे महायुद्ध के सिलसिले में ब्रिटिश सत्ता की दम्भनीति के प्रति विरोध प्रदर्शित करने के लिये व्यक्तिगत सत्याग्रह हुआ। उसमें भी कुछ राजस्थानियों ने भाग लिया। सन् १९४२ में आज़ादी का आखिरी जंग शुरू हुआ। इस राजनैतिक जद्दोजहद के अलावा प्रान्त में साहित्य, समाज सुधार, शिक्षा प्रचार और दूसरी सांस्कृतिक कोशिशें भी हुई।

लेकिन आधुनिक राजस्थान के इस सारे जागृतिकाल का कोई इतिहास नहीं लिखा गया। हमारे मध्यकालीन गौरव की गाथायें तो अनेक भारतीय और विदेशी लेखकों ने गाई है। वे हमें ही नहीं, देशभर को स्फूर्ति देती रही हैं। परन्तु हाल की स्वातंत्र्य चेष्टाओं का बखान क्रमबद्ध रूप में विहङ्गम दृष्टि से भी नहीं हुआ। बाहरवालों की नज़र में हमारे आपसी झगड़े ज़रूर आये, हमारा उज्वल पक्ष सामने नहीं आया। लेकिन वह जितना छिपा है उतना नगण्य भी नहीं है। उसके प्रकाश में आये बिना ऐतिहासिक सत्य अधूरा रहता, आने वाली पीढ़ियों को एक खास सामग्री का अभाव खटकता और भावी निर्माण कार्य में वर्तमान की खूबियां और खराबियों का लाभ न मिलता।

इस अभाव को अनेक मित्रों की तरह कई साल से मैं भी महसूस करता था। लेकिन सार्वजनिक जीवन की मसरूफियतों में हम जैसे सेवकों को शान्तिपूर्वक कुछ लिखने का अवकाश जेल में ही मिला करता था। नजरबन्दियों से वह मौका हाथ लग गया। लेकिन जेलखाने में एक राजनैतिक इतिहास लिखने के लिये जो सामग्री और अनुकूलता चाहिये वह मयस्सर नहीं होती। इस नजरबन्दी में तो प्रतिकूलतायें और भी कड़ी रहीं। साथ ही लेखक के जीवन का उस इतिहास से घनिष्ट सम्बन्ध रहा हो तो न वह अपने व्यक्तित्व को उससे अलग रख सकता है और न निःसंकोच भाव से उसमें अपना पूरा भाग समाविष्ट कर सकता है। ऐसी हालत में अच्छा तो यही था कि कोई ऐसे भाई इस भार को उठाते जो अधिक तटस्थ वृत्ति से लिख सकते हैं। मगर जिन दो चार मित्रों की ऐसी स्थिति है वे तैयार नहीं हुए। इसलिये लाचार होकर मुझी को यह काम हाथ में लेना पड़ा। बहुत विचार करने के बाद मुझे ऐसा लगा कि यह पुस्तक संस्मरणों के रूप में ही लिखी जाय। जहा तक घटनाओं का सम्बन्ध है यह ध्यान रखने की कोशिश की गई है कि उन्हे ठीक उसी रूप में पेश किया जाय जिसमे वे मेरे सामने आई या याद रहीं। उनकी सचाई के बारे में शका की जगह दूसरे जानकार साथियों की सलाह भी ली गई है। व्यक्तियों के गुणो का ही वर्णन करने पर अधिक जोर दिया गया है और जहा दोष दिखाना जरूरी था वहा उन्हे प्रवृत्तियों से सम्बद्ध करके बताया गया है।

अवश्य ही कुछ घटनाओं, प्रवृत्तियों और व्यक्तियों का उल्लेख इस पुस्तक में नहीं हुआ है जो सार्वजनिक या ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण कही जा सकती हैं, मगर संस्मरण पद्धति में ऐसा होना अनिवार्य है। इसमें तो निकट परिचय या प्रत्यक्ष अनुभव की बातें ही दी जा सकती हैं।

यह पुस्तक मई १९४५ से पहले ही जेल में लिखी गई थी। इसलिये इसमें तभी तक की घटनाएं आयी हैं। केवल अन्त मे थोड़ा सा जिक्र बाद के हालात का करके उसे १९५४ के समय तक लाने की कोशिश की गई है।

अगर सत्य, सुरुचि और सार्वजनिक हित के खयाल से कोई आपत्तिजनक बात दिखाई पड़े तो पाठक मुझे सुझा देने की कृपा करें ताकि अगले संस्करण मे ऐसी सूचनाओं का लाभ उठाया जा सके।

अजमेर
९ अगस्त, १९६७

रामनारायण चौधरी

आधुनिक राजस्थान का उत्थान

(एक संस्मरणात्मक इतिहास)

एक

कुछ अपनी बात

अगहन १९५२ विक्रमी यानी १८९६ ईस्वी में मेरा जन्म राजस्थान की जयपुर रियासत के नीमकाथाना गांव में हुआ था। असल में मेरा जन्म स्थान छावनी था जो नीमकेथाने का सरकारी भाग था। कोई २००० की आबादी होगी जिसमें हिन्दू, मुसल्मान, अछूत और सवर्ण सभी तरह के लोग थे। वह तौरावाटी निज़ामत अर्थात् जिले का केन्द्र था।

हमारा परिवार 'चौधरी' कहलाता था क्योंकि निज़ामत में मेरे पूर्वजों का काम लगान के मामलों में अधिकारियों और किसानों के बीच मध्यस्थता करना था। हमारा मूल स्थान कावट था जहां हम 'हवेली वाले' कहलाते थे। वहां से मेरे दादा श्री चैनसुखजी वकालत करने के लिए नीमकेथाने चले आये थे। मेरे पिता श्री मुरलीधर जी भी वकील थे। कानून उन दिनों उर्दू में था जो राजभाषा थी। वे सीकर के राव राजाजी के प्रतिनिधि थे और सीकर जयपुर रियासत की सबसे बड़ी जागीर थी, उसके नुमाइन्दे की हैसियत से पिता जी जिले के सबसे बड़े वकील माने जाते थे। वे वकालत के अलावा खेती बाड़ी और लेनदेन का काम भी करते थे। बड़े कर्मठ और आस्तिक प्राणी थे। आपत्तिकाल में उनका धीरज और आम तौर पर सन्तान के प्रति प्रेम असाधारण था। मेरी मां, छोटी बाई, बड़ी उदार, भावनाशील और मानिनी थी। घर में उनकी ज्यादा चलती थी। शायद इसका कारण उनका रूप था। उन्हें सरपंच की बेटी होने का भी गर्व था। हम आठ भाई बहिन थे, ५ भाई और ३ बहिनें। मेरा चौथा नम्बर था। मेरी बुढ़िया दादी भी थी जिन्हें हम 'मां' कहते थे। अपनी माता को हम 'भाभू' (भाभी) कह कर पुकारते थे। दादी के रहते माता को मा कहना उस जमाने में बेअदबी समझा जाता था। दादी मुझे 'बछड़े' के नाम से सम्बोधन करती थी। मैं मां से अधिक दादी से हिला हुआ था। देहात में उन दिनों छोटे बच्चे आम तौर पर नंगे रहते थे। बचपन में हमें कानों, हाथ पैरों और गले में सोने चांदी के ज़ेवर पहनाये जाते थे और विशेष अवसरों पर गोटा किनारी के कपड़े। हमें वे बहुत पसन्द थे और हम ब्याह शादी के मौकों की बाट जोहते रहते थे ताकि अच्छे अच्छे व्यंजन, आभूषण और वस्त्र मिलें।

हमारे घर में गाय, भैंस और बकरी हमेशा रखने का रिवाज था जिससे दूध, दही और घी वगैरा ताज़ा और शुद्ध मिलते रहते थे। पिताजी को ऊंट व घोड़े

की सवारी का शौक था। हमारे यहां अक्सर चार घोड़े घोड़िया होती थी, एक पिताजी के लिए और तीन हम भाइयों के लिए। एक बार मेरा घोड़ा मुझे लेकर भाग गया था, मगर खुशकिस्मती से एक खेत की मुंडेर से टकरा जाने के कारण हम दोनों गिर पड़े और पीछे से नौकर ने आकर मुझे सभाल लिया था।

नौकरों की स्थिति

नौकरों को उस समय पैसे का गुलाम न समझ कर घर का आदमी माना जाता था। मालिक उनके काम मे शरीक होता और उनकी जरूरतें खुद समझ कर अपने आप पूरी करने का ध्यान रखता था। मुझे याद है कि हमारे पशुओं का दूध नौकर निकालता था तो उनके चारे पानी का कुछ काम कचहरी से लौट कर पिता जी देख लेते थे। सुबह घर मे चक्की चलती तो नौकरानी के साथ कोई बहू बेटी या मेरी मा जरूर बैठती थी। सुबह नाश्ता नौकरो को सबसे पहले दिया जाता था, उसके बाद बच्चों को, फिर मर्दों को और अन्त मे स्त्रिया लेती थी। बहुत छुटपन में मुझे याद है एक बार मुझे बहुत भूख लगी हुई थी तो मैंने मां से नाश्ता सबसे पहले मुझे देने को कहा। इस पर उनके शब्द मुझे आज भी याद है। वे बोली, "बेटे, तेरी मा तो यहा है, इसकी तो नही है। इस लिए सबसे पहले उसे और फिर तुझे दूंगी"। एक और नौकर की बाते भी मुझे याद हैं। वह था अकबर खा सिपाही। वह दादाजी के जमाने से ही था और इसलिए हम सब उसे 'बाबा' कहते थे। वह पक्का मुसलमान था। अपढ़ तो था परन्तु पाचों वक्त की नमाज पढता था और हर साल रोजे रखता था। ईमानदार इतना था कि एक बार हमारे गांव में किसी शादी के एक बराती का डोरा (सोने का हार) गुम हो गया और वह अकबर खा को मिल गया। उसने फ़ौरन पिताजी को लाकर दे दिया और डोरे का मालिक उसे पाकर अकबर खा को इनाम देने लगा तो उसने यह कहकर लेने से इन्कार कर दिया, "सेठजी, ईमान बेचने की चीज नही होती।" उसे केवल ६ रुपये मासिक वेतन मिलता था। उस जमाने में नौकर या नाई ब्राह्मण ही अपने मालिकों और यजमानो की बहू बेटियों को पीहर सुसराल पहुंचाया करते थे। उनका आचरण कैसा था इसका एक उदाहरण मुझे स्मरण है। एक दिन अकबर खां ने मुझसे पूछा, "बर्मारे रम्मन (बचपन मे मुझे इसी नाम से पुकारा जाता था) तेरी मां का मुंह कैसा है?" उस उम्र में इस प्रश्न का और कुछ अर्थ तो मैं क्या समझता लेकिन मुझे उसके अज्ञान पर आश्चर्य हुआ और मैं तमक कर बोला, "बाबा, तेरी आंखें फूट गई हैं जो इतने बरसों मे तूने मेरी मां का मुंह नहीं देखा?" उसके उत्तर ने मुझे लक्ष्मण जी के बचनो की स्मृति करा दी। उसने

कहा, "भाई, खुदा की कसम, मैंने तेरी मा के पैर देखे है, मुंह नही देखा।" मालिक भी नौकरों का ऐसा ही ख्याल रखते थे। वे उनके शादी गमी के अवसरों पर खुद ही उनकी जरूरत पूछ लेते थे। नौकर को कुछ नही कहना पड़ता था। वे लोग मालिक के घर मे अपना अधिकार समझते थे। पुराने नौकर हमे कभी कभी चपत भी लगा लेते थे लेकिन मजाल क्या कि मां, पिताजी या दादी कोई उन्हे कुछ भी कह सकते। उल्टे हमें ही समझाते। इस सारे वर्ताव का यह नतीजा होता था कि नौकर मालिक के लिए जान देता था जब कि आज का नौकर मालिक की जान लेता है क्योंकि आज मालिक के व्यवहार मे वह आत्मीयता नही रही, खाली शोषण रह गया है।

'छपन्या काल'

वैसे बचपन की सबसे पहली याद मुझे संवत् १९५६ वि० यानी १९०० ईस्वी के भीषण अकाल की है जिसके गीत आज भी राजस्थान के देहात मे "छपन्या काल फेर न आजे रे" की मार्मिक भाषा मे गाये जाते हैं। उस समय झुंड के झुंड गरीब और भूखे स्त्री पुरुष और बच्चे अन्न के लिए रोते बिलखते आते थे। मेरा जी बहुत दुखता था और मेरी दयालु मा उन्हे अन्न वस्त्र बांटकर सुख अनुभव करती थी।

पाठशाला में

उसके बाद मुझे पाठशाला मे बिठाया गया। यह मंदिर में होती थी। पुजारी जी हमारे गुरू थे। वे पंडित जवाहरजी के नाम से मशहूर थे। शिक्षक के नाते वे 'जोशी' जी कहलाते थे। उन दिनो फ़ीस यह थी कि बारी २ से विद्यार्थी जोशीजी के लिए 'सीधा' लाते थे। उसमे आटा, दाल, घी, मसाला और गुड़ या शक्कर इतना सामान होता कि गुरुजी का काम आराम से चल जाता था। नकद के रूप में उन्हें विद्यार्थी लोग या समाज शादी ब्याह के अवसरों पर या गणेश चतुर्थी के दिन कुछ भेंट देते थे। इस दिन विद्यार्थी भी लड़कियों की तरह हाथ पैरों में मेंहदी लगवाते और उन्हें खूब मिठाइयां वगैरा मिलती थी। जोशी जी के प्रति श्रद्धा इतनी थी कि उनकी जूठन को प्रसाद समझ कर उसे प्राप्त करने के लिए छात्रगण आपस मे झगड़ते थे। पढाई में अक्षरज्ञान, पहाड़े और गणित के ही विषय होते थे। मारपीट की परिपाटी तो सामान्य थी। वैसे हमारे जोशी जी में यह आदत नही थी। फिर भी जो लड़का पाठशाला न आता उसे 'चौपाया' करके बुलाया जाता था। वह इस तरह कि चार लड़के अनुपस्थित छात्र के हाथ पैर पकड़ कर उठा लाते थे।

बचपन मे ही धार्मिक सस्कार हमारे मन पर डाले गये थे। घर मे खास
कर स्त्रिया और कभी कभी पुरुष व्रत उपवास रखते, धार्मिक कहानिया सुनाई जाती
और मन्दिरों मे प्रायः रामायण, महाभारत और भागवत् की कथाएं होती रहती
थी जिनमे बाल, वृद्ध और युवा सभी बडी संख्या में जाते थे। रात को मन्दिरो
मे भजन कीर्तन होते थे। इनमे युवक लोग खास तौर पर भाग लेते थे। इनमे
बाजे ज्यादातर ढोलक और मंजीरे ही होते थे।

मकतब में

मेरी पढाई बिस्मिल्लाह से शुरू हुई। बीच मे श्री गणेशाय नमः का दौर
भी चला परन्तु वह शीघ्र समाप्त हो गया। कारण यह था कि उर्दू राजभाषा
होने से उसी की पढाई को अधिक महत्व प्राप्त था। मकतब या मदरसे में हमारे
शिक्षक उस्ताद साहब कहलाते थे। उनका नाम मिर्ज़ा रहीम बेग था। वे बड़े
सख्त आदमी थे। मारपीट उनका नियम था। वे लडकों को मुर्गा बना देते थे
और "*अबे मुर्गी के*" *उनका तकिया कलाम था*। उनके अक्षर बहुत सुन्दर थे और
इसलिए उनके विद्यार्थी भी सुलेख में पारंगत होते थे। वे उर्दू में इस्माईल की
रीडरें और फ़ारसी मे 'करीमा' और 'खालकबारी' पढाते थे।

ज़ोबनेर में

यह सब पाठ्यक्रम पूरा करके मैं सरकारी स्कूल मे भर्ती हुआ। कोई ८ वर्ष
की आयु होगी। हमारे हैडमास्टर मोतीलाल जी जैन थे जो जयपुर से आये थे।
हमारे पिताजी बड़े शिक्षा प्रेमी थे। सारे ज़िले मे उन्होंने अपने परिवार से नई
तालीम सबसे पहले शुरू की। इस सिलसिले मे मुझे और मेरे बड़े भाई छगनलाल
जी को उन्होंने उस छोटी उम्र मे भी जोबनेर जैसी दूर जगह भेज दिया। वहां के
ठाकुर साहब स्वर्गीय करणसिंह जी आर्यसमाजी थे और एक हाई स्कूल तथा
छात्रावास चलाते थे। मैं पढने मे तेज था। वहा एक ही वर्ष में मैंने लोअर
और अपर प्राईमरी की दोनो कक्षाएं प्रथम श्रेणी मे पास कर ली। हिन्दी तो
मैं उस समय भी इतनी शुद्ध लिख लेता था कि हमारे पंडितजी डिक्टेशन कराते
और एक भी भूल हो जाती तो मैं रो देता था। वैसे रोता तो मैं वहां रोज ही
था, क्योंकि रात को सोते समय मा की याद आती थी। जोबनेर की कुछ
स्मृतियां अब भी ताज़ा हैं। एक तो वहा आर्य समाज के संस्कार मिले। दोनों समय
मिल कर सन्ध्या करना और वेद मंत्रों का सामूहिक उच्चार बहुत अच्छा लगता था।
छात्रावास मे नियमित जीवन का अभ्यास भी हुआ। देशभक्ति और समाजसुधार
की बातें भी रोज कानों पर पड़ती थीं। लेकिन सबसे मज़ेदार चीज थी वहां

का रसोइया भागीरथ । वह प्रेमी जीव तो था ही, रसिक भी था । वैसे कभी कभी उसकी कृपा से सागभाजी के अभाव में हमें केवल पानी के साथ भी रोटी खानी पड़ती थी । हमारे मौलवी साहब का नाम लताफत अली था । उन्हें उर्दू के शेर बहुत याद थे- जिन्हें वे गुनगुनाते रहते थे । एक दिन उन्होंने सुनाया, कि भागीरथ रात को मेरे मकान के बाहर आकर आवाजें देने लगा 'अजी मोलिया साहब उथला पुथली जी, बारैं आवो' । यह सुन कर मौलवी साहब पर क्या बीती होगी यह तो वे जानें, परन्तु कक्षा में हम सब विद्यार्थी हंसी के मारे लोट पोट हो गये क्योंकि भागीरथ ने मौलवी साहब को 'लताफ़तअली' से 'उथला-पुथली' तो बना ही दिया था । 'मोलिया' (राजस्थानी भाषा मे, लंगूर) भी बना डाला था । जोबनेर मे एक जयपुर का शहरी मुसलमान विद्यार्थी भी आ गया था जिसने वहा के शुद्ध वातावरण मे गंदगी पैदा करने की कोशिश की लेकिन वह जल्दी ही बिदा कर दिया गया । हमारे एक शिक्षक भूरालालजी भी थे जो हर वक्त नमक की डली मुंह मे रखते थे। जोबनेर मे मैंने संस्कृत भी शुरू की थी ।

जयपुर में

परन्तु एक वर्ष के बाद मेरी मां को मेरा रोज़ का रोना सहन न हुआ तो उनके आग्रह पर पिताजी ने हम दोनो भाइयों को जयपुर भेज दिया । वहा हमें पुरोहितजी के कटले मे उन्ही की हवेली मे रखा गया जो पिताजी के पुश्तैनी मुवक्किल थे । वहा मैं महाराजा स्कूल के सातवें दर्जे यानी लोअर मिडल क्लास में भर्ती हुआ । मैं लेना तो चाहता था हिन्दी के साथ संस्कृत परन्तु आचार्य सूर्य नारायणजी ने मंजूर नही किया । आखिर मुझे फ़ारसी लेनी पड़ी । मौलवी हमीदुल्ला खां भी मेरे जैसे देहाती को लेने के लिए तैयार नही थे । मगर मेरे बड़े भाई उनके शागिर्द थे इसलिए उनके कहने सुनने पर राजी हो गये । वर्ष के अन्त में परीक्षा हुई तो मैं अन्य विषयों के साथ फ़ारसी और हिन्दी मे भी प्रथम आया । पण्डित जी को जब यह मालूम हुआ तो बहुत पछताये ।

दो प्रान्त की स्थिति

उस समय मेरी तरह आम विद्यार्थी किस प्रकार के समाज में, किस तरह के वातावरण में पल रहे थे इसका अनुमान राजस्थान के तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक चित्र से लग सकता है।

मौजूदा राजस्थान में जागृति का दौर बंग भंग और स्वदेशी आन्दोलन के बाद शुरू हुआ। उन्हीं दिनों छोटे से जापान ने बड़े भारी रूस को हरा कर यह साबित कर दिया कि जो एशिया वाले धर्म और नीति में संसार के अगुआ रहे हैं वे ठीक तालीम पाकर यूरोपियनों को उन्हीं के हथियारों से भी नीचा दिखा सकते हैं। हिन्दुस्तानियों को इस घटना से बड़ा हौसला हुआ। मुल्क के एक कोने से दूसरे कोने तक देश प्रेम की एक आंधी सी आ गई। राजस्थान उससे अछूता तो न रहा, मगर यह लहर साधारण जनता को न छू सकी, कुछ व्यक्तियों को ही लग कर रह गई।

उसी ज़माने में आर्य समाज का आन्दोलन भी ज़ोरों पर था। महर्षि दयानन्द ने यहां काम भी किया था और अजमेर में ही उनका देहान्त हुआ था। जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह और उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह पर स्वामी जी के जीवन और उपदेश की छाप पड़ी थी। इधर सनातन धर्म पर इस का दूसरा ही असर हुआ। दोनों ही हिन्दू धर्म की असली बुनियाद वेदों को मानते थे लेकिन बाहरी बातों के खासे हिस्से को आर्यसमाज सड़ा गला समझ कर उस पर चीर फाड़ कर रहा था तो सनातन प्रेमी उसकी सच्ची और झूंठी अच्छाइयां दिखाने में आकाश पाताल एक कर रहे थे। इस कशमकश में जहां शास्त्रार्थों और खण्डन मण्डन के जल्सों से आपसी तनातनी बढ़ती थी, वहां शिक्षा प्रचार, स्त्रियों को उठाने, कुरीतियों को दूर करने वगैरा कई तरह से समाज सुधार का काम भी हुआ। सबसे अच्छी बात तो यह हुई कि जगह जगह आर्य समाज क़ायम हुए। इनमें सार्वजनिक जीवन की नींव पड़ी, संगठन का बीज बोया गया और किसी न किसी रूप में देश-प्रेम का प्रचार होने लगा।

हिन्दू मुस्लिम सम्बन्ध

हिन्दू मुसलमानों के आपसी ताल्लुक़ात अच्छे थे। एक दूसरे के धार्मिक विश्वास और सामाजिक रीति रिवाज का भेद सहन करते थे और आपस

के सुख दुःख में भागीदार बनते थे। शादी ग़मी में तो सभी शरीक होते थे। धार्मिक अवसरों पर भी बहुत लोग सहयोग देते थे। जल्झूलनी ग्यारस के जुलूस में मुसलमान और मुहर्रम में हिन्दू बराबर उत्साह दिखाते थे। कृष्ण के कीर्तन कुछ मुसलमान और मौलूद के वाज कई हिन्दू चाव से सुनते थे। हिन्दू मेहमानों के लिए मुसलमान मेज़बान ब्राह्मणों से भोजन बनवाते थे और हिन्दुओं की भावनाओं का लिहाज़ करके गोमांस से परहेज़ रखते थे। मुसलमान रियासतों में गोवध बन्द था और कई हिन्दू राज्य अपने खर्च से ताज़िए निकलवाते थे।

राजनैतिक अवस्था

राजनैतिक हालत अच्छी नहीं थी। राजपूताने का केन्द्र अंग्रेज़ों की प्रान्तीय राजधानी होने के कारण अजमेर था। यहां रियासतों से कुछ ज्यादा आज़ादी थी। ब्रिटिश साम्राज्य की सदा यह नीति रही है कि देशी रजवाड़ों का शासन अंग्रेज़ी हुकूमत से खराब दिखाई देता रहे, ताकि जनता को स्वराज्य से अंग्रेज़ी राज ज्यादा अच्छा लगे। इस कारण अजमेर मेरवाड़ा में राजनैतिक और सांस्कृतिक तरक्की राजपूताने के दूसरे भागों से कुछ ज्यादा होना कुदरती था। रियासती हिस्से में जयपुर, जोधपुर और उदयपुर राज्य ही मुख्य माने जाते थे। बीकानेर का प्रभाव उस वक्त तक नहीं बढ़ा था। एक कारण तीनों रजवाड़ों की प्रधानता का यह भी था कि तीनों के पिछले राजाओं ने हुकूमत में कुछ सुधार किए थे। जयपुर के महाराजा रामसिंह जी, जोधपुर के जसवन्तसिंह जी और मेवाड़ के सज्जनसिंह जी ने अपने अपने राज्यों में कौंसिलें बनाईं, स्कूल कालेज खोले, न्याय के महकमों का इंतज़ाम किया और सफ़ाई तंदुरुस्ती के महकमे जारी किए थे। ग़रज़ यह कि ये तीनों रियासतें औरों से आगे बढ़ी हुई समझी जाती थीं।

जयपुर की दशा

जयपुर रियासत के एक गांव में पैदा होने से मेरे सामने वहीं की हालत ज्यादा आई। वैसे थोड़े से अदल बदल के साथ, उसे राजपूताने भर के लिए नमूना समझा जा सकता है। जिस समय का मैं ज़िक्र कर रहा हूं वह महाराजा माधोसिंह जी का ज़माना था। विधान की दृष्टि से राज्य की समूची सत्ता राजा के हाथ में थी, मगर शासन का सारा संचालन 'मुसाहिब' (प्रधान मंत्री) करता था। उसके बदलने पर बहुत सा 'अमला' बदल जाता था। जो आता अपने मित्रों, रिश्तेदारों और कृपापात्रों को भरती करता था। नाम को एक कौंसिल थी। वह एक ही साथ रियासत की सबसे बड़ी बन्दोबस्त करने वाली संस्था, सबसे ऊंची अदालत और कानून बनाने वाली सभा थी। उसमें कुछ जागीरदार, एक दो खानदानी

मुसलमान, कुछ पढे लिखे जयपुरी और कुछ अंग्रेजो के दिए हुए बाहरी हिन्दुस्तानी मेम्बर होते थे। कौंसिल क्या थी, एक भानमती का पिटारा होती थी। मुसाहिब ही उसके कर्ता धर्ता थे। शासन मे प्रजा का कोई हाथ न था। चुनी हुई पंचायतें म्यूनिसिपल्टी या धारा सभा जैसी कोई चीज न थी। ऊपर से नीचे तक सारा कारबार रियासत के तनख्वाहदार नौकर चलाते थे।

ज़िला प्रशासन

बेरू जात (देहात) में खालसे व जागीरी दो तरह के इलाके थे। खालसे में जिला मजिस्ट्रेट 'नाजिम' कहलाते थे। वे वहा के मुख्य न्यायाधीश, कलेक्टर, सबसे बड़े कर्मचारी और प्रबन्ध विभाग के अफसर होते थे। इनमे से कई कानून नही जानते थे, और राजधानी मे असर रखने के कारण ओहदे पाए हुए थे। उनकी मदद के लिए पैदल और घुड सवार फ़ौज की एक एक टुकडी, पुलिस और माल विभाग के मुलाजिम रहते थे। जिले के केन्द्र मे एक प्राइमरी स्कूल या मिडिल स्कूल, एक छोटा सा अस्पताल, एक देशी डाकखाना, एक राहदारी (चुंगी) की चौकी और एक जेलखाना होता था। सरकारी कामकाज और रहन सहन मे वे अपने मालिक की नकल करते, मालामाल होते और मौज उड़ाते थे।

पुलिस का प्रबन्ध

देहात की पुलिस 'गोराई' कहलाती थी। वह हर जिले मे एक डिप्टी सुपरडण्ट के मातहत होती थी। ये अफ़सर बहुधा कोई उजड्ड राजपूत या मुसलमान होते थे। उनकी निर्दयता उनकी मुख्य सिफारिश होती थी। सरकारी हल्को मे इसे दबंगपन कहा जाता था। ये अक्सर दौरे पर रहते थे। जहा जाते तहलका मचा देते थे। इनका आतंक इतना जबरदस्त होता था कि जहा इनका दौरा लगता, भले घरों की बहू बेटियों, बालकों और डरपोक प्रजाजनों का आज़ादी के साथ निकलना मुश्किल हो जाता था। अपराधों का पता लगाने का उनके पास एक ही तरीका था। जिन पर सन्देह होता उन्हें खुले तौर पर दरख्त से लटका कर मारना, काठ (खोड़े) मे लगा देना, धूप मे खड़ा करके सिर पर पत्थर रखवा देना या कम्बल ओढ़ा कर पिटवाना उस वक्त पुलिस के ब्रह्मास्त्र थे। इस मार से निर्दोष भी जुर्म का इकबाल कर लेते थे। हा, भरपूर भेंट पूजा कर देने से भी छुटकारा हो जाता था।

महकमा माल

लगान वसूली का यह ढंग था कि नायब कलक्टर चौधरियों और पटवारियों की सलाह से खड़ी फ़सल का कूंता (अन्दाजा) करके पैदावार की कमी बेशी के

अनुसार लगान की कम ज्यादा रकम मुकर्रर कर देते थे। वसूली के लिए कहने को तो तहसीलदार होते थे और उनके पास 'डीलो' (प्यादों) का एक दल भी रहता था। मगर वसूली का सीधा काम इजारदारी की मार्फ़त होता था। इस प्रथा के अनुसार कस्बों के महाजन एक या अधिक गांवों का लगान वसूली का इज़ारा या ठेका लेते थे। राज्य की रकम तो बंधी हुई होती थी परन्तु इजारदार अपने मेहनताने के तौर पर अधिक भी वसूल कर सकते थे। वह तहसील के प्यादों की मदद तो ले ही सकता था अपने 'शहने' भी रख सकता था। इन शहने लोगों को इजारदार गांठ से कुछ नहीं देता था, उनकी 'तलब' के 'परवाने' जारी कर देता था जिन्हें 'आसामी' चुकाते थे। तहसीलदार और उनके अमले का खास काम यही था कि इजारदारों की वसूली में दिक्कत हो तो किसानों को काठ (खोड़े) में बिठा कर या दूसरी तरह बल प्रयोग करके उनकी हड्डियां चूस ली जायं। सार यह कि माल के महकमे के मारे देहात में त्राहि-त्राहि मची रहती थी।

जागीरदारों की दशा

जागीरदारों के यहां हालात इससे भी बदतर थे। वे खुद आम तौर पर बेपढ़े, बेकार, वंश के अभिमानी और विलासी होते थे। उनके यहां हैसियत के अनुसार दास, दासियों की छोटी बड़ी टोली होती थी। इन अभागे प्राणियों में पुरुषों को स्वतन्त्रता और स्त्रियों को सतीत्व के अधिकार नहीं थे। हल्के से हल्का और बुरे से बुरा काम इनसे लिया जाता था। जागीरी प्रजा की हालत भी इन ग़ुलामों से अच्छी नहीं थी। ज्यादातर सरदारों को क़ानून से फ़ौजदारी या दीवानी के अख्तियार न होने पर भी प्रायः सभी जागीरदारों का आतंक, छलबल, प्रलोभन और उत्पीड़न रैयत को बुरी तरह दबा कर रखने में सफल होता था। वे 'लाटा बांटा' की प्रथा के अनुसार किसानों से पैदावार का चौथाई से अधिक हिस्सा तक लगान के रूप में वसूल कर लेते थे, जिसे चाहते बेदखल करते, समय असमय बेगार में जोतते और अनेक तरह की लाग बाग लेते थे। उनकी शिकार की कुटेव से जानवरों से ज्यादा किसानों का शिकार होता था। शराब पीकर भोग-विलास में पड़े रहना और प्रजा को चूसना ही ज्यादातर जागीरदारों का रोज़ाना जीवन कहा जा सकता था। सामन्तशाही के अंग होने के कारण दूसरी योग्यता न होने पर भी रियासत की हुकूमत में उनका काफ़ी हाथ रहता था। लेकिन अभी तक इन्सानियत के गुण उनमें बिल्कुल ग़ायब नहीं हुए थे।

अंग्रेजों का प्रभुत्व

अंग्रेजों का दबदबा ग़ैर मामूली था। तादात में तो एक डाक्टर, एक ऍजीनियर, एक बैंड मास्टर, एक तामीरात का अफ़सर और एक रेजिडेंट कुल मिला

कर चन्द ही गोरे थे। मगर तादाद जितनी कम थी, असर उतना ही ज्यादा था। उनकी सफेद चमडी के कारण उनमे से छोटे से छोटे को राज्य का बड़े से बडा जागीरदार व अधिकारी अपने से ऊंचा मानता था। वे खून भी कर देते थे तो रियासत की पुलिस या अदालत उनके हाथ नही लगा सकती थी। गोरे सर्जन के लिए आम जनता मे यह धारणा थी कि वह महाराज को भी पागल बना कर गद्दी से उतरवा सकता है। अजंट साहब (रेजिडेन्ट) का इशारा, बडे साहब (ए० जी० जी०) की तहरीर और लाट साहब (वॉयसराय) का खरीता महाराज के लिए गैर मामूली महत्व रखता था। हर साल रेजिडेन्ट और हर तीसरे या पाचवे वर्ष ए० जी० जी० का दौरा होता था। लगभग हर वॉयसराय अपने जमाने मे एक बार जयपुर जरूर तशरीफ़ लाते थे। इनके आने से रियासत पर कितना आर्थिक भार पड़ता था, देहाती प्रजा को रसद व बेगार की चक्की मे कैसे पिसना होता था और साम्राज्यवाद का कैसा जहरीला प्रचार होता था, यह एक दर्दनाक कहानी है। हा, इन दौरो से कभी २ प्रजा की शिकायतें भी सामने आ जाती थी, मगर इससे प्रजा को तो शायद ही कुछ राहत मिलती, अलबत्ता राजा के खिलाफ पोलिटिकल डिपार्टमेंट की गुप्त सामग्री जरूर बढ़ जाती।

नौकरियों का हाल

रियासत में नौकरिया जरूर बिकती थी। चपरासी से दीवान तक का ओहदा या तो रिश्वत से या सिफ़ारिश से मिलता था। योग्यता की कद्र शायद ही कभी होती थी। कोई परीक्षा नही ली जाती थी और न कारगुज़ारी का हिसाब रखा जाता था। नौकरी पाने के लिये जैसे रकम बन्धी हुई थी, वैसे ही नौकरी पाने के बाद ये लोग भी हर काम के लिये फ़ीस लेते थे। न्याय विभाग को ही ले तो मिसल देखने से लगाकर अनुकूल फैसला कराने तक सब कुछ रिश्वत से हो सकता था। उसमें भी, 'जो बडे सो पावें'। वेतन बहुत थोडे थे, लेकिन 'ऊपर की आमदनी' कई गुनी हो जाती थी। जहा न्याय व कानून की यह दुर्गत हो, वहा वकीलों और बैरिस्टरों का क्या गुज़र? लाचार, वकीलों को भी खाने कमाने का धन्धा करना पडता था। इस तरह ग़रीब प्रजा, खास कर देहातियो व किसानों, के खिलाफ़ सारे बुद्धिशाली और शिक्षित वर्ग का एक षडयन्त्र सा काम कर रहा था जिसे यही उधेड़ बुन रहती थी कि किस तरह इन भोले अन्नदाताओं से अपना स्वार्थ सिद्ध किया जाय। इन बेचारों से राज और राम दोनों रूठे हुए थे।

महाराजा माधोसिंह

महाराजा मे अच्छाइयों और बुराइयों का अजीब मेल था। एक तरफ़ वे धर्म से बड़े डरने वाले थे, रोज उठकर गाय और गोविन्ददेव के दर्शन करते, माला

जपते, गंगाजल के सिवाय दूसरा पानी न पीते और सैंकड़ो ब्राह्मणों और कंगालों को खिलाते थे। प्रजा के लिये उनके दिल में कोमल स्थान था। उस पर सख्ती करने के वे विरोधी थे। उनके जमाने मे कोई दमनकाण्ड नही सुना गया। दयालु इतने कि जयपुर के सेंट्रल जेल मे सुधारों के नाम पर कुछ नई पाबन्दियां लगाने के विरोध मे जब ग्यारह महीने की हड़ताल हुई तो अधिकारियो के लाख चाहने पर भी महाराजा ने कैदियो पर लाठी या गोलियां न चलाने दी। दूसरी तरफ़ वे ऐयाश इतने थे कि उनके महल मे साढ़े चार हजार स्त्रियां थी। यह बात जयपुर मे आम लोगों में भी मशहूर थी। इसकी पुष्टि बाद में एक राजमहल से भाग निकलने वाली स्त्री ने १९२३ में राजस्थान सेवा संघ को दिये गये अपने बयान में और उसी समय के आस पास 'बम्बई क्रानिकल' मे एक अमरीकी पर्यटक ने की थी। इनमे से ज्यादातर को डर या लालच दिखा कर जवानी में फांस लिया गया था। उनकी दुर्दशा बयान करना कठिन है, अन्दाजा आसानी से हो सकता है। नतीजा यह होता था कि महाराज को भोग-विलास के आगे राजकाज देखने की फ़ुर्सत ही नही मिल सकती थी। उस समय का अन्दाजा यह था कि राज्य की आमदनी के तीन बराबर भाग किए जायं तो एक हिस्सा जागीरदारो पर, दूसरा शासन पर और तीसरा अकेले महाराज पर खर्च होता था। प्रजा में राजनैतिक विचारों की इतनी कमी थी कि इन बातो पर असंतोष होने के बजाय राजा के लिए अंधी श्रद्धा थी। वह उसको ईश्वर का अंश मानती और उसकी अन्धाधुन्ध नकल करती थी। मुझे खूब याद है कि तीज, गनगौर और दशहरे के उत्सवों पर साल मे तीन बार जब महाराजा महलों के बाहर निकलते तो उनकी 'सवारी' देखने के लिए राजधानी के ही नही, दूर दूर के देहाती नर नारी राजमार्ग पर समुद्र की तरह उमड पड़ते और 'खम्मा अन्नदाता' के घोष से आकाश को गुंजा देते थे।

जीवन के अंधेरे में उजाला

खानगी जीवन मे भी राजाओं के कदमों पर चलने में प्रजाजन अपना गौरव समझते थे। आदनाई करना गृहस्थ में और वेश्या रखना सरकारी मुलाजिमत में बुरा नही समझते थे। धर्म का ढोंग भी राजा की तरह प्रजा मे फैला हुआ था। लेकिन जैसे बादलो में बिजली और रेगिस्तान में हरियाली होती है, वैसे ही इस अंधेरे मे भी कुछ उजाले की जगह थी। राजधानी में ही सही, थोडा सा सांस्कृतिक वायु मंडल था, शिक्षण संस्थाएं थी, कला की कद्र थी, अजायबघर था, ज्योतिष यंत्रालय था और 'गुनीजन खाने' मे गाने बजाने वालो को आश्रय मिलता था। विलास की सामग्री बहुत थी, मगर सारी स्वदेशी। विदेशी चीजों का

थीः न तो राजा को था, न प्रजा को। जागीरदारों में कहीं कहीं और राजकर्मचारियों में हर जगह कोई न कोई न्यायप्रेमी और सदाचारी पुरुष मिल जाते थे। प्रजाजनों में भी इक्के-दुक्के स्वाभिमानी, परोपकारी और दबंग आदमी पाए जाते थे। जगह जगह साधु सन्त चुपचाप अपने ढंग से जनता में अध्यात्म, सदाचार और ईश्वर परायणता का प्रचार कर रहे थे। शासन में मानवता का अंश बाकी था, अभी जालिम से जालिम कर्मचारी और पामर से पामर प्रजाजनों के अन्तर का देवी भाग जगाया जा सकता था।

सार्वजनिक जीवन

सार्वजनिक जीवन नहीं था। राजनैतिक संस्थाएं और सभाएं नाम को न थीं। अखबार तो निकलते ही क्या ? आर्यसमाज जरूर था। उसके साप्ताहिक जलसे भी होते थे और कभी कभी बाहर के उपदेशकों के व्याख्यान भी होते थे। थोड़ी हल चल जैन साधुओं के भाषणों से भी समय समय पर हो जाया करती थी। मगर प्रजा के अधिकारों और कर्तव्यों, राज्य के शासन-सुधारों और देश की राजनीति से जहां तक संबंध है, वहां तक मामला कोरमकोर था। सन् १९०५ से १९१० के बीच के छः साल में सिर्फ पांच अवसर मुझे याद पड़ते हैं जब देश भक्ति का नाम सुना हो या सार्वजनिक जीवन के दर्शन हुए हों। पहली घटना १९०६ का है जब मैंने तंवरावाटी के नाज़िम पु० हरिनारायणजी के यहां फ़तहपुर के सेठ रामदयालजी नेवटिया के 'देशोपकारक' मासिक का एक अंक देखा। उसमें पहले ही पन्ने पर स्व० पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की एक कविता थी जिसमें रूस पर जापान की विजय का बखान करते हुए एशियावासियों, खास कर हिन्दुस्तानियों, से जागने की अपील की गई थी। दूसरा वाक्या १९०८ का है। उस समय मेरी उम्र १२ वर्ष की होगी और लोअर मिडिल में पढ़ता था। नेसफ़ील्ड की तीसरी रीडर में वाल्टर स्काट की 'लव आफ़ दी कंट्री' नामक कविता का पाठ था। उसे मास्टर रामकुमारजी घीया ने अपना सारा हृदय उंडेल कर पढ़ाया था। तीसरा मौका पं० श्रवणलाल नामक सनातनी प्रचारक के व्याख्यान का था जिसमें वक्ता ने प्राचीन भारत की सतियों की आलौकिक शक्ति का चित्र खींचा था। चौथा मौका श्री रामनाथ रत्नू नामक चारण सज्जन की विलायत यात्रा का देशभक्ति से भरा हुआ हाल पढ़ना था। पांचवी घटना यह थी कि जयपुर के आर्यसमाज में एक सज्जन ने देश प्रेम पर जोरदार भाषण दिया था। इनके अलावा यह भी सुना था कि राजधानी में बड़े राज कर्मचारियों के दो दलों में जो 'सज्जन पार्टी' थी उसकी मर्यादित अक्सर नीति, सदाचार व संस्कृति संबंधी विषय. की चर्चा किया करती है। लेकिन सन् १९१२ तक जिस चीज का मुझे पता नहीं लगा, और सार्वजनिक

जीवन के खयाल से जयपुर की ही नहीं, प्रांत भर में सबसे महत्व की चीज थी, वह थी पण्डित अर्जुनलाल जी सेठी की हस्ती और चुपचाप काम करने वाली उनकी मंडली। मगर इसका हाल तो दूसरे ही किसी परिच्छेद मे आवेगा।

गरज यह की रियासतों में देहाती प्रजा अज्ञान, गरीबी और ज़ुल्म से पीड़ित थी तो शहरी जनता आलस्य, विलास और नौकरी के गढे में फंसी हुई थी। राजनैतिक जीवन का कहीं निशान न था। ऐसी दशा मे देश सेवा का पौदा क्या तो उगे और क्या बढ़े ? मेरी तरह हजारों नौजवान ऐसे थे जिन्हें आज़ादी और देश प्रेम की प्राणवायु मुश्किल से छू पाती थी, जिनके दिलो दिमाग की कलियां बिन खिले ही मुरझा जाती थी।

अजमेर मेरवाड़ा

उस समय राजस्थान मे राजनीति नाम को भी कही थी तो वह अजमेर में थी। वहां कांग्रेस का नरमदली संगठन था। राय साहब विश्वम्भरनाथजी टण्डन, श्री प्रभुदयालजी भार्गव वकील और बेरिस्टर गौरीशंकरजी इसके मुखिया थे।

चीफ कमिश्नर ही सर्वेसर्वा

शासन में एक अंग्रेज चीफ़ कमिश्नर यहां का राजा था। उसके हाथ में एकतंत्री शासन के करीब करीब सारे अधिकार थे। उसकी मनमानी को रोकने वाली न कोई कौंसिल थी, न धारासभा। वही राजपूताने के लिए गवर्नर जनरल का एजेंट भी था। उसके मातहत एक कमिश्नर था जो एक साथ जज, कलक्टर, शिक्षा का डाइरेक्टर, जेलों का अफ़सर और सभी विभागों का विधाता था। उसकी मदद के लिए असिस्टेंट कमिश्नर और पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट भी यूरोपियन ही होते थे। पुलिस मारपीट से काम लेती थी और माल, पुलिस और इन्साफ़ वगैरा सब महकमों में रिश्वत का बाज़ार गर्म था। न्याय और प्रबन्ध विभाग एक था और कोई हाई कोर्ट न था। इसलिए लोगों को खालिस इन्साफ़ नहीं मिलता था। ज़िले का एक बड़ा भाग इस्तमुरारदारों के मातहत था। स्वयंभू दरबारों की यह जमात बाप दादों से मिले हुए अधिकार और सहूलियतें भोगती थी और ब्रिटिश सरकार की सीधी देखरेख में लाग, बाग, बेगार और मनमाना लगान वसूल करती थी, बेदखलियां करती थी और प्रजा को सताने और चूसने की सभी लीलाएं करती थी, दास दासियां रखती और लोगों को गैर क़ानूनी सजाएं देती थी। खालसे में लगान जरूर हल्का था, मगर बेगार अंग्रेज भी लेते थे। जब वायसराय की रेल इधर से गुज़रती तो उसकी रक्षा के लिये रियासतों की तरह इस अंग्रेज़ी इलाक़े मे भी देहाती बेगार मे पकड लिये जाते और रात हो या दिन, जाड़ा हो या गर्मी, धूप हो या वर्षा,

तार के खम्भों के पास पहरा देने को खड़े कर दिये जाते थे। म्यूनिसिपल्टियां और जिला बोर्ड में सरकारी और नामजद आदमियों की ही भरमार थी। उनमें लोकमत्ता नाम को ही थी।

अंग्रेजों की रिश्वतखोरी

अजमेर में रेल्वे का केन्द्र और बड़ा कारखाना होने से लोगों को रोजगार जरूर मिलता था, मगर उसमें भी अंग्रेजों और एंग्लोइंडियनों का ही बोलबाला था। वे रिश्वत भी खूब खाते थे। रेल्वे के माल की चोरी करने का कर्मचारियों में आम रिवाज था।

पुष्कर में हिन्दुओं का तीर्थ और अजमेर में ख्वाजा साहब की दरगाह होने के कारण धार्मिक श्रद्धा के साथ अन्ध विश्वास, भिखमंगापन और दूसरी खराबियां फैली हुई थीं। खादिमों व पण्डों के दो निठल्ले वर्ग समाज पर भार बने हुए थे।

मेयो कालेज हमारे राजाओं और उमरावों के लड़कों को अंग्रेजी सभ्यता के सांचे में ढाल रहा था, उन्हें विदेशी शासकों की गुलामी, अपनी प्रजा की उपेक्षा, आचारहीन जीवन, राष्ट्रीयता के विरोध और ऐश आरामकी जिन्दगी बिताने की शिक्षा दी जा रही थी। स्वतन्त्र विचारों और अच्छे प्रभावों की वहां पहुंच नहीं होने दी जाती थी। हमारे राजाओं की ज्यादातर बुराइयों की जड़ यही तालीम थी।

सामाजिक स्थिति

समाज में कुरीतियां खूब फैली हुई थीं। गरीब राजपूतों में कन्यावध होता था। ब्राह्मणों और वैश्यों में और उसमें भी ज्यादा छोटी और अछूत समझी जाने वाली जातियों में बच्चों की शादी का रिवाज खूब था। ऊंचे कहलाने वाले वर्गों में विधवा विवाह की मनाई थी। वृद्धों के विवाह और लड़कियों के बेचने के रिवाज बढ़ते जा रहे थे। शादी, गमी और दूसरे सामाजिक रस्मो-रिवाज पर झूंठी बड़ाई की खातिर बूते से अधिक खर्च होता था। कर्जदारी फैलती जा रही थी। खानपान, रहन सहन और स्वास्थ्य की तरफ़ से सरकार और प्रजा दोनों उदासीन थे और रोग बढ़ते जा रहे थे। राजवर्गी लोगों में पर्दे की प्रथा थी। उनकी देखा-देखी गैर सरकारी जमातें भी झूंठी प्रतिष्ठा के लोभ में यह कुप्रथा अपना रही थीं। छूआ-छूत का जोर था। विलायत यात्रा की बिरादरी में मनाई थी। आम लोगों में लड़कियों को पढ़ाने का शौक पैदा नहीं हुआ था।

पुरानी देहाती सभ्यता

लेकिन जनता के सामाजिक जीवन पर पुरानी देहाती सभ्यता की छाप बहुत कुछ बाकी थी। जातपात का भेदभाव कुछ बातों में सख्त होते हुए भी इन्सा

की बराबरी, आपस के भाईचारे और सहयोग की भावना बनी हुई थी। गांव भर की भलाई के मामलों में ऊंच-नीच सभी की सलाह ली जाती थी। ब्याह और मौसर में सभी कामकाज और रुपये पैसे से एक दूसरे की मदद करते थे। सेठजी की बहुएं मेहतरानी को भी काकीजी या ताईजी के नाम से पुकारती थी। एक के घर जंवाई आता तो सभी खुशी मनाते थे। घर में कहीं से सौगात आती या विशेष भोजन बनता तो पड़ौसियों में बांटकर न खाना बुरा समझा जाता था। किसी के घर गाय भैंस दूध देती तो जिनके यहां पशु न हों या सूख गये हों वे निःसंकोच छाछ ले जाते थे। मौत होने पर दाह क्रिया के लिए लकड़िया तक श्मशान यात्रा में जाने वाले अपने घर से कन्धों पर रख कर ले जाते थे। गाँव में बहुत से मेहमान इकट्ठे आ गये तो दो दो चार चार अतिथि हर एक बांट लेता था। किसी के घर बीमारी आती तो दूसरे सभी घरों से हाल चाल पूछने कोई न कोई जरूर आता था। अनाथ या विधवा के हल को चलाने और फ़सल काटने में सभी हाथ बंटाते। घर की मालकिनें नौकरों को खिलाती थी उनकी हैसियत के माफ़िक ही, मगर खिलाती सबसे पहले थी। धुरिये बोहरे-आसामी साहूकार का संबंध शोषण का होने पर भी आपस में कम से कम कष्ट देने का लिहाज रखा जाता था। मुकदमेबाजी का आश्रय लेकर बिगाड़ने के बजाय एक दूसरे को बनाने की अधिक कोशिश की जाती थी। दान पुण्य, नियम व्रत, कथा वार्ता और तीर्थ यात्रा की रुचि कायम थी और आरती के समय मंदिरों में खासी भीड़ होती थी। बड़े छोटे का लिहाज था और सम्मिलित परिवार की संस्था ढीली होने पर भी खड़ी थी। लेकिन इस शुद्ध और प्रेम से भरे वातावरण में बाहर से आने वाले भांति भांति के राजकर्मचारियों द्वारा दुराचरण, फूट और स्वार्थ के बीज बोये जाने शुरू हो गये थे।

धनवान अपने-अपने नाम के लिये कलकत्ते बम्बई से लाया हुआ पैसा एक तरफ धर्मशालाओं, कुए-बावड़ियों और पाठशालाओं पर खर्च करते थे और दूसरी तरफ़ आलीशान हवेलियां खड़ी करने, शादी और गमी में फ़िजूल खर्च करने या मुकदमे बाजी करके दूसरों पर रुआब जमाने में लगाते थे। कुछ लोगों का ध्यान स्कूलों, पुस्तकालयों और अस्तपताल वग़ैरा की तरफ़ भी जाने लगा था।

जनता की भाषा राजस्थानी और राजभाषा जयपुर में उर्दू और कई राज्यों में भी लिपि नागरी और जबान उर्दू थी। अंग्रेजी का प्रचार बढ़ रहा था।

विद्यार्थी काल

शिक्षण संस्थाओं का यह हाल था कि हमारा महाराजा हाई स्कूल रियासत भर में प्रमुख होने पर भी उसमें ही क्या, 'हमारे' कालेज तक में कोई अच्छा

वाचनालय या वाद विवाद समिति न थी और न कोई अध्यापक या बाहर के मेहमान सार्वजनिक विषयों पर व्याख्यान देते थे । मेरी गिनती होशियार विद्यार्थियों में थी, मगर मैट्रिक पास कर लेने तक मैंने किसी अखबार की सूरत नही देखी थी । 'नेकी बदी' जैसे निर्दोष नाटक खेलने के लिये प्रिंसिपल साहब को ठेठ कोंसिल की मंजूरी लेने की जरूरत पड़ी और वह भी न मिली।

मैं अपने सारे विद्यार्थी काल में अर्थात् प्राइमरी से इण्टरमीजिएट तक छात्रवृत्ति पाता रहा और अपनी श्रेणी में पहला या दूसरा नम्बर लेता रहा । स्कूल के दिनों की यानी १६०८ से १६१२ के बीच की कुछ घटनाएं भी उस समय के विद्यार्थी जीवन पर अच्छी रोशनी डालती हैं । सातवें दर्ज मे हमारे एक बंगाली शिक्षक थे बाबू कालीपदो बनर्जी । वे थे तो सहृदय परन्तु कभी-कभी मस्ती भी बहुत करते थे । एक बार एक बहुत ही ग़रीब लड़के रामनाथ पर उन्होंने जुर्माना कर दिया तो साथियो ने बाजार से कौडिया इकट्ठी करके उनकी मेज पर ढेर लगा दिया और उनकी कुर्सी उल्टी करके रख दी । मेरे जैसे देहाती के लिये इस तरह की शरारत का यह पहला अनुभव था । उधर हमारे अंग्रेजी के शिक्षक श्री रामकुमार धीया बुढापे में भी जवानों का सा बाकपन रखते थे, उनकी राजपूती डाढी और सफेद बुर्राक कपड़े उनकी विशेषताएं थीं । वे रोज मीलों पैदल चलते और विद्यार्थियो की सहायता के लिये अपना घर सदा खुला रखते थे । एक तीसरे अध्यापक श्री राधामोहन जी बड़े विनोदी जीव थे । वे इतिहास पढाते थे और बीच-बीच में खाने मे चटनी की तरह मजेदार चुटकले सुनाया करते । एक दिन कॉलेज के कुछ लड़के हमारे मैट्रिक वाले कमरे से गुजर रहे थे । उनमे से एक ठोकर खाकर गिर पड़ा । जब वह चला गया तो राधामोहनजी ने मुगल दरबार का किस्सा सुना दिया । उन्होंने बताया कि बादशाह के दरबार में जब राजा लोग जाते थे और उनमें से कोई छोटे कर्मचारियों को इनाम इकराम न देता तो वे उस राजा की गर्दन पकड़ कर झुकाते थे और कहते थे "और झुको अदब का मुकाम है" !

संगीत में रुचि

जब मैं आठवीं श्रेणी मे पहुंचा तो प्रसिद्ध गायनाचार्य श्री विष्णु दिगम्बर पलुस्कर जयपुर आये थे। उन्होंने हमारे स्कूल व कॉलेज के छात्रों के सामने धार्मिक संगीत का प्रदर्शन भी किया और उस पर प्रवचन भी दिया । मुझे खूब याद है कि हमने उनके तुलसीदास का प्रसिद्ध भजन 'जब जानकीनाथ सहाय करें तब कौन बिगाड़ करे नर तेरो' सुना तो हम सब गद्गद् हो उठे थे और महीनों

तक उसे गुनगुनाते रहते। गाना बजाना तो मैंने पहले भी सुना था, थोड़ा सा अभ्यस्त भी किया था परन्तु वह सब शादी ब्याह और जलसों में वेश्याओं और उसी तरह के गवैयो से सुना और सीखा था। पलुस्करजी के आगमन से धार्मिक और राष्ट्रीय संगीत की ओर जो रुचि हुई वह आज तक बनी हुई है। मैट्रिक के दो वर्षों में सन्तवाणी के परिचय से भक्ति मार्ग की ओर काफ़ी आर्कषण रहा और भजन कीर्तन आदि में काफ़ी समय लगता रहा। इसमें हमारे दो शिक्षक, श्री सूर्यनारायण तोपनीवाल और श्री गंगाबख्श अग्रवाल, काफ़ी प्रेरक रहे। मैट्रिक पास करते ही मुझे स्वामी रामतीर्थ और विवेकानन्द के सम्पूर्ण ग्रन्थ पढ़ जाने का अवसर मिल गया। इनसे वह खराब असर भी दूर हो गया जो रैनल्ड्स के 'मिस्ट्रीज़ आफ़ दी कोर्ट आफ़ लन्दन' पढ़ने से हुआ था। यह उपन्यास अंग्रेज़ी भाषा का ज्ञान बढ़ाने के लिये मैंने एक गुमराह साथी की प्रेरणा से पढ़े थे। इस अवधि मे मुझे अंग्रेज़ी, हिन्दी और उर्दू व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध लिखना आ गया था। अपनी अंग्रेज़ी पर मुझे इतना अभिमान हो गया था कि इन्टरमीजिएट की परीक्षा में मैंने तीन पर्चों में से एक निबन्ध का ही किया था और उसमें मुझे ५० में से ४५ नम्बर मिले थे और उस समय चूंकि ३० फ़ी सदी नम्बर पास होने के लिये काफी होते थे इसलिये मैं पास भी हो गया था। इसमें विचित्रता यह हुई कि निबन्ध का विषय था 'प्रचलित शिक्षा प्रणाली'। उस समय तक मैं क्रांतिकारी दल में शरीक हो गया था और ब्रिटिश सरकार की शिक्षा नीति के विषय मे लाला हरदयाल और दूसरे क्रांतिकारियों के विचार पढ़ चुका था। इसलिये मैंने प्रचलित प्रणाली पर अपने लेखमें कस कर वार किये थे। मुझे तो फ़ेल ही होने की आशा थी लेकिन बाद में मालूम हुआ कि हमारे परीक्षक ओडोनल नामक कोई आयरिश सज्जन थे, उन्होने मेरे विचारों से प्रसन्न होकर कुछ पक्षपात भी किया हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

विवाह

इसी काल में जीवन की एक बहुत बड़ी घटना यह हुई कि १९१२ की बसन्त पंचमी को अंजना देवी के साथ मेरा विवाह हुआ। उस समय मैंने १६ वें वर्ष में प्रवेश किया था। हमारी हैसियत के घरानों मे इसे बड़ी उम्र माना गया था। विवाह पुराने ढंग से ठाठ बाट के साथ हुआ। कुरीतियों और फ़िज़ूलखर्चियों का बोलबाला था। जिस लड़की से मेरी शादी हुई उसे सगाई के बाद उसके पीहर और मेरे ननसाल श्रीमाधोपुर में मैंने जीमनवार (भोज) में संयोगवश देख लिया था। दीखने में अच्छी थी। लड़कियों को पढ़ाने लिखाने का तो उस समय रिवाज ही नही था। विवाह के अवसर पर हम दो तीन दिन साथ रहे। इसका नशा महीनों तक रहा। पढ़ने लिखने में किसका मन लगता ?

अन्धी बुढ़िया से प्रेरणा

खेल जरूर अच्छे लगते थे। फुटबॉल का मुझे शौक था। कुछ दिन क्रिकेट भी खेला था लेकिन समय की बर्बादी बहुत देख कर छोड़ दिया। टेनिस को उस जमाने में जनाना खेल समझा जाता था। फुटबाल के लिये रामनिवास बाग में मैदान थे और हमारी यूनियन फुटबाल क्लब भारत में मशहूर थी। उन दिनों की एक घटना ने परोपकार में, दुःखियों की सेवा में आनन्द महसूस करने की मुझे पहली शिक्षा दी। शायद वहीं से मेरे जीवन में यह मोड़ आया जो कभी टूटा नहीं। बात यह हुई कि मैं खेलकर शाम को घर लौट रहा था कि बाग के फाटक के बाहर एक अन्धी बुढ़िया पुकार रही थी, "अरे कोई मुझे घर पहुंचा दो"। मुझे भूख और थकान तो बहुत थी परन्तु मुझसे रहा न गया। मैंने उसकी बेंत की पकड़ी और आगे-आगे हो लिया। मन ही मन पछतावा भी हो रहा था कि कहां झंझट मोल ले ली क्योंकि उसका घर भी कोई डेढ़ मील दूर निकला। मगर जब उसने अपनी देहली पर पैर रखा और मेरे सिर पर हाथ धर कर कहा, "बेटे तेरी मां धन्य है जिसने ऐसा पूत जाया। तेरी हजारी उमर होवे। भगवान तुझे बड़ा नाम और जस देगा," तब मेरे हृदय में एक अनोखी उथल-पुथल मच गई। मैं सारी परेशानी और थकावट भूल गया और रास्ते भर भलाई करने के सुख का रसास्वादन करता रहा। उस बुढ़िया की याद मुझे ४४ वर्ष के बाद ताजा हुई जब मैंने 'बापू' नामक अपनी पुस्तक लिखी। समर्पण करने के लिये मुझे किसी उपयुक्त नाम की तलाश हुई। दो नाम सामने आये एक गांधीजी का और दूसरा अंजना देवी का। परन्तु गांधीजी पर तो पुस्तक ही थी और अंजना देवी के कुछ संस्मरण उसमें थे। अचानक उस प्रज्ञाचक्षु माई का स्मरण हुआ और पुस्तक उसको समर्पित करके मैंने परम सन्तोष अनुभव किया।

मास्टर कालीचरण जी

इन्हीं वर्षों में, मास्टर कालीचरणजी से सम्पर्क हुआ। वे एक साधारण शिक्षक थे और प्राइवेट टयूशन से गुजारा करते थे परन्तु बड़े निष्ठावान आर्यसमाजी थे। उनके भरे हुए जोश से मैंने कई मूर्तियां तोड डाली। उनके सत्संग से जयपुर जैसे बिगड़े शहर में कुसंग दोष से काफी रक्षा हुई और देश-प्रेम तथा सेवाभाव की जड जमी। वे हिन्दी से अंग्रेजी अनुवाद करना बड़े सरल और सरस ढंग से सिखाते थे। वे उन थोड़े से व्यक्तियों में थे जिन्होंने मेरे जीवन पथ का निर्माण करने में खास असर डाला है। वैसे उस समय रियासती वायु मण्डल कितना दूषित था इसका अन्दाज इसी बात से लग सकता है कि हमारे कॉलेज

के प्रिंसिपल एक वेश्या रखते थे और उनके विलास भवन पर जो हमारे पड़ौस में ही था रोज नाचगान होता था।

सेठीजी के प्रथम दर्शन

अब जीवन का एक और दौर शुरु हुआ। सन् १६१२ की बात है। मैंने सोल्हवें साल के साथ ही इण्टर क्लास मे कदम रखा। गर्मी की छुट्टियों में कलकत्ते का 'टेलीग्राफ़' नामक अंग्रेजी साप्ताहिक देखा। मेरे लिये अखबार के ये पहले दर्शन थे। शुरू मे तो मेरी दिलचस्पी अंग्रेजी भाषा की योग्यता बढ़ाने मे ज्यादा थी, मगर बाद में समाचार पत्रों का चस्का सदा के लिये लग गया। फिर भी देश प्रेम की दीक्षा नही मिली। वह मिली १६१३ के जुलाई मास में। मुझे अपने छोटे भाई युगलकिशोर को स्कूल में भर्ती करवाना था। महाराजा हाईस्कूल में जगह नही थी। पं० अर्जुनलाल सेठी का नाम सुनकर उन्हीं की जैन वर्द्धमान पाठशाला मे भाई को लेकर पहुंचा। एक पुराने ढंग के नोहरे मे सेठीजी से पहली मंजिल के झरोखे पर मुलाकात हुई।

पहली ही भेट का खूब असर पड़ा। हमारे स्कूल व कालिज में पोशाक तो सभी अध्यापको और अधिकांश विद्यार्थियों की देशी ही थी, मगर शौकीनी मे बहुतेरे एक दूसरे से होड लगाते थे। यहा आचार्य महोदय एक मोटे झोटे कुर्ते मे बैठे थे। प्रकाश नामक एक जौहरी का पांच छः साल का लड़का वही लकडी के खिलौनों से मकान बना रहा था और 'स्वदेशी का बजे डंका,' 'स्वदेशी का बजे डंका' गुनगुना रहा था। सेठीजी ने हम दोनों भाइयों को देखा और बालक से पूछा, "बेटे, क्या बना रहे हो?" फ़ौरन जवाब मिला, "अंग्रेजों को निकालने के लिये किला।" सेठीजी की तेज आंखो ने बालक के शब्दों का असर मेरे चेहरे पर देखा और कहा, "आप चाहें तो भाई को मेरे पास छोड़ जाइये। यह पाठशाला में पढ़ेगा और छात्रालय में रहेगा। खर्च की चिन्ता मै ही कर लूंगा"। मेरे लिये यह चुपड़ी और दो दो वाली बात थी। मैं उत्तर भी न देने पाया था कि पाठशाला की घण्टी बजी। हम दोनों भाई भी उनके साथ चौक में जा खड़े हुए। प्रार्थना क्या थी, पराधीन भारत के हृदय की पीड़ा, स्वतंत्रता देवी के अवगाहन और कर्मण्यता की पुकार का सजीव गान था। ऊपर आकर बैठे तो सेठीजी ने पूछा, "रामनारायण, पढ़ लिख कर क्या करोगे?" "नौकरी करूंगा," मैंने उत्तर दिया, क्योंकि उस समय और तो कोई लक्ष्य था ही नहीं। इस पर सेठीजी ने माधव शुक्ल की ये चार पंक्तियां सुनाई:

तुम नौकरी इस राक्षसी के फन्द में ऐसे फसे।
निज शक्ति मन मस्तिष्क बल युत जा रहे नीचे धंसे॥

हा, स्वैरिणी के हाथ तुमने रत्न जीवन दे दिया !
वह भूमि रोती रह गई जिसने तुम्हें पैदा किया ॥

मैं गद्-गद् हो गया। उस समय का नौजवान उच्च ज्ञान और उदात्त भावनाओं का भूखा था। उसे ऐसी कोई नई चीज़ मिल जाती तो उसे तुरन्त पचा लेने को उत्सुक रहता था। आजके युवक की तरह उसे न तो इस सामग्री की प्रचुर उपलब्धि से अपच की बीमारी थी और न वह स्वार्थ के सपनों मे ही डूबा रहता था। मैंने सेठीजी से पूछा: "तो पंडितजी, मेरे लिये क्या आज्ञा है ?" वे बोले: "मेरी मानो तो, बेटे, आजीवन देश सेवा ही करना। नहीं तो कम से कम अंग्रेज को निकालने तक तो यही काम करना।" मन ने उसी घड़ी ठान लिया कि जीवन भारत माता की गुलामी की बेड़िया तोड़ने मे ही कुर्बान होगा। ५४ वर्ष के इस लम्बे अर्स मे बहुत से उतार चढ़ाव आये, मगर उस दिन के निश्चय में कोई फ़र्क नही पड़ा। इतना प्रबल था वह मंत्र !

दो शिक्षा प्रणालियों का अन्तर

युगलकिशोर सेठीजी की छत्रछाया मे रहने लगा। मैंने देखा कितना जबरदस्त अन्तर है सरकारी तालीम और राष्ट्रीय शिक्षा में। एक महाराजा कॉलेज था जहां देशभक्ति की गंध भी छू न पाती थी, नैतिक वातावरण गंदा था, नौकरी ही वहां के पढ़ाने और पढ़ने वालो का एकमात्र ध्येय था, प्रिंसिपल से लगाकर पहले वर्ग के शिक्षक तक छड़ी, जुर्माना और डाट फटकार से काम लेते थे। दूसरी ओर सेठीजी का विद्यालय था जहा छोटे-छोटे बच्चों को 'आप' कह कर पुकारा जाता था, प्रेम, स्वातंत्र्य और कौशल ही अध्यापकों के अस्त्र थे, किंडरगार्टन ढंग से पढ़ाई होती थी, राष्ट्रीयता की सुगन्ध वहां के सारे वायुमण्डल मे समाई हुई थी और समाज और देश की सेवा ही विद्यार्थी के जीवन का मकसद बनाया जाता था। शिक्षक खुद आचरण से त्याग का पाठ पढ़ाते थे। मुझे याद है सीनियर इण्टर मे जब प्रोफ़ेसर ने एक बार देश-प्रेम पर बहस करने की सूचना दी थी तो प्रिंसिपल साहब को उसमें राजनीति की बु आई और वह विषय नहीं रखने दिया गया। जैन वर्द्धमान पाठशाला में ऐसी चर्चाएं रोज होती थी। एक समय तो राज्य की भीरुता यहां तक बढ़ी कि हार्डिंग बम काण्ड के बाद बम बनाने के डर से कॉलेज में कई साल तक साइंस की पढ़ाई बन्द रखी गई।

तीन विप्लववादी दल में

हमारी मण्डली मे श्री श्रीकृष्णकान्तजी मालवीय की 'मर्यादा' और श्री गणेशशंकरजी विद्यार्थी की 'प्रभा' मासिक पत्रिकाएं आती। वे एक ओर भारतीय क्रांतिकारियों के जीवन और कारनामे प्रकट कर रही थी और दूसरी तरफ़ गांधीजी के सत्याग्रह आन्दोलन की गतिविधि का उत्साहवर्धक स्वरूप उपस्थित कर रही थी। मुझ पर उस आन्दोलन का पहला असर गोरों के प्रति घृणा की वृद्धि का हुआ और दूसरा यह हुआ था कि हमारा एक देशवासी ऐसा तो निकला जो ब्रिटिश साम्राज्य मे होने वाले अत्याचारों के विरुद्ध खुले तौर पर सामूहिक विद्रोह कर और करा रहा है। मेरे युवक हृदय मे एक हल्की सी आशा बंधी कि किसी दिन यह आदमी भारत में आकर भी अपने जौहर दिखायेगा। उन दिनों हिन्दी संसार मे बापू कर्मवीर गांधी के नाम से मशहूर थे। महात्मा की पदवी उन्हे बाद मे मिली।

इधर तो यह हाल था कि जब फ़ुर्सत मिलती, सेठीजी का ख़याल आता और मैं रोज़ उनके यहां जाने लगा। उधर उन्होंने भी गुलाबचन्द सोगानी नाम के एक युवक को मुझसे संसर्ग बढ़ाने के लिये मुकर्रर कर दिया। उन्ही दिनों स्व० छोटेलाल जैन हार्डिंग बम केस से छूट कर दिल्ली से जयपुर लौट आये थे। वे मेरे सहपाठी थे। उनसे घनिष्टता होने मे देर न लगी। ये दोनो मुझे बाग मे ले जाते, क्रांतिकारियों के किस्से सुनाते, सेठीजी के कार्य का हाल बताते और जोशीली पुस्तकें पढ़ने को देते।

प्रधानमंत्री पद ठुकराया

सेठीजी के जीवन के हालचाल ने मुझ पर काफ़ी असर किया। वे जयपुर कॉलेज के तेजस्वी ग्रेजुएट थे। अंग्रेज़ी के अलावा हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, फ़ारसी और पाली भाषा के पण्डित थे। जैन धर्म के गहरे विद्वान्, तेज़ सुधारक और जैन समाज की नई पीढ़ी के नेता थे। उस हैसियत से उनकी धाक भारत भर मे थी। वे प्रभावशाली वक्ता थे। देशियों में उस समय जयपुर में बिरले ही सेठीजी के सानी थे। वे चाहते तो राज्य के ऊंचे से ऊंचे पद पर पहुंच सकते थे। जयपुर के प्रधानमन्त्री का ओहदा उन्हे पेश भी किया गया था, मगर उन्होंने महाराजा को धन्यवाद देते हुए कह दिया: "श्रीमान्, अर्जुनलाल नौकरी करेगा

को कौन निकालेगा ?" ये तो भारत माता की सेवा का व्रत ले चुके थे। उसी वक्त
को पूरा करने में उन्होंने अपनी उम्र का सबसे अच्छा और बहुत बड़ा भाग पूरा
किया। सेठीजी के संसर्ग में मुझे पहले गीता, स्वामी रामतीर्थ के व्याख्यान,
सावरकर की 'वार आफ इंडियन इंडिपेन्डेन्स', अरविन्द का 'कर्मयोगी' व 'युगान्तर',
देउस्कर की 'देश की बात', डिग्बी की 'प्रोस्परस इंडिया' और बंकिम बाबू का
"आनन्द मठ" वगैरा पुस्तकें पढ़ने को मिलीं। इस साहित्य ने अध्यात्म, इतिहास
और राष्ट्रीयता का ज्ञान कराने के साथ-साथ अंग्रेज़ी राज्य के अन्याय और उसे
उखाड़ फेंकने के संकल्प को मेरे मानस पटल पर अमिट रूप से अंकित कर दिया।

जयपुर की मंडली

जयपुर में मैं जिस मकान में रहता था वहां चार पांच विद्यार्थी और भी
रहते थे। ज्यादातर उम्र में बड़े मगर पढ़ाई में मुझसे पीछे थे। मैं उन्हें पढ़ने
लिखने में सहायता दिया करता था। मैंने उन्ही में जोशीली बातों और विप्लव
साहित्य का प्रचार शुरू कर दिया और एक छोटी सी मंडली बनाली। इस बीच
में सेठजी की संस्था का विस्तार हो चला था और वे उसे मुख्य दानी की इच्छा
पर इन्दौर ले गये। उनकी ग़ैर मौजूदगी में जयपुर के क्रांतिकारी दल की
बागडोर बा० ब्रजमोहनलाल जी के हाथों में आ गई थी। ये दिल्ली के कायस्थ,
जयपुर के स्कूल आफ़ आर्टस् के वाइस प्रिंसिपल और हार्डिंग बम केस के मुखिया
मास्टर अमीरचन्द व लाला हरदयाल के मित्र थे। प्रचारक थे, लेकिन संगठन
की शक्ति बहुत नही थी। इस समय १९१४ का महायुद्ध छिड़ गया। उससे
पहले क्रांतिकारी दल की राजपूताना शाखा संगठित हो चुकी थी। सेठीजी उसके
नेता थे। कोटा के ठा० केसरीसिंह जी बारहठ, खरवा के राव गोपालसिंहजी
और ब्यावर के सेठ दामोदरदास जी राठी इस संगठन के स्तंभ थे। सेठीजी के
जिम्मे युवकों को तैयार करने और शिक्षितों में प्रचार करने का विशेष काम था।
जैन समाज उनका मुख्य कार्य क्षेत्र था। उसके साधनों से वे राष्ट्रीयता की साधना
करते थे। उन्होंने महाराष्ट्र और काश्मीर जैसे दूर दूर के प्रान्तों से चुन चुन
कर नौजवान इकट्ठे किये थे। वे कैसे जीवट के लोग थे, इसके दो दृष्टान्त मुझे
याद हैं। श्री मोतीचन्द उस युवक दल के अगुआ थे। एक बार उनका आपरेशन
हुआ। डा० दलजंगसिंह की राय में वह इतना गंभीर था कि क्लोरोफ़ार्म सुंघाये
बिना चीरा लगाने की उनकी हिम्मत न हुई। मोतीचन्द ने उफ़ तक न की।
डाक्टर दांतों तले उंगली दबा कर रह गया। आरा के महन्त की हत्या के
अभियोग में जब उन्हें फांसी लगी तो कहते हैं बलिदान की खुशी में उनका कई
पौंड वजन बढ़ा हुआ पाया गया। लेकिन असली अपराधी तो थे जयचन्द जो

आखिर तक पुलिस के हाथ न आये। उनके साथ मेरा गहरा संबंध हो गया था। उनका किस्सा विचित्र था। वे काश्मीर राज्य में पुंछ ठिकाने में किसी छुटभैया के लड़के थे। एक दूसरे युवक के साथ अनन्य मित्रता हो गई। प्लेग आया तो दोनों में कौल करार हुआ कि जो बचा रहे वह घर से निकल पड़े और उम्र भर अपने साथी के लिये तपस्या करे। जयचन्द बच गये। सीधे हरिद्वार पहुंच कर जाड़े मे गंगा में और गर्मी मे बालू रेत में तपस्या करने लगे। गाने का शौक था। एक दिन सेठीजी का वहां भाषण था। उसमे संगीत का भी कार्यक्रम था। जयचन्द कोने में बैठे सुन रहे थे। सेठीजी की पारखी दृष्टि ने उन्हे पहचान लिया कि काम का आदमी है। साथ ले आये। वह निर्भय इतने थे कि कई बार वारण्ट धारी पुलिस के बीच से निकल गये। चलने मे इतने तेज कि एक घुड़सवार पुलिस का पीछा बचाते हुए ७० मील तय करके शाम को मेरे पास पहुंच गये। दो मंजिल से कूद कर भाग जाने का उन्हे इतना पक्का विश्वास था कि हमारे प्रबल आग्रह पर भी वे धीरे बोलने या दूसरी सावधानी रखने को तैयार न होते थे।

राजस्थान का क्रान्ति-दल

बारहठ केसरी सिंहजी का कार्यक्षेत्र राजपूताने के रईसों और जागीरदारों मे था। उदयपुर, जोधपुर और बीकानेर मे उनका काफ़ी प्रभाव था। चारणा मे तो उन्होंने कई क्रांतिकारी तैयार कर दिये थे। कुछ राजा और उमराव भी सहानुभूति रखते थे। एक दो आदमियों के दिमाग में राठौर साम्राज्य स्थापित करने की कल्पनाएं भी घूमने लगी।

राव साहब खरवा का कार्य क्षेत्र छोटे जागीरदारों और भोमियों मे था। अजमेर मेरवाडा और मेवाड़ में इनकी प्रवृत्तियों का केन्द्र था। हथियार इकट्ठे करना इनका खास काम था। पथिकजी राव साहब के दाहिने हाथ थे। उस समय वे भूपसिंह के नाम से रहते थे।

सेठ दामोदरदासजी धनी थे। क्रांतिकारी आन्दोलन को रुपये की मदद देना इनका खास काम था। जन्म से वैश्य होकर भी गजब के साहसी थे। बा० श्यामजी कृष्ण वर्मा और अरविन्द बाबू को इन्होंने जोखम उठा कर अपने यहां ठहराया था। इन्होंने राजस्थान में स्वदेशी की भावना को मूर्त रूप देने के लिये ब्यावर में कपड़े का पहला कारखाना खोला और बा० चेतन गांगी जैसे देशभक्त को उसका मैनेजर बनाया।

महायुद्ध छिड़ने पर सेठीजी नजरबन्द करके पहले जयपुर जेल में रहे और बाद में मद्रास प्रान्त के वैलोर जेल में भेज दिये गये। उनके बाद

अनुयायी गिरफ़्तार या फ़रार हो गये। बारहठजी को आरा और जोधपुर के मामलों में लम्बी सजा हो गई। शाहपुरा के आर्य-नरेश नाहरसिंह जी ने उनकी जागीर व कोठी जब्त कर ली। उनके छोटे भाई जोरावरसिंह लापता हो गये। खरवा राव साहब और पथिक जी टाटगढ़ किले में नज़रबन्द कर दिये गये। बाद में पथिक जी चुपके से मेवाड़ मे निकल गये और राव साहब अजमेर जेल में रख दिये गये। सेठ दामोदरदास जी चल बसे। बाकी रहे बारहठ जी के बड़े लड़के प्रतापसिंह जी, छोटेलाल जी जैन और जयपुर की हमारी मण्डली। हमारे सलाहकार भले ही बाबू अर्जुनलालजी थे, मगर असली सेनानी छोटेलालजी थे। नौजवानों को बातों से कुरबानी और प्रत्यक्ष काम ज्यादा भाता था। छोटेलाल जी थे भी बड़े सख्त आदमी। वे न अपने को बख्शते और न औरों को। जाड़े के दिनों में तड़के ही हमारा द्वार खटखटाते, जौहरी बाजार से सूरजपोल तक दौड़ाते और घाटी चढ़ा कर गल्ता के कुंड में तैराते। इस तालीम से हमारा जोश ज्यूं ज्यूं बढता गया, त्यूं त्यूं कुछ कर गुजरने की चाह भी बढती गई। छोटेलाल जी की राय हुई कि सेठीजी को जयपुर जेल से निकाल कर ले जाने की योजना बनाई जाय। बाबूजी ने इसे ख्याली पुलाव समझा हममे तरह तरह के जोड़ तोड़ वाले साहस का कोई आदमी भी न था। बाबूजी ने एक होटल खोल कर उसके द्वारा पश्चिम के ढंग पर काम करने की कल्पना दी। छोटेलाल जी को वह पसन्द न आई। महात्मा गान्धी का खुला क्रांतिवाद उन्हें खींच चुका था। वे साबरमती चले गये। हमारी व्यंजन विलास कम्पनी खुल गई। जयपुर में उस समय नागरिक स्वतंत्रता की कैसी दुर्दशा थी, इसका अन्दाज इसी बात से लगाया जा सकता है कि हमें बर्फ़ सोडा बेचने के लिये ठेठ कौंसिल से मंजूरी लेनी पड़ी।

सनसनीदार पर्चा

उन्ही दिनों हमारे दल में उमरावमलजी नाम के एक जैन वकील शरीक हुए। दुबले पतले और चिर रोगी थे, परन्तु गजब की कष्ट सहिष्णुता का परिचय दिया। बात यह हुई कि १९१५ में हम लोगों ने जयपुर के रेज़िडेन्ट और राज्य के प्रधानमन्त्री के खिलाफ़ एक पर्चा बांटने का निश्चय किया। उसे मैंने लिखा, जैन वकील ने साइक्लोस्टाइल पर छापा और मैनेजर रामछिब ने वितरण किया। मेंह आंधी की रात थी। वह दो बजे उठा। एक कंबल ओढ़ा और कोट की जेब मे पर्चे और एक हाथ में लेई का डिब्बा लेकर चल पड़ा। दिन निकलने से पहले-पहले वह काम करके लौट आया। सुबह होते ही शहर में सनसनी फैल गई। स्कूल, कॉलेज, कौंसिल, महल के दर्वाजों, कोतवाली और मुख्य-मुख्य

रास्तों के नुक्कड़ पर पर्चा चिपका हुआ था। नई चीज थी, जगह-जगह झुण्ड के झुण्ड पढ रहे थे। पुलिस के आने व पर्चे उखाड़ ले जाने से पहले हमारा काम सफलता के साथ हो चुका था। बडी दौड़ धूप हुई मगर अपराधियों का पता न चला। बहुत अर्से बाद वकीलजी के यहा साइक्लोस्टाइल पकड़ा गया। सवा लाख की बस्ती मे किसी दूसरी गैर सरकारी जगह वैसी मशीन नही थी। वकीलजी को पुलिस ने खूब यातनाएं दी, परन्तु सब कुछ सहन करके भी उन्होंने भेद जाहिर नही किया।

जयपुर मे यूं तो सभा सोसाइटियों की मुमानियत थी, परन्तु अंग्रेजों के लिये सब छूट थी। मिशन हाईस्कूल के प्रिंसिपल पादरी लो साहब धड़ल्ले से एक डिबेटिंग क्लब चलाते थे। मुख्य उद्देश्य तो था ईसाई धर्म और उसकी आड़ मे साम्राज्यवाद का प्रचार करना, लेकिन आदमी होशियार और साधारण व्यवहार मे सज्जन और परोपकारी थे। इन दो गुणों के कारण युवक उनकी तरफ़ खींचते थे। हमारे बाबूजी की तेज बुद्धि ने यह देख कर हमें भी उधर लगा दिया। हम भी क्लब मे जाने लगे और थोड़े दिन मे वहां की हवा काफ़ी पलट दी।

प्रतापजी का आगमन

१९१५ का साल शुरू हुआ ही था कि एक दिन अंधेरे-अंधेरे [illegible] कंपनी मे एक ऐनकधारी युवक को लेकर आये। छोटी-छोटी आंखें, [illegible] रंग और ठिगना कद था। ये प्रतापसिंह थे। उन दिनों हिन्दुस्तानी [illegible] में [illegible] की तैयारी की जा रही थी। इसके संयोजक बाबू रासबिहारी [illegible] थे। उनका केन्द्र बनारस था। एक खास काम के लिये उन्होंने [illegible] को दिल्ली भेजा था। प्रतापसिंह उनके साथ थे। इस [illegible] में जाने वाले की जरूरत थी। छोटेलालजी की सलाह से [illegible] ने मुझे पसन्द किया। दूसरे दिन ही प्रतापजी और मैं दिल्ली के लिये [illegible] हो गये। शहर के पुराने हिस्से में एक मकान की पहली मंजिल पर [illegible] जवान ने हमारा स्वागत किया। यह शचीन्द्र थे। [illegible] में अखबार बिछे थे। यही उनका बिस्तर था। शाम तक मुझे [illegible] गया। [illegible] कि भारत सरकार के होम मेम्बर [illegible] बनाया जाय, यह काम करे जयचन्द और [illegible] संकेत यह था कि जैसे ही [illegible] मेरठ की भारतीय सेना विद्रोह कर दे। [illegible] २५ फ़रवरी १९१५ की तारीख [illegible] हुई थी। [illegible]

हरिद्वार के लिये चल पड़ा। भारत रक्षा कानून का शिकंजा इतना कड़ा था कि हर जगह पुलिस किसी नौजवान को देखते ही संदेह करती और उसे पूछताछ किये बिना आगे न बढ़ने देती। लेकिन मुझे मारवाड़ी भेष और भाषा ने अच्छा काम दिया। हरिद्वार मे उन दिनों कुम्भ का मेला था, परन्तु काली कमली वाले बाबा का स्थान ढूंढने मे विशेष अड़चन नही हुई। हमारे जयचन्द बाबा के दाहिने हाथ बन बैठे थे। देखते ही लिपट गये। लेकिन मेरे साथ दिल्ली चलने मे असमर्थता प्रकट करते हुए बोले, "मैंने यहा एक अच्छा दल तैयार कर लिया है। अभी कल परसों ही एक सफल डाका डाला है। हाथ मे लिया हुआ काम छोड़ कर जाना ठीक नही। हां, चाहो तो पांच दस हजार रूपये ले जावो। डाके का माल भी है और बाबा का भण्डार भी भरपूर है।" धन लाने की मुझे आज्ञा न थी। मैं ख़ाली हाथ वापस आ गया। शचीन्द्र और प्रतापजी को निराशा हुई। जो काम जयचन्द के सुपुर्द होने वाला था वह प्रतापजी को सौंपा गया। मगर संयोग से फ़ॉडक साहब मुकर्रर तारीख को बीमार हो जाने से बाहर नही निकले और बच गये। मैं उसी रात जयपुर लौट आया।

बनारस षड़यंत्र में

इधर हमारी कम्पनी कुछ चली चलाई नही और उसके जरिये जो ठोस काम सोचा गया था वह नही हुआ। हम उसे उठा देने की सोच ही रहे थे कि प्रतापसिंह पर बनारस षडयन्त्र के सिलसिले मे वारण्ट निकल गये और वे भाग कर हैदराबाद (सिंध) मे जा छिपे। ख़ुफ़िया पुलिस तलाश करती हुई जयपुर पहुची और एक ओसवाल गृहस्थ के पीछे पड़ी। कमज़ोरी मे आकर उन्होने हैदराबाद तो बता दिया, मगर फिर संभल कर सिंध के बजाय निज़ाम की राजधानी का पता दे दिया। डिप्टी सुपरडण्ट पागे यह सुराग पाकर दक्षिण की तरफ़ रवाना हुए। इधर हमारी मण्डली को प्रतापसिंह को बचाने की फ़िक्र हुई। इस बार भी मुझको चुना गया। सोचा, मारवाड़ के भीनमाल स्टेशन पर उतर कर चारणो के गांव पाचेटिया मे पहले तलाश कर लूं। शायद प्रतापसिंहजी वहा हो। हमारे देहाती समाज में अनजान लोगों से खूब पूछताछ होती है। इससे मेरे काम मे बड़ी बाधा पड रही थी। आखिर एक किस्सा घड़ लिया और जो कोई पूछता उसी को सुना कर पिंड छुड़ाता। गांव के निकट पहुंचते-पहुंचते मालूम हो गया कि जिस घर पर प्रतापसिंहजी ठहरा करते थे उसे पुलिस ने घेर रखा है। मैं समझ गया कि पंछी अभी पकड़ में नही आया है, मैं व्यर्थ मे क्यों फंसूं? मैंने सिंध की राह ली। हैदराबाद पहुंच कर दिन भर की खोज के बाद प्रतापजी से भेंट हुई। उन्होंने एक ख़ानगी दवाखाने में कम्पाउण्डर की जगह काम शुरु कर दिया था

और फ़ुरसत के समय वाचनालयों में जाने वाले नौजवानों में क्रांतिकारी प्रचार करने लग गये थे। दूसरे ही दिन हम दोनों बीकानेर के लिये चल पड़े। सोचा यह था कि मैं राजधानी में कोई नौकरी कर लूंगा, प्रतापजी कहीं देहात में जा बसेंगे और दोनों मिल कर विप्लववादी दल खड़ा करेंगे। थोड़ी सहूलियत भी थी। मेरे एक चचा श्री शिवगुलामजी बीकानेर कौंसिल में रेवेन्यू सेक्रेटरी थे और गावों में प्रतापजी के कुछ सम्बन्धी रहते थे। लेकिन एक ग़लती ने योजना पर पानी फेर दिया। जोधपुर स्टेशन पास आया तो प्रतापजी की इच्छा आशानाडा स्टेशन पर उतर कर वहां के स्टेशन मास्टर से मिल लेने की हुई। वह दल का सदस्य था। मगर कुछ दिन पहले उसके यहां बम का पार्सल पकड़ा जा चुका था और वह अपनी खाल बचाने को पुलिस का मुख़बिर बन गया था। इसकी हमें किसी को खबर न थी। तय यह हुआ कि मैं जोधपुर उतर कर शहर देख लूं और दूसरे दिन शाम की गाड़ी से बीकानेर के लिये चल पड़ूं। रास्ते में आशानाडा के प्लेटफ़ार्म से प्रतापजी को माधो के नाम से पुकारूं। अगर कोई जवाब न मिले तो समझ लूं कि प्रतापजी फ़िलहाल देहात में घुस गये हैं और मैं बीकानेर पहुंच कर उनका इन्तज़ार करूं। लेकिन प्रतापजी तो आशानाडा उतरते ही गिरफ़्तार कर लिये गये थे। मेरी आवाज़ का कोई असर न देख कर मैं बीकानेर पहुंच गया।

बीकानेर में

चचा ने बड़े प्रेम से स्वागत किया और कोई जगह दिलवाने का आश्वासन दिया। कोई एक सप्ताह गुज़र गया, परन्तु प्रतापजी का कोई समाचार न मिला। इधर हरिद्वार की कारगुज़ारी के सिलसिले में मुझे प्रतापजी ने बोस बाबू की तरफ़ से जो घड़ी और शाल भेंट की थी वह चोरी चली गई। ये पुरस्कार मुझे बहुत प्रिय थे। प्रतापजी के वियोग की पीड़ा भी कम न थी। वह आदमी ही ऐसा प्यारा था। जितने विप्लववादी देशभक्तों से मेरा परिचय हुआ उनमें प्रताप की छाप मुझ पर सबसे अच्छी पड़ी थी। वे बड़े कोमल स्वभाव के, निहायत शिष्ट और सदा खुश रहने वाले जीव थे। गीता को उन्होंने जिस रूप में समझा था उसी के अनुसार उनकी सारी चेष्टाएं होती थीं। धन और स्त्री की इच्छा को उन्होंने खूब जीता था। शरीर सधा हुआ था। जयपुर में जब वे मेरे पास रहे थे तो एक बार लगातार ७२ घण्टे जागते रहे और बिना खाये पिये बराबर काम करते रहे, और फिर सोये तो तीन दिन तक उठने का नाम नहीं लिया। गल्ता के कुण्ड में घण्टों तैरते भी उन्हें देखा। सच तो यह है कि महात्मा गांधी को छोड़ कर और किसी पर मेरी इतनी श्रद्धा नहीं हुई जितनी प्रतापजी

पर। वे देश की खातिर हिंसा के पक्षपाती जरूर थे, लेकिन उनका दूसरा सारा व्यवहार किसी अहिंसावादी से कम न था। वे जहां रहते वहीं का वातावरण सरलता, प्रेम और पवित्रता से भर देते थे। मेरा विश्वास है कि वे जिन्दा रहते तो गांधीजी के एक खास साथी होते।

हां, तो पुरस्कार और प्रसादजी को लेकर उस दिन रात ही रात में मैंने भालासर के स्टेशन मास्टर को प्रसादजी की पुस्तकार सो एक मन दिया डाला। छिपाने में सावधानी तो काफी बरती, मगर पुलिस के लिए इतना सा धागा काफी था। तीसरे दिन एक बाबाजी मेरे कमरे के चारों तरफ चक्कर काटते दिखाई दिये और पीछे रोड सी० आई० डी० के एक इन्स्पेक्टर आ धमके। उनके पास मेरी गिरफ्तारी का सामान था। बनारस षड़यन्त्र के साथ मेरा सम्बन्ध जोड़ा गया। चचा बहुत घबराये। ये पुराने ढंग के राजभक्त आदमी थे, मगर उतना ही मुझ पर स्नेह रखते थे। अपने द्वार पर मेरा गिरफ्तार होना वे अपने लिये बड़ी बदनामी की बात समझते थे। इन्सपेक्टर थे राजस्थान के जाने पहचाने व्यास मगनराजजी। उन्हे मैंने जो किस्सा घड़ कर बताया उस पर तो उन्हे क्या विश्वास होता, परन्तु चचा के बड़े ओहदे का लिहाज और उन पर अहसान करके बोले, "आपके बयान से मेरी तसल्ली तो नहीं होती, पर मैं और खोज करूंगा और जरूरत हुई तो फिर मिलेंगे।" मैंने उसी दिन बीकानेर छोड़ दिया। इस थोड़े से समय के क़याम में मैंने देख लिया कि वहां का वातावरण जयपुर से भी गया बीता है और इसमें क्रांतिवाद का अंकुर जल्दी फूट नहीं सकेगा। लेकिन मैं सीधा जयपुर न जाकर नीमकेथाने होकर गया। देश-भक्ति के नये रंग मे रंग जाने के बाद पत्नी से मुलाकात नही हुई थी। सोचा उसे भी नवजीवन का परिचय देकर आने वाली घटनाओं के आघात के लिये कुछ तैयार कर दूं। जयपुर मे सलाह मशिवरे के बाद तय हुआ कि मैं साभर जाकर छिप जाऊं। वहा मेरे बड़े भाई मुन्शी छगनलालजी अदालत मे अहलकार थे। आदमी शुरू से गंभीर और साहसी थे। वहीं पिताजी भी आ गये। वे उन लोगो में से थे जो सन्तान के लिये सब कुछ करने और सहने को तैयार रहते हैं। दोनों के रुख से मुझे बल मिला। सांभर मे श्रीकृष्णजी मोढाणी से परिचय हुआ। उन्हें भी कलकत्ते में क्रांतिवाद की हवा लग चुकी थी।

छोटेलाल जी का पत्र

उन दिनों की एक घटना याद है। मेरे किसी पत्र से छोटेलालजी को भ्रम हुआ था या एहतियातन उन्होंने जरूरी समझा, यह तो मैं नहीं कह सकता, परन्तु स्व० माधव शुक्ल की ये पंक्तियां उन्होंने लिख भेजी:—

यदि दुःख पड़ने पर हृदय का भेद ज़ाहिर कर दिया।
डरपोक बनकर शत्रु पग पर, शीश अपना धर दिया॥
दो रोज़ के उपवास में ही धीरता जाती रही।
रोने लगे टुक दर्द से, गम्भीरता तब क्या रही?
यदि कष्ट सहने के लिये तन मन सभी असमर्थ हैं।
तो देश भक्तों छोड़ दो, आशा तुम्हारी व्यर्थ हैं॥

कहना न होगा कि मौनी छोटेलाल जी के इस प्राणदायक संदेश ने दल के प्रति वफ़ादार रहने के मेरे निश्चय को और भी दृढ़ कर दिया।

एक असफल योजना

१६१५ का नवम्बर मास आ गया था। बनारस षड्यंत्र केस में शचीन दादा और प्रतापजी को लम्बी सज़ाएं हो गई थी। मैंने समझा, मामला खत्म हुआ, ज़रा घर की सुध लेनी चाहिये। इसके दूसरे दिन नीमकेथाने पहुंच गया। साथ साथ श्रीमान् मगनराज व्यास भी फुलेरे से उसी गाडी मे बैठे, मगर मुझे पता नही चलने दिया। वे मजिस्ट्रेट के पास गये। मजिस्ट्रेट पिता जी के मिलने वाले थे। उनका इशारा पाकर पिताजी ने घर पर सूचना भेज दी। मैं घर से निकलकर गाव के बाहर एक मन्दिर में जा छिपा। लेकिन घरवालों के लिये यह एक नये ढंग की और गम्भीर विपत्ति थी। आखिर मजिस्ट्रेट के बीच बचाव से यह समझौता हुआ कि व्यास जी मुझे वहा गिरफ़्तार न करेंगे और थोडी पूछताछ करके चले जायेंगे। व्यास जी ने मिलते ही उलहना दिया, "आपने बीकानेर मे तो घिस्सा दिया। अब तो सच सच कह दीजिये।" मुझे उस वक्त तक इतना तो अनुभव हो चला था कि पुलिस की नरमी खाली उदारता नही हो सकती, उसका मामला ज़रूर कमज़ोर होगा। मैंने व्यास जी पर इसी आशय की एक नज़र डाली और इस बार थोड़ा गंगा जमनी जवाब दे दिया। वे चले तो गये, मगर महीने भर बाद ही उनका खत आया कि जयपुर मे मिलिये। वचन के अनुसार पिताजी के साथ उनसे जयपुर मे मिला।

राजपूताना के दल को व्यास जी पर बड़ा रोष था। प्रताप जी की गिरफ़्तारी और सज़ायाबी से हमारा नुकसान हुआ था। इसका बदला लेने के लिये व्यास जी की वही 'रख लेने' की तजवीज हुई। तय हुआ कि पिस्तौल एक किशोर साथी लावे, जिनके ससुर उणियारा की बड़ी जागीर के दीवान थे, मैं व्यास जी को एडवर्ड मेमोरियल मे बातो मे रोके रक्खूं और छोटेलालजी उन पर वार करें। यह दिलचस्प बात है कि वह किशोर साथी थे श्रीराम किशोर शर्मा जो बाद में जोधपुर मे पुलिस इंस्पेक्टर हुए और आजकल जयपुर मे कांग्रेस

कार्य कर्ता हैं। परन्तु मारने वाले से बचाने वाला बड़ा है। योजना पार न पड़ी। उन दिनों जयपुर शहर के पुलिस सुपरडण्ट और मजिस्ट्रेट तिवाड़ी दीनदयाल जी थे। उनके बड़े लड़के स्व० शिवराज मेरे मित्र थे। उनके द्वारा व्यास जी की कार्रवाइयों का हमें रोज पता लगता रहता था, इस कारण वे हमारे दल का बहुत कुछ न बिगाड़ सके। आदमी भी शरीफ़ थे। व्यर्थ किसी को तंग नही करते थे। मेरे खिलाफ़ कोई सबूत नही मिला, यह कहकर चले गये।

क्षेत्र परिवर्तन

राजधानी मे शहरी लोगों के बीच काम करने मे विप्लववाद के लिये कुछ अनुकूलतायें थी तो प्रतिकूलतायें भी कम नहीं थी। वहां शिक्षित नौजवान थे जिनमें देशभक्ति के बीज बोने के लिये अच्छी मनोभूमि थी परन्तु हमे एक तरह से पुलिस के घिराव मे आशंकाओ के बीच काम करना पड़ता था। शक्ति अधिक लगती थी और परिणाम थोड़ा निकलता था। हम लोगों ने सोचा कि देहात में काम करना शायद ज्यादा माफ़िक आये क्योंकि वहां बड़े विद्यार्थी और शिक्षित युवक तो थोड़े मिलेंगे मगर उनमें नये विचारो की भूख और पाचनशक्ति अवश्य ही अधिक होगी। मेरे ग्रामीण संस्कार भी गाव वालों में जल्दी घुलमिल जाने वाले थे और उनमें काम करने का आत्मविश्वास भी अधिक था। परन्तु यह सब कल्पना ही कल्पना थीं। देहाती इलाके में कार्य करने का कोई अनुभव नही था और न ऐसे क्षेत्र की जानकारी थी। हमारे राजस्थानी दल का कोई कार्यकर्त्ता भी ग्रामीण क्षेत्रो मे काम कर रहा हो, ऐसा मुझे मालूम नही था। परन्तु जैसा कभी कभी होता है, अनायास ही ऐसा क्षेत्र निकल आया जहा मुझे अकेले दम अपनी क्षमता की परीक्षा का अवसर मिल गया।

चार शेख़ावाटी में

घर वालों का आग्रह था कि कोई रोज़गार तलाश करूं। मेरा मन भी पढ़ाई में नहीं लगता था। काम की धुन बढ़ रही थी, मगर कोई निमित्त तो चाहिये। हमारे प्रिंसिपल मेरी खतरनाक हलचलों को देख कर मुझे कालेज के लिए बला समझने लगे थे। जापान भेजने का प्रस्ताव आया। विद्यार्थियों के परम सहायक डा० डलजंगसिंह ने खर्च देने का वायदा किया। लेकिन इसका अर्थ होता देश सेवा से हाथ धोना और अन्त में सरकारी नौकरी। यह मुझे मंजूर न था। आखिर मैंने रामगढ़ (शेखावाटी) में शिक्षक होकर जाना पसन्द किया। १६१६ के शुरू में मैं वहां पहुंच गया।

रास्ते में एक जागीरदार के यहां शादी में शरीक होना था। जागीरी प्रथा के मातहत मानव जीवन को देखने का यह पहला मौका था। वह मेरे शिष्य थे और कन्या पक्ष से पुराना सम्बन्ध था। जागीरदार ३ घंटे तक रोज़ हवन, पूजा पाठ और दूसरे कर्मकाण्ड करते थे, लेकिन अव्वल दर्जे के दुराचारी थे। इस ब्याह में देखा कि किस तरह एक आदमी के इशारे पर दर्जनों दास दासियां, बीसियों नौकर चाकर और सैकड़ों किसान दिन रात नाचते है, किस तरह ग़रीबों को कमाई राग रंग में उड़ाई जाती है और ऊपर से उजली दिखाई देने वाली व्यवस्था के भीतर कितना अन्धकार, दंभ और अत्याचार छुपा रहता है। मन पर सामन्तशाही के बारे में एक खास असर उसी दिन से हो गया।

सेठों की दुनियां

रामगढ़ में धन की सत्ता का पहला अनुभव हुआ। जो हालात यहा थे वे ही करीब करीब सारे शेखावाटी इलाके मे थे। स्कूल सेठों का था। हैडमास्टर नाम को एक बूढ़े शिक्षक थे, मगर काम मुझी को करना पड़ता था। कस्बा यूं तो सीकर के रावराजाजी की जागीर में था, परन्तु असल मे राजा वहां के ये सेठ लोग ही। इनमें लक्ष्मी के जो नये कृपापात्र थे उनमें नाम की इच्छा अधिक थी। पुरानों में सत्ता का प्रेम ज़्यादा था। कुछ लोगों को छोड़ कर दोनों ही अपनी दौलत का दिखावा, भद्दे भोग-विलास और ग़रीबों को चूसने या सताने के बजाय, नई-नई आलीशान हवेलियां, दवाखाने, धर्मशालायें और पाठशालायें बनाने मे करते थे। गोशालाओं के प्रबन्ध में सहयोग था, राजनैतिक प्रभाव के मामलों मे स्पर्द्धा

चलती थी । पुरानों मे कुलीनता के गुणों के साथ अहंकार का दुर्गुण था । वे विद्या, कला और संगीत के प्रेमी थे, मगर साधारण लोगों के साथ मिलने में कंजूसी करते थे। जब बाहर निकलते, आगे पीछे लठैत राजपूत रहते थे और हुजूर कहलाने के शौकीन थे । नये इस बारे मे ज्यादा सादगी बरतते थे और लोकप्रियता का लाभ उठाते थे । ब्राह्मणों का प्रभाव भीतर और बाहर दोनो जगह था । महाराज रसोई घर के छोटे मालिक होते थे और पण्डितजी का सेठ पर खूब असर था। मगर ज्यादातर ब्राह्मण अपढ़ और यजमान वृत्ति पर रहने वाले थे । बहुतेरे भंग और गाजे के व्यसनी और आलसी थे । फिर भी उनका मान जन्म से होता था और उन्हे दान भी काफ़ी मिलता था । विदेशी चीजों का प्रचार काफ़ी हो चला था । छुआछूत का भूत लगभग सभी पर बुरी तरह सवार था । मगर गरीबो की मदद और जीव-दया की भावना भी जोरदार थी । आम लोगो मे पढने की रुचि नही थी और अंग्रेजी तो बहुत से सिर्फ़ तार पढने लिखने की योग्यता प्राप्त करने को ही सीखते थे । शिक्षकों का कोई आदर न था । वे नौकर समझे जाते थे अधिकांश मास्टरों का रोजी ही मुख्य उद्देश्य था, स्वाभिमान और समाज सेवा गौण चीजें थी । विद्यादान की अपेक्षा धन लाभ का हेतु प्रबल था । इस कारण खुशामद मे ही आमद होती थी । फिर भी मामूली हालात एक देश सेवक की दृष्टि से जयपुर की अपेक्षा कहीं ज्यादा अनुकूल थे । कलकत्ता, बम्बई वगैरा प्रगतिशील शहरों से रात दिन का सम्बन्ध होने के कारण लोगों मे कुछ राजनैतिक संस्कार थे । धनिक वर्ग मे नरम ढंग की देशभक्ति और समाज सुधार की वृत्ति थी । न खुफ़िया पुलिस थी और न सभा संस्थाओं की रोक टोक । आसपास के किसानों और देहातियो के साथ सेठजी का सम्बन्ध सूदखोर साहूकारो का नही था । समय पर उनकी सहायता करने का था । लाखों के वारे न्यारे करने वाले लोग लेन देन के धन्धे को टटपूंजिया और जलील समझते थे । जागीरदार भी धन की मार के आगे उतनी उच्छृंखलता नही दिखा पाते थे । इस कारण राज्य के और भागो से शेखावाटी का किसान कम पीड़ित, ज्यादा दबंग और अधिक खुशहाल था ।

सब बातो को देखते हुये मुझे अपना नया कार्यक्षेत्र पसन्द आया और मैंने काम शुरू करने में देर नही की । पढाना मुझे आता था । मैंने मिडिल स्कूल मे जो ऊंचे दर्जे हो सकते थे, ले लिये । विद्यार्थियों मे अपनी नई नई बातों के कारण जल्दी लोकप्रिय हो गया और बड़ी उम्र के लड़कों को क्रांतिवाद के विचार देने लगा । इतिहास दो तरह से पढ़ाता । परीक्षा के लिये मार्सडन साहब का और ज्ञान के लिये राष्ट्रीय लेखकों का लिखा हुआ । श्री बालकृष्णजी पोद्दार की जिज्ञासा, श्री लक्ष्मणप्रसादजी की सहृदयता और श्री मोतीलालजी प्रह्लादका का

साथीपन मुझे भाया। बालकृष्णजी रामगढ़ में ज्यादा रहते थे। उन्हें थोड़े ही दिन में क्रांतिकारी साहित्य का चस्का लग गया।

उन दिनों श्रीमती एनी बीसेण्ट का सितारा हिन्दुस्तान के राजनैतिक आकाश में चमक रहा था। होमरूल आन्दोलन की वे नेतृ थी। उनका 'न्यू इण्डिया' अंग्रेजी का सबसे जोशीला दैनिक था। राष्ट्रीय-साहित्य भी उनके यहा से अच्छा निकल रहा था। बालकृष्णजी मेरे साथ ये पुस्तकें और अखबार पढ़ने लगे। परन्तु वहां कोई काम सफल नही हो सकता था जब तक पण्डितो की जमात का सद्भाव प्राप्त न कर लिया जाता। मेरे जैसे उग्र सुधारक के लिये तो उनकी सहानुभूति और भी जरूरी थी। मैंने कुछ शास्त्रियों से थोड़े ही अर्से में मित्रता बढ़ाली। उसका उपयोग भी जल्दी साबित हो गया। बात यह हुई कि मैंने अपने वैद्य मित्र के पास संयोग से एक ब्राह्मण विद्यार्थी के हाथ पेशाब की शीशी जांच के लिये भेज दी। यह बात जाहिर होते ही मुझे लगा कि मैंने भिड़ के छत्ते को छेड दिया। पंडितो की मित्रता के प्रभाव से तूफ़ान थोड़े में ही शान्त हो गया और मेरा काम समय से पहले ही चौपट होने से बच गया।

देश त्याग का प्रभाव

उसी समय रामगढ मे एक खास घटना हुई। यहा के बड़े सेठ तो पोद्दार ही थे, मगर राज़काज के मामलों में खेमका उनके प्रतिद्वन्दी थे। दोनों मे किसी ज़मीन के टुकड़े पर झगडा चल रहा था। ठिकाने ने पोद्दारो के हक मे फ़ैसला दिया। खेमको को यह अन्याय मालूम हुआ। और कुछ उपाय न देखकर उन्होने देश त्याग का आश्रय लिया। उनके सामान की गाड़ियों का एक जुलूस सा लग गया। सारा रामगढ़ इस करुण दृश्य को देखने उमड़ पड़ा। हरेक नरनारी का दिल पसीज गया। जिन लोगों का झुकाव पोद्दारों की तरफ़ था उनकी सहानुभुति भी खेमकों के साथ हो गई। पोद्दारो की इनसानियत भी अछूती न रह सकी। वे खेमकों को मना कर वापस ले आए। खुद कष्ट उठाकर दुश्मन का दिल जीतने के इस पुराने हिन्दुस्तानी हथियार का प्रयोग कितना कारगर होता है, यह उस दिन पहले पहल समझ में आया।

हम लोगों ने एक पुस्तकालय, वाचनालय और वादविवाद समिति संगठित कर ली। खेल नये जोश के साथ शुरू कर दिये और एक रात की पाठशाला खोल दी। उधर सर्वश्री गौरीशंकरजी, विशंभरलाल जी और मोतीलाल जी रुइया की कोशिश से हमारे से भी अच्छी संस्था खुली जिसमें नये ढंग के और समाचार पत्र अधिक आने लगे।

मारवाड़ियों में क्रान्तिवाद

उन्हीं दिनों कलकत्ते में एक खास घटना हुई जिसका शेखावाटी और मारवाड़ी समाज पर विशेष परिणाम हुआ। कलकत्ता मे मारवाड़ी सेवा समिति नाम की संस्था थी। बंगालियों के उदाहरण से राजस्थानी नौजवानों में भी पुरुषोचित खेलों, समाज सेवा के कामों और देशभक्ति पूर्ण विचारों की रुचि पैदा हुई। ये सब काम वे सेवा समिति के जरिये करने लगे। कुछ लोगों का क्रान्तिकारियों से भी सम्पर्क हो गया। ब्रिटिश सरकार की उस पर नजर पड़ी। सर्वश्री घनश्यामदास बिड़ला, ओंकारमल सर्राफ़, ज्वालाप्रसाद कानोड़िया, हनुमानप्रसाद पोद्दार और कन्हैयालाल चितलांगिया पर भारत रक्षा क़ानून का वार हुआ। इनमें से पहले दो जो धनी थे 'देश' आने में सफल हुए। सरकार ने इसी पर सन्तोष कर लिया कि वे युद्धकाल तक शेखावाटी में रहें। बाकी तीनों बंगाल में अलग अलग स्थानों पर नज़रबन्द कर दिये गये। इस घटना से पहले मुझे मारवाड़ी कहलाने में जो शर्म महसूस होती थी वह जाती रही। लेकिन हमारे स्कूल के संचालकों में से बड़े 'कंवर साहब' का व्यवहार मुझे इतना अपमान से भरा मालूम हुआ कि मैंने इस्तीफ़ा देकर अपने स्वाभिमान की रक्षा की। यह मेरे समाजवादी होने की शुरूआत थी। सौभाग्य से इससे पहले सेठ जमनालालजी बजाज से परिचय हो चुका था। वे इयों की संस्कृत पाठशालाओं को एक कॉलेज का रूप देने के सिलसिले मे रामगढ़ आये थे। हमारे स्कूल में भी उनका आना हुआ। उन्होंने मुझे इतिहास पढाते देखा और शाम को मिलने का बुलावा दे गये। मुलाकात के अन्त मे वे बोले, "कभी यहा से जाने का प्रसंग आ जाय तो मुझे लिखिये।"

रामगढ़ में मैंने दासप्रथा के विरुद्ध 'टामकाका की कुटिया' नामक प्रसिद्ध पुस्तक पढ़ी जो Uncle Tom's Cabin का हिन्दी अनुवाद है। एक और पुस्तक जी. स्पिलर की Training of the Child भी वहीं देखी जिसमें बच्चों की शिक्षा पर अमूल्य विचार हैं। उनमें से शरीर दण्ड देने और हर बात की मनाई करने का निषेध मुझे बहुत पसन्द आया।

पत्नी की शिक्षा

इस बीच में बनारस षड्यंत्र केस में फंसने के सिलसिले में जो पारिवारिक अनुभव हुए उनसे मेरे लिये अपनी पत्नी के बारे में गंभीर विचार और दृढ़ निश्चय करने की जरूरत अनिवार्य हो गई। वे एक भारतीय महिला की भांति पति के दुःख में दुःख और सुख में सुख मानने वाली तो थीं किन्तु एक देशभक्त

पांच

वर्धा में

१९१६ की बरसात थी। रामगढ़ छोड़ने पर मैंने एक तरफ़ से सेठ जमनालालजी को और दूसरी तरफ़ छोटेलालजी को इत्तिला दी। वे उस वक्त महात्मा गांधी के साथ चम्पारन में काम कर रहे थे। वहां का सत्याग्रह सफल हो चुका था और गांधीजी शिक्षा प्रचार वगैरा रचनात्मक कार्य संगठित कर रहे थे। मुझे वर्धा और चम्पारन दोनों जगह से निमंत्रण मिला। लेकिन गांधीजी ने अपनी ज़रूरत से जमनालालजी की ज़रूरत को अधिक महत्व दिया। उनकी उदारता का यह पहला परिचय था। मैं वर्धा चला गया। वहां की संगति, काम करने का मौका और राजस्थानी व राष्ट्रीय वातावरण पाकर मुझे खुशी हुई। सर्वश्री जमनालालजी बजाज, श्री कृष्णदासजी जाजू व वृद्धिचन्दजी पोद्दार जैसे बुजुर्गों, श्री चिरंजीलालजी बड़जात्या और श्री द्वारकादासजी भैया आदि मित्रों और श्री दत्तोपन्त मोहनी व श्री दामले आदि शिक्षकों से गहरा परिचय हुआ। मारवाड़ी विद्यालय, छात्रालय और सेवा समाज वगैरह संस्थाओं में काम करने का मौका मिला और राष्ट्रीय विचारों और प्रवृत्तियों के फैलाने की गुंजाइश थी।

उस ज़माने में रिज़ले सर्कुलर का ज़ोर था। यह एक सरकारी गश्तीपत्र था जिसके अनुसार विद्यार्थी ही नहीं, सरकारी सहायता पाने वाली और सरकार द्वारा स्वीकृत शिक्षण संस्थाओं के शिक्षकों तक को राजनैतिक सभाओं में जाने की मनाई थी। मैं इस बन्धन को नहीं मानता था और खुले तौर पर न सिर्फ़ राजनैतिक जलसों में जाता, बल्कि हमारे विद्यालय में भी राष्ट्रीय काम का सूत्रपात कर चुका था। श्रीमती सरोजिनी नायडू के स्वागत में भाग लेकर और भाषण देकर तो मैंने अपने विचारों को अच्छी तरह ज़ाहिर कर दिया था। हमारे इन्स्पेक्टर स्टेले साहब कट्टर साम्राज्यवादी थे। उन्हें मेरी कार्रवाइयां अवांछनीय मालूम हुईं और संचालकों से मेरी शिकायत हुई। लेकिन उनकी तटस्थता और मेरी दृढ़ता ने मेरी स्वतन्त्रता में कोई बाधा नहीं आने दी।

कांग्रेस में

वर्धा में रहकर मैंने १९१७ की कलकत्ता कांग्रेस देखी। वहीं लोकमान्य और महात्माजी के पहले दर्शन किये। इस महान् राष्ट्रीय संस्था से मेरा यह प्रथम परिचय था। श्रीमती एनी बीसेण्ट सभानेत्री थीं। वे भारत रक्षा कानून के मातहत नज़रबन्दी से छूट कर लोकप्रिय हुई थीं और होम रूल लीग स्थापित करके

राष्ट्रवाद का अभियान चला रही थीं। कांग्रेस के अधिवेशन में अंग्रेजी पोशाक और भाषा का बोलबाला था। प्रमुख नेताओं मे महात्मा गांधी, लोकमान्य तिलक और महामना मदनमोहन मालवीयजी ही भारतीय लिबास मे थे और हिन्दी मे बोले थे। मुझे स्वयं सेवक बनने का सौभाग्य मिला था और वह भी महात्माजी के डेरे पर ही। मैंने उनके कपड़े धो देने का प्रस्ताव किया तो उन्होंने मुसकराते हुए उसे अस्वीकार कर दिया। वे अपना काम खुद ही करते थे। इसी अवसर पर वर्धा से कलकत्ते की यात्रा मे जाजूजी ने बापू से पूछा था, "जो काम आपने दक्षिण अफ्रीका में किया था वही भारत में नही हो सकता ?" उनका मंत्ररूप उत्तर यह था : "Given the cause and the leader, the same can be done here." (कारण और नेता मिल जायं तो यहा भी हो सकता है।)

रोगी सेवा का आनन्द

लौट कर मारवाड़ी अग्रवाल महासभा की स्थापना मे सेठ जमनालालजी को भरसक मदद दी। परन्तु वहा की उस समय की स्मृतियों में सबसे मधुर वह थी जब इन्फ्लुएंज़ा की महामारी के समय मारवाड़ी सेवा समाज की तरफ़ से कष्ट निवारण का काम किया। महार और माग आदि हरिजन जातियां में जैसी भयंकर गरीबी थी वैसी ही तीव्रता थी बीमारी की। इन दोनों से भी भयंकर था उनके अछूतपन का अभिशाप। मेरे और अध्यापक चौथमलजी मंगल के सिवाय कोई सवर्ण उन लोगो मे जाने को तैयार न हुआ। हम दोनों सुबह शाम जाते और दवा और खाने पहनने का सामान बांटते। दरिद्रता का इतना हृदय विदारक दृश्य तो मैंने भीलों मे भी नही देखा। कपड़े की कमी के कारण कई रोगी बहनें तो सचमुच ऐसी नंगी हालत मे होती थीं कि हम उन्हें देख भी नहीं सकते थे। जब हम सुबह ही वहा जाते तो चारो तरफ़ मुर्दे जलते देख कर कुछ भयभीत भी होते, मगर शाम को सेवा कार्य से लौटते तो हमारे युवक हृदय एक तरह का गर्व और आनन्द महसूस किये बिना न रहते।

गांधीजी के साथ सफ़र

शायद १९१८ के गरमी के दिन थे। जमनालालजी कुछ बीमार थे। वे एक दिन शाम को बम्बई की अपनी दुकान बच्छराज जमनालाल की छत पर लेटे हुए थे। मैं भी पास ही बैठा था। मैं वहां अपने गाव नीमकेथाने मे अपनी नव-स्थापित कन्या पाठशाला के लिये धन संग्रह करने गया था। इतने में गांधीजी और एक टूटे हाथ वाले अन्य सज्जन आ पहुंचे। बाद में मालूम हुआ कि वे गांधीजी के साथ काम करने वाली प्रसिद्ध देश सेविका श्रीमती अवन्तिका बाई के

पति अवसर-प्राप्त इंजीनियर श्री गोगले थे। इस बार बापू नंगे पैर तो थे, परन्तु अंगरखा और पगड़ी के स्थान पर कुर्ता-टोपी पहने हुए थे। गांधी टोपी मैंने पहले पहल देखी। जमनालालजी की मिजाजपुरसी के लिये आये थे। गांधीजी की उस सहृदयता और रोगियों के प्रति कोमल भावना का भी मुझे यह प्रथम ही परिचय था, जिसे आगे चल कर तो मैंने अपने अनुभव से भी गैरमामूली मात्रा में पाया। मेरा आकर्षण गान्धीजी की ओर बढ़ता ही गया।

बातचीत में पता लगा कि वे दूसरे ही दिन पूना के पास चिंचवड़ के अनाथाश्रम के किसी समारोह का सभापतित्व करने जा रहे हैं। मैंने भी जाने की इच्छा प्रकट की और जमनालालजी ने, शायद गान्धीजी से मेरा सम्पर्क बढ़ाने की दृष्टि से, तुरन्त स्वीकृति दे दी और सुविधा कर दी। मेरे सुपुर्द उनके लिये फल ले आने का सुखद कर्तव्य कर दिया गया। वे प्रथम विश्वयुद्ध के अंतिम दिन थे। बापू भारतीय सैनिकों के एक तीसरे दर्जे के डिब्बे में बैठे थे। स्व० महादेव देसाई साथ थे। सिपाहियों ने बापू को तो एक तख्ते पर लेटने लायक जगह दे दी थी, मगर बदले में महादेव भाई को आगन की शरण लेनी पड़ी। मैं भी उनके साथ शरीक हो गया। सिपाही लोग दूसरे मुसाफिरों के साथ गाली-गुफ़्तार और धक्का-मुक्की से पेश आ रहे थे, जिसे देख कर मुझे भीतर ही भीतर उबाल आ रहा था। परन्तु बापूजी उन्हें बड़ी शान्ति और धीरज से समझाते थे। इस यात्रा में २४ घंटे साथ रहने का सौभाग्य मिला। मैं उनके सफ़ाई, सादगी और वक्त की पाबन्दी आदि गुणों का संक्रामक प्रभाव लेकर लौटा।

जमनालाल जी की नम्रता

लेकिन अब मेरी आत्मा स्वतंत्र जीवन और खुली राजनीति में विचरण करने को आतुर हो चली थी। मैंने ज्यूं ही मारवाड़ी विद्यालय का काम छोड़ा, सेठ जमनालालजी ने कुछ मित्रों के सहयोग से एक स्वदेशी कपड़े की बड़ी सी दुकान खुलवा दी। परन्तु थोड़े ही अर्से में अनुभव हो गया कि मैं व्यापार के लिये नहीं बना था। उन्हीं दिनों श्री ब्रिजलालजी बियाणी और छगनलालजी भारूका आदि से जो नागपुर में कॉलेज के विद्यार्थी थे, परिचय हुआ। साथ ही एक दो घटनाओं से सेठ जमनालालजी की अन्तर्मुख वृत्ति और निरभिमानता का भी प्रमाण मिला। एक दिन उन्होंने अपने मित्र वर्धा के सेशन जज श्री लक्ष्मीनारायण को विदाई भोज दिया। बीसियों दूसरे मेहमानों के साथ मैं भी शरीक हुआ। मुख्य अतिथि के साथ यजमान और उनके दो खास मित्रों को चांदी के बर्तनों में भोजन परोसा गया और बाकी लोगों को पीतल के बर्तनों में।

धनवानों के यहां ऐसी असभ्यता अक्सर होती है और खास कर हमारे संस्कृति में पिछड़े हुए राजस्थानी समाज मे ऐसी भात में दुभांत कोई असाधारण बात भी नहीं थी। लेकिन मुझे वह खटकी और मैंने खुले तौर पर असन्तोष ज़ाहिर किया। मैं दो चार दिन सेठजी के यहां नहीं गया। हम रोज़ के मिलने वाले ठहरे। उनसे नहीं रहा गया और मुझे बुला भेजा। संयोग से इस वक्त भी नौकर जो दो गिलासो में पानी लाया तो उनमे से एक चादी का था और दूसरा पीतल का। सेठजी के यहां उस दिन के बाद इस तरह का भेदभाव कभी नज़र नहीं आया। सचमुच उनका समभाव उनके बहुत से गुणो में से बड़ा गुण था जिसके कारण सार्वजनिक सेवक उनके नजदीक जाते थे और जिसके न होने के कारण दूसरे धनिकों से दूर भागते थे।

जाजूजी

वर्धा के दूसरे व्यक्ति जिनकी मुझ पर छाप पड़ी वे थे श्री कृष्णदास जाजूजी। ये ऊपर से रूखे, बहुत कम बोलने वाले और काम लेने में बड़े कठोर लगे, मगर भीतर से बहुत सहृदय, अपनेपन को अन्त तक निभाने वाले, आपत्ति के समय काम आने वाले और गजब के मेहनती थे। वे एक प्रकार से जमनालालजी के लिये एक साथ सलाहकार, पथ प्रदर्शक और मित्र तीनों थे। सेठजी के बड़े से बड़े कामों में पर्दे के पीछे जाजूजी का हाथ रहता था। सच तो यह है कि वर्धा को एक समय जो सार्वजनिक महत्त्व मिला उसका पहला श्रेय जमनालालजी को है तो उनके बाद दूसरा नम्बर जाजूजी का आता है।

राजपूताना मध्य भारत सभा

इस अर्से में मैंने यह भी देख लिया कि जमनालालजी का घर बार, व्यापार और सेवा क्षेत्र मध्य प्रदेश में होते हुए भी वे अपनी जन्मभूमि राजस्थान को कभी नहीं भूल सके। वहां की छोटी से छोटी प्रवृत्ति में भी उनकी दिलचस्पी रहती थी। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण भी जल्दी मिल गया। सन् १९१९ की अमृतसर कांग्रेस के आसपास उन्होंने सर्वश्री गणेशशंकर जी विद्यार्थी, विजयसिंहजी पथिक और चादकरणजी शारदा वग़ैरा को राजपूताना मध्य भारत सभा क़ायम करने में सहयोग दिया। देशी राज्यों की प्रजा की राजनैतिक सेवा का उद्देश्य रखने वाली यह पहली संस्था थी। इसने एक साप्ताहिक पत्र निकालने का भी निश्चय किया। इन दोनों कामों में सेठ जमनालालजी ने दिल खोल कर मदद दी।

सेठीजी का आगमन

लेकिन इस अखबार के निकलने से पहले कुछ घटनाएं हो चुकी थीं जिनका मेरे और राजस्थान के सार्वजनिक जीवन पर काफ़ी गहरा असर पड़ा। ये घटनाएं थी पण्डित अर्जुनलालजी सेठी का नजरबन्दी मे और ठा० केसरसिंहजी बारहठ का कैद से छूटना, श्री पथिकजी का वर्धा आना और लोकमान्य तिलक का परलोकवास।

सेठीजी के त्याग की शौहरत देश भर में फैली हुई थी। वे वर्धा आये और आते ही हम युवकों के दिल में समा गये। उनके एक-एक शब्द में आज़ादी की भावना और अंग्रेज़ी राज के प्रति घृणा फूट पड़ती थी। वे साम्राज्यशाही के अत्याचारों को पीड़ा से पागल दिखाई पड़ते थे। उनके भाषण सुन कर जनता जोश में बावली हो जाती थी। वे सर्वसाधारण को मंत्र मुग्ध करना जानते थे और हृदय से बोलते थे।

बारहठ जी का परिचय

केसरीसिंहजी की जबान और कलम में मिठास और संतुलन अधिक था। उनके व्यवहार में अपने-पन, धीरज और गम्भीरता का सामंजस्य था। उनकी कोई चेष्टा शान के खिलाफ़ न होती थी। वे देश के जितने उत्कट प्रेमी और ब्रिटिश शासन के जितने कट्टर शत्रु थे उतने आजकल के सुधारवाद के हिमायती और मध्यकालीन राज्य-व्यवस्था के विरोधी नहीं थे। लेकिन उनका त्याग अनुपम था। उनका सारा परिवार एक तरह से स्वतंत्रता देवी पर पतंगो की तरह कुर्बान हो गया था। वे डिंगल भाषा के बढ़िया कवि थे। अपनी इसी काव्य-शक्ति के द्वारा उन्होंने सन् १९११ के दिल्ली दरबार में महाराणा फ़तहसिहजी को हाज़िर रहने से विमुख कर मेवाड की शान को बचाया था। हिन्दी मे वे गंभीर लेखनशैली के प्रवर्तकों मे से थे। कीर्ति के कामों से दूर रहते थे। भाषण नहीं दिया करते थे। वर्धा मे उनका राजाओं का सा स्वागत हुआ था।

देश-सेवा का व्रत

१ अगस्त सन् १९२० को तिलक महाराज का स्वर्गवास हुआ। दूसरे दिन यह दुःखद समाचार 'बॉम्बे क्रॉनिकल' मे पढ़ा। मैं रोग शय्या पर था। हृदय पर जबरदस्त आघात हुआ। उस दिन मेरी आंखो ने जितनी अश्रु वर्षा की उतनी आगे चल कर स्नेहमयी माता और परमोपकारक पिता के मरने पर भी नहीं की।

लेकिन गांधीजी की इस घोषणा से सन्तोष हुआ कि वे लोकमान्य के स्वराज्य प्राप्ति के काम को जारी रखेंगे। देश सेवा जीवन का मुख्य उद्देश्य तो पहले ही बन चुका था। उस दिन सारा समय लगा कर सेवा कार्य करने का निश्चय हुआ।

पथिकजी से भेंट

इसके कुछ ही दिन बाद कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में शरीक होकर और गांधीजी के असहयोग कार्यक्रम की प्रेरणाएं लेकर पथिकजी भी कलकत्ता से वर्धा पहुंचे। उनकी बिजौलिया की कारगुजारियां पहले सुन रखी थीं। उनकी सूझ, उनके साहस और उनके ग्राम-नायक के अनेक गुणों का मैं प्रशंसक बन चुका था। हृदय उत्सुकता से उनकी तरफ़ दौड़ रहा था। जिस दिन वे वर्धा आये हम लोग रेल पर उनके स्वागत के लिये गये। उनका लम्बा कद, कानों पर बंधी हुई सिक्खों की सी दाढ़ी, राजपूती ढंग का साफ़ा, कमर से लटकती हुई सुनहरी मूंठ की तलवार, चौड़ी पेशानी और तेजस्वी आखों ने फ़ौरन बता दिया कि जिस आदमी की तलाश थी वह मिल गया। उन्हें भी मुझमें एक उपयोगी साथी नजर आया। उनका प्रस्ताव आते ही मैं व्यापार धंधा छोड़ कर उनके साथ हो लिया।

'राजस्थान केसरी'

'राजस्थान केसरी' निकला। पथिकजी सम्पादक हुए। प्रकाशक व सहायक सम्पादक बनने का सौभाग्य मुझे मिला। उन दिनों क़ानूनी जिम्मेदारी प्रकाशक की होती थी। सम्पादक का तो नाम देना भी जरूरी नहीं था। यह देशी राज्यों की प्रजा का पहला मुख पत्र था। यूं तो गणेशजी के 'प्रताप' ने रियासती जनता का खूब पक्ष समर्थन किया था, मगर 'राजस्थान केसरी' पर उस जनता का सम्पूर्ण अधिकार था। सेठजी की सहायता से प्रेस आ गया था। शुरू में सेठीजी और बारहठजी भी लिखते थे। पथिकजी तो उसके प्राण ही थे। बारहठजी के जंवाई श्री ईश्वरदानजी आसिया की और मेरी सारी शक्ति उसमें लग गई। श्री हरिभाई किंकर का साक्षात्कार भी वहीं हुआ। उनका गौर वर्ण, हंसमुख चेहरा, विशाल ललाट, भोले और खुले नेत्र, लम्बी जटा, लहराती हुई दाढ़ी और क्रियाशील अंग प्रत्यंग देखते ही कोमल भावना पैदा हो गई। ब्रह्मचारीजी (उन दिनों वे इसी नाम से प्रसिद्ध थे) के मेहनती, सरल और स्नेही स्वभाव ने मुझे सदा के लिये आत्मीयता के पाश में बांध लिया। बच्चों के साथ उनका असाधारण प्रेम, नये परिचय करने की उनकी विलक्षण क्षमता, स्त्रियों, पीड़ितों और पिछड़े हुए वर्गों में सदाचार, समाज सुधार और देश सेवा के प्रचार की उनकी धुन और सबसे ज्यादा उनकी नैतिक अटलता ऐसे गुण हैं जो दूसरे बहुत

कम लोगों में पाये जाते हैं। अस्तु, हरिजीवी 'राजस्थान केसरी' के सहायक मैनेजर और अनघढ़ इंजीनियर के रूप में शामिल हो गये। श्री कन्हैयालालजी कलयंत्री अवैतनिक मैनेजर बन कर जुट गये। गजब के मेहनती और लगन के आदमी थे।

अखबार के दो विभाग थे। एक में देशी राज्यों की समस्याओं और दूसरे मे ब्रिटिश भारत के आन्दोलनों की चर्चा रहती थी। दो-दो अग्रलेख और उसी हिसाब से टिप्पणियां दी जाती थी। पथिकजी हिन्दी मे राजनैतिक विषयों पर प्रायः उसी सामर्थ्य और सगर्भता से लिखते थे जिसके साथ अंग्रेजी पत्रकार लिखते हैं। यह उनकी लेखनी की विशेषता थी। हिन्दुस्तान के इतिहास मे वह अभूतपूर्व जन-जागृति का जमाना था। नंगे-भूखे किसानो और काले-कलूटे मजदूरों ने सदियों की नींद से करवट बदली थी। जगह-जगह हड़तालें और असन्तोष के दूसरे प्रदर्शन हो रहे थे। 'राजस्थान केसरी' में असहयोग और मजदूरों व किसानों के लिये दो पन्ने सुरक्षित थे। *उनका सम्पादन मुझे सौंपा गया।* क्रांतिकारियों की उन्मत्त देश-भक्ति और गांधीजी की खुली क्रांति से अनुप्राणित होकर मैं उन दो पन्नों में अपनी सारी आत्मा उंडेलने लगा। उसमें मुझे एक असाधारण संतोष अनुभव होता था। समाचारों में पथिकजी की विराम चिन्हों द्वारा टिप्पणी जोड़ देने की शैली एक ऐसी नवीनता थी जो मुझे भाती थी। थोड़े ही समय में 'राजस्थान केसरी' की राजपूताना व मध्यभारत में चारों तरफ़ धाक जम गई और वर्धा मे भी 'राजस्थान केसरी' कार्यालय राजनैतिक जीवन का मुख्य केन्द्र बन गया। सेठ जमनालालजी की उदारता मे वह आर्थिक दृष्टि से तो निश्चिन्त ही था, उनकी धर्मपत्नी श्रीमती जानकी देवी भी पथिकजी को समय-समय पर अलग से सहायता देती थी। सभाओं में सेठजी के भाषण, पथिकजी की कविताएं और सलाह मशविरे मे 'राजस्थान केसरी' परिवार का सहयोग अनिवार्य था। उन दिनों असहयोग आन्दोलन की मीमांसा पर पं० सुन्दर लालजी के कुछ व्याख्यान हुये थे। इतने शिक्षाप्रद, विवेचनात्मक और ओजस्वी भाषण देने की शक्ति मैंने बहुत कम लोगों मे देखी है। महात्मा भगवानदीनजी के दर्शन भी इसी जमाने मे हुये। अजीब फक्कड़ आदमी और देश के दीवाने दिखाई दिये।

नागपुर की ऐतिहासिक कांग्रेस

दिसम्बर सन् १९२० मे नागपुर की ऐतिहासिक कांग्रेस हुई। सेठ जमनालालजी, राय बहादुरी की उपाधि छोड़ चुके थे। वे स्वागताध्यक्ष हुये। हम लोगों ने देशी राज्यों के अत्याचारों की एक छोटी सी प्रदर्शनी इस अवसर पर संगठित

की थी। यह नई चीज थी। अंग्रेजी राज्य की छत्रछाया का बल पाकर परम्परागत निरंकुशता कैसे रोमाचकारी जुल्म ढाती है, इसका कृत्रिम किन्तु मुंह-बोलता चित्र भारत की राष्ट्रीय आत्मा कांग्रेस के प्रतिनिधियों और दर्शकों ने पहली बार देखा। उस अधिवेशन में देशी राज्यों की दृष्टि से कांग्रेस के विधान में मौलिक परिवर्तन हुये। ब्रिटिश भारत की संकुचित परिधि को छोड़कर कांग्रेस ने सारे हिन्दुस्तान की आजादी प्राप्त करना अपना ध्येय घोषित किया और रियासती प्रजा को कांग्रेस के प्रतिनिधि बनने का हक दिया। उस दिन पथिक जी और उनके साथियों की खुशी का ठिकाना नहीं था। उस समय तक देशी राज्य निवासियों को यह खतरा दिखाई देता था कि ऐसा न हो, अंग्रेजी इलाके के लोग अधिकार पाकर सरकार और राजाओं से कोई ऐसा समझौता करलें जिससे भारत माता के दो भाग हो जायं और कमजोर भाग पराधीन और बेबस बना रहे। नागपुर अधिवेशन ने यह अन्देशा हमेशा के लिये मिटा दिया।

पथिक-गांधी सम्वाद

पथिकजी सेठजी की मार्फ़त महात्मा जी से बम्बई मे पहिले ही मिल चुके थे। महात्माजी ने महादेव भाई को बिजौलिया भेज कर जांच करवा ली थी। किसानों की शिकायतों को सच्ची मानकर वे महाराणा साहब को न्याय करने की प्रार्थना के साथ सूचना भी कर चुके थे कि सारी शिकायतें दूर नहीं हुईं, तो वे खुद बिजौलियों के सत्याग्रहियों के अगुआ बनेंगे। जब नागपुर अधिवेशन में पथिकजी महात्माजी से मिलने गये तो मैं भी साथ था। महात्माजी ने मिलते ही पूछा, "क्यों पथिक जी, असहकार तो छेड़ दिया, मगर वचन आपको पहिले दिया था। कहिये, इसे चला लूं या उसे पूरा करूं ?" पथिकजी ने गद्‌ गद् होकर उत्तर दिया, "नहीं महात्मा जी, आप इस महान कार्य को संभालिये। छोटे छोटे काम तो हम आपके अनुयायी निपटा लेंगे।" नेता और अनुयायी के दिग्दर्शक रूप यह संवाद मुझे अच्छा लगा। उन्हें मेरा चिंचवड़ (पूना) में मिलना याद था, यह देखकर आश्चर्य भी हुआ। उन्होंने पथिक जी के पूछने पर उन्हें असहयोग आन्दोलन में न पड़ कर बिजौलिया सत्याग्रह के स्वधर्म को जारी रखने की ही सलाह दी।

इसी अधिवेशन में कुंवर चांदकरणजी शारदा और पं० गौरी शंकरजी भार्गव से भेंट हुई। इस अवसर पर जो चर्चायें हुईं उनसे मुझे कल्पना हो गई कि देशी राज्यों की समस्या एक अलग और बड़ा सवाल है और उसका रियासती प्रजा के लिये ही नहीं, देश भर के लिये खास महत्व है। एक राजस्थानी की हैसियत से मुझे पता चला कि मेरा धर्म क्या है।

छः राजस्थान सेवा संघ

पथिकजी के दिमाग़ में उन दिनों एक ऐसी संस्था बनाने के विचार चल रहे थे जिसमें युवक लोग राजस्थान की जन्म भर सेवा करने का व्रत लेकर शरीक हों। यह सही है कि दिल में लगन हो तो मनुष्य किसी भी हालत में रह कर देश सेवा कर सकता है। इस तरह के बीसियों उदाहरण दिये जा सकते हैं कि लोगों ने सरकारी नौकरी करते हुये, धन वैभव की गोद में खेलते हुये, सत्ता के आसन पर बैठे हुये और दूसरे धन्धे करते हुये भी समाज की भलाई के काम किये हैं। लेकिन जब किसी देश की आज़ादी का सवाल हो, किसी प्रजा को दासता, दरिद्रता और अज्ञान के गहरे कुएं से निकालना हो और किसी बड़े काम को पूरा करना हो तो मन चाहा फल तभी निकल सकता है जब कम से कम कुछ लोग ऐसे निकलें जिनको एक ही लक्ष्य का ध्यान हो और उसी को पूरा करने में उनकी सारी शक्तियां लगी हों। ये राजनैतिक संन्यासी या मिश्नरी सिर्फ़ भीख मांगकर और दूसरा कोई धन्धा न करके केवल देश का ही काम करने का और वह भी सारा समय लगा कर करने का संकल्प करने वाले ही हो सकते हैं। व्यक्तिगत सम्पत्ति बहुत सी बुराइयों की जड है, लेकिन एक गरीब देश का उद्धार करने वाले सेवकों के लिये तो वह बडी भारी बाधा है। इसी तरह धार्मिक झगड़ों में भाग लेने वाले लोग भी न एक संयुक्त राष्ट्र की रचना कर सकते हैं और न अलग-अलग धर्मों को मानने वाली जनता का ही कुछ भला कर सकते हैं। पथिकजी की सोची हुई संस्था में इन सब सिद्धान्तों के समावेश की कल्पना थी। मैं तो सहमत हो ही गया, लेकिन देशी राज्यों की समस्याओं में रस लेने वाले श्री चांदकरणजी शारदा और स्वामी नरसिंहदेव सरस्वती से जब चर्चा हुई तो खानगी जायदाद और धार्मिक खंडन मंडन के प्रश्नों पर मतभेद रहा। अन्त में पथिकजी, हरिजी और मैं, बस इन तीन सदस्यों से राजस्थान सेवा संघ की स्थापना हुई। पथिकजी अध्यक्ष और मैं मन्त्री चुना गया। यह तय हुआ कि हर सदस्य अपने और अपने आश्रितों के लिये १५ रु० मासिक फ़ी आदमी से अधिक खर्च न ले। मुझे याद है कि संघ के किसी विवाहित सदस्य ने भी ३० रु० माहवार से ज्यादा गुजारे के लिये नहीं लिया। इसमें भी जो बचत होती थी संघ को लौटा दी जाती थी।

सर्वार्पण

नागपुर कांग्रेस में जाते हुए गांधीजी वर्धा ठहरे थे। मैं और अंजना देवी भी उनसे मिले। हमने ग़रीबों की सेवा का निश्चय बताकर आशीर्वाद मांगा। पहले मेरी ओर मुख़ातिब होकर गांधीजी ने पूछा: "तुम्हारे पिता क्या करते हैं?"

मैं: "वकील हैं।"

बापू: "तब तो सम्पत्ति भी होगी, कितनी होगी?"

मैं: "पचास हज़ार के लगभग।"

बापू: "तुम्हारे भाई हैं? कितने हैं?"

मैं: "पांच हैं।"

बापू: "ग़रीबों की सेवा तो ग़रीब बन कर ही की जा सकती है। पिताजी को लिख दो कि मुझे जायदाद का हिस्सा नहीं चाहिये।"

इसके बाद गांधीजी अंजना देवी की ओर मुड़े और बोले: "मारवाड़ी हो तो ज़ेवर तो होगा ही। कितना है?"

अंजना: "कोई तीन चार हज़ार का।"

बापू: "तो ज़ेवर पहन कर गरीबों की सेवा नहीं हो सकती। बीमा पारसल से ससुरजी को लौटा दो।"

हमने दूसरे ही दिन बापू की आज्ञा का पालन कर दिया!

बिजौलिया प्रकरण

इसी अर्से में बिजौलिया से पथिकजी के पास बराबर तकाज़े आ रहे थे कि कोई 'नेता' वहां पर जाय। मेवाड़ में जनता कार्यकर्त्ताओं को इसी नाम से पुकारती थी। पथिकजी बिजौलिया के बारे में महत्वपूर्ण क़दम महात्माजी की सलाह से उठाते थे। वे उन दिनों दिल्ली में थे। हम दोनों वहीं पहुंचे और श्री सत्यदेवजी विद्यालंकार के मेहमान हुए। वे उस समय प्रोफ़ेसर इन्द्रजी के 'विजय' में काम करते थे। उनकी उत्कट राष्ट्रीयता का पता तो उसी समय लग गया। हां, उनकी सम्पादन कला के जौहर बाद में मालूम हुए। दिल्ली के परामर्श के फलस्वरूप मैं बिजौलिया के लिये रवाना हुआ। मामला पेचीदा और मेरे लिये बिल्कुल नया था, मगर पथिकजी ने काफ़ी पट्टी पढ़ा दी थी और मुझमें भी उत्साह, आत्मविश्वास और अनुभव से सीखने की वृत्ति थी।

एक देश भक्त जागीरदार

मैं कोटा पहुंचा। वहां कविराजा दुर्गादानजी की कोठड़ी में बिजौलिया के सत्याग्रही किसानो का एक शिष्ट दल मेरा इन्तजार कर रहा था। कविराजा साहब एक बड़े जागीरदार होकर भी राष्ट्रीय विचार रखते थे, पथिकजी के मित्र थे और उन्हीं के घर बैठ कर एक अर्से तक पथिकजी ने बिजौलिया का आन्दोलन चलाया था। उन दिनों विदेशी नौकरशाही और स्वदेशी चाकरशाही का गठबन्धन मजबूत नही हुआ था और न रियासती कर्मचारी प्रजा के विरुद्ध षड्यन्त्र करने में इतने सिद्धहस्त हुए थे कि एक राज्य में रह कर दूसरे राज्य की प्रजा की भलाई का कोई काम न किया जा सके। इसलिये पथिकजी को न कोटा राज्य की तरफ़ से कोई बाधा हुई और न वहा के उमराव कविराजाजी को पथिकजी के सहायक बनने में कोई संकोच हुआ। सच तो यह है कि सामंतशाही दुर्गादानजी की नम्रता, सज्जनता और सहृदयता को जंग न लगा सकी थी, शोषकवर्ग में पैदा होकर वे अपने को अभागा समझते थे और देश के लिये, ग़रीबों के लिये सब कुछ उत्सर्ग करने के सपने देखा करते थे। जब मैंने पहली बार महात्माजी का यह विचार पढा कि जमीनदार, जागीरदार और पूंजीपति जनता के ट्रस्टी (संरक्षक) बन सकते हैं तो सबसे पहले मेरा ध्यान जमनालालजी पर और फिर कविराजाजी पर ही गया था। लेकिन शायद मेरा भी यह सपना ही था। खैर, उन्होंने किसानों से मेरा परिचय कराया और मैं दिन भर उन लोगों से स्थिति समझता रहा।

सत्याग्रह-भूमि में

दूसरे दिन तड़के ही हम लोगो ने प्रस्थान किया। बीहड़ जंगलो और पहाड़ों को पार करने का, जगत के अन्नदाता किसानो से सीधा सम्बन्ध होने का और किसी सार्वजनिक समस्या को सुलझाने में सहायता देने का मेरे लिये यह पहला मौका था। मेवाड़ी भाषा भी ज़रा अटपटी लगी लेकिन वह मातृभाषा राजस्थानी की एक शाखा थी, थोड़े से सम्पर्क से समझने बोलने की कठिनाई दूर हो गई। शाम होते होते उमाजी के खेड़े पहुचे। यह किसान पंचायत का केन्द्र था। श्री माणिक्यलालजी वर्मा गाव से बाहर ही मिल गये। उनके साथ नन्दाजी धाकड़ भी थे। नन्दाजी के पास एक तोड़ेदार बन्दूक थी। दोनो कोट, धोती और साफ़ा पहने थे।

माणिक्यलालजी

माणिक्यलालजी का दुबला शरीर, धूप से तपा हुआ गोरा रंग, चप्पल और गोल आंखें, ऊंचा ललाट और पतले होंठ उनकी क्रियाशीलता, कष्ट सहिष्णुता,

तेज बुद्धि और दृढ़ संकल्प का प्रदर्शन कर रहे थे। थोड़ी देर की बातचीत से यह भी पता लग गया कि स्थानीय परिस्थिति का उन्हें कितना अच्छा ज्ञान है। बाद के तजुर्बे से तो उनके त्यागी जीवन, कार्य कौशल और पीड़ितों के साथ एक-रस हो जाने की शक्ति वगैरा कई दूसरी खूबियां भी जाहिर हुई। लेकिन उनके व्यक्तित्व में सबसे बढ़िया चीज तो यह पाई गई कि वे देहाती जनता में कितनी आसानी से प्रवेश कर सकते हैं और उसका प्रेम और विश्वास सम्पादन कर सकते हैं। प्रान्त भर में इस बारे मे वे अपना सानी नही रखते। मैं उन्हीं के घर ठहरा और दो एक दिन में ही उनकी पत्नी सौ० नारायणीदेवी के आतिथ्यशील और परिश्रमी स्वभाव का परिचय मिल गया। स्व० महादेव भाई देसाई के बाद बाहर का मैं पहला कार्यकर्ता था जो ऊपरमाल मे खुले तौर पर गया था।

अहिंसक युद्ध की व्यूह रचना

बिजौलिया मेवाड़ का एक प्रथम श्रेणी का जागीरी इलाका था। वहां के उमराव रावजी कहलाते थे जिन्हे महाराणा के दरबार मे सोलह सरदारों में बैठक मिलती थी और पहले दर्जे के मजिस्ट्रेट के अधिकार हासिल थे। यह प्रदेश विन्ध्याचल के ऊंचे पठार पर बसा हुआ लगभग १०० वर्गमील का छोटे-छोटे २०-२५ गांवो का एक समूह है। मुख्य कस्बे की बस्ती ४-हजार और कुछ इलाके की कोई १२००० होगी। अधिकांश किसान धाकड़ जाति के हैं। मौजूदा रावजी के पिता के देहान्त पर सन् १९१६ मे ठिकाना रियासत की मुंसरमात में चला गया। ठाकुर डूंगरसिंहजी भाटी नायब मुंसरिम जागीर का सारा इन्तजाम करते थे। कार्यकर्त्ताओं के निमंत्रण पर पथिकजी सन् १९१७ में बिजौलियां पहुंचे और विद्या प्रचारिणी सभा कायम करके उसकी तरफ से एक पुस्तकालय, एक पाठशाला और एक अखाड़ा चलाने लगे। ऊपरमाल के किसानो में असंतोष पुराना था। पीढ़ियों से वे सख्त बेगार, पचासो अजीब-अजीब लागतो, भारी लगान और मनमाने राजनैतिक जुल्मों की चक्की मे पिसते आ रहे थे। एक दो बार सर उठाने की कोशिश मे कुचले जा चुके थे। आग भीतर चली गई थी लेकिन बुझी नहीं। उस साल लड़ाई के कर्जे के नाम पर ठिकाने ने कमर तोड़ वसूली की थी। किसानों को यह भार असह्य हो गया। पथिकजी की जन्मजात सहानुभूति उनके साथ थी, वे किसानो के नेता बन गये। उनकी कार्य प्रणाली में क्रान्तिकारियों के साहस, लोकमान्य की कूटनीति और गांधीजी के सत्याग्रह का सामंजस्य था। किसानों को उन्होंने सब कष्ट सह कर भी मारपीट न करने और अपनी मांग पर डटे रहने का पाठ पढ़ाया। वे खुद छिप कर रहने लगे और ठिकाने के खिलाफ रियासत में शिकायतों का और अखबारों में प्रकाशन का

दुधारा खांडा चलाने लगे। पंचायत का मजबूत संगठन कर लिया गया। उसकी एक केन्द्रीय कमेटी बनाई गई और गावों में शाखायें स्थापित हो गईं। सभी ग्रामवासी शरीक हुये। आन्दोलन के लिये बाहर से भीख न माग कर किसानों से ही कोष इकट्ठा कर लिया गया। यह स्वावलम्बन आखिर तक रहा और इसी में एक बड़ी हद तक बिजौलिया की सफलता का रहस्य था।

कार्यक्रम

किसानों ने सत्याग्रह छेड़ दिया। ठिकाने की आज्ञायें न मानना, उसे कोई कर न देना और उसकी अदालत व पुलिस से वास्ता न रखना मुख्य कार्यक्रम बना। ठिकाने ने भय, प्रलोभन और दमन के सभी हथियार आजमाये। बूढ़े किसानों के साथ मारपीट की गई, उन्हे जेल में ठूंसा गया, जुर्माने व जब्तियां हुईं और अन्त मे उनकी खड़ी फ़सलें तक नष्ट कर दी गईं। पथिकजी की सूझ विलक्षण थी। उनकी सूचना पर पंचायत ने तय किया कि सत्याग्रह जारी रहे, सत्याग्रही लोग कस्बे में न जायं, शराब छोड़ दें, शादी और मौसर बन्द रक्खें और बिजौलिया की सारी जमीन पड़त रख कर आसपास के ग्वालियर, इन्दौर, कोटा और बूंदी के इलाकों में खाने भर को खेती करलें। किसानों में फूट डालने वाले असर न पड़ने देवें। उनकी आर्थिक शक्ति मजबूत रखने और ठिकाने को झुकाने के लिये यह कार्यक्रम बड़ा जरूरी था। इस पर अमल भी इतनी कड़ाई से हुआ कि पांच छः साल तक ठिकाने को न लगान मिला और न मुकदमें मामले उसकी कचहरी मे गये। शराब की दुकानों पर बहिष्कार रहा और शादी गमी के काम रुके रहे। ठिकाना बुरी तरह कर्जदार हो गया। महाराणा फ़तेहसिंहजी की जागीर विरोधी नीति भी रावजी के खिलाफ़ और सत्याग्रहियों के अनुकूल साबित हुई। किसानों को अपनी शक्ति का ज्ञान और कामयाबी का यकीन हो गया।

पथिकजी की तपस्या

परन्तु इस महान् कार्य मे पथिकजी ने खूब कष्ट उठाये। उन्हें गुप्त जीवन की सारी असुविधायें सहन करनी पड़ीं, रूखी सूखी और समय असमय खाकर संतोष करना पड़ा और कई बार फ़ाका मस्ती में गुजारनी पड़ी। मेह बरसते खेतों में और भयंकर पशुओं से भरे जंगलों में उन्हे अंधेरी रातें बितानी पड़ीं और हरदम एक क्रूर शत्रु के घेरे मे दांतो के बीच जीभ की तरह घूमना पड़ा। कोई आश्चर्य नहीं यदि किसानों ने उन्हें 'महात्मा' की पदवी दी, और उनके शब्द को आज्ञा के रूप में माना। पथिकजी ने इस भक्ति से अपना कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं किया।

वन्देमातरम् का चमत्कार

मैंने देखा उस समय वन्देमातरम् की आवाज ऊपरमाल के कौने-कौने में गूंजती थी। हर स्त्री पुरुष का यही अभिवादन था। एक छोटे से क्षेत्र में मातृभूमि की पूजा के भाव नर नारी, बाल वृद्ध सभी की हृत्तंत्री में बज रहे थे। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि इस धर्म में ये सभी किसान 'आनन्द मठ' के क्रान्तिकारी संन्यासी बन गये हैं। फ़र्क इतना ही था कि वे सशस्त्र विप्लववादी थे और ये नि.शस्त्र सत्याग्रही। पंचायत के संगठन में डाकवाले का पद बड़े भरोसे और महत्व का था। मगर तुलसा भील के रूप मे बिजौलिया के किसानो को एक असाधारण सन्देशवाहक मिला था। उसने सब तरह के भय और प्रलोभनों के ऊपर उठ कर पंचायत की सेवा की थी। चलने वाला इस ग़ज़ब का था कि कई बार सुबह् उमाजी के खेड़े से रवाना होकर शाम को कोटा पहुंच जाता और दूसरे दिन सुबह् लौट आता। इस प्रकार २४ घण्टे में ७० मील का लगातार सफ़र कर लेता था। बिजौलिया ही में मैंने पहले पहल यह भी देखा कि हमारे देहाती संगठन की कुंजी वहां के बड़े बूढ़ों के हाथ में होती है। युवक घर का काम करते हैं और बुज़ुर्ग लोग पंचायत का। वे ही हमारे ग्रामीण समाज के नेता होते हैं और उन्हीं के पास अनुभव, समझदारी और अवकाश भी है।

परिस्थिति अवलोकन

जब मैं बिजौलिया पहुचा तब वहा की यही परिस्थिति थी। किसानों के मुखियो से मिलने और सब हालात समझने के बाद मैंने ठिकाने के रावजी और अधिकारियों से भेंट की। उन पर निराशा छाई हुई थी और वे समझौते के लिये उत्सुक थे। कस्बे के महाजनों ने भी मुझसे 'राजा प्रजा' में मेल कराने की अपील की। वे ज्यादातर बोहरे थे। किसानों ने उन्हें अपना शोषक और ठिकाने का पोषक समझ कर उनका भी बहिष्कार कर रखा था। उनका लेनदेन बंद था। छोटे जागीरदारों की हालत सबसे खराब थी। उनमें से कुछ के करुण सन्देश आये, लेकिन सबसे कड़ा रुख था क़स्बे के युवकों का। इनमें से कुछ राजकर्मचारियों के सम्बन्धी और सब पथिकजी के चेले या अनुयायी थे और उनके गुप्तचरों का काम देते थे। साधु सीतारामदासजी उग्रदल के अगुआ थे। उनका परिचय यहीं हुआ। साधुजी अनुभवी आदमी थे। उनमें अपनी बात दूसरों के गले उतारने की अच्छी शक्ति थी। मेवाड़ी भाषा में संस्कृत की पुट लगाकर वे उसकी समृद्धि बढ़ाने में प्रवीण थे। वैद्यक के चुटकुले और व्यावहारिक युक्तिया उन्हें ख़ूब याद थी। ग्वालियर की जौरण नामक जागीर का मामला साधुजी के हाथों से ही

सुलझा था। वहा की अत्याचार पीड़ित जनता के कष्ट निवारण में श्री चौथमलजी अग्रवाल की सेवाएं भी उल्लेखनीय हैं।

रेज़ीडेण्ट से झड़प

मेवाड में रेजिडेण्ट विल्किसन साहब उन दिनों दौरे पर बिजौलिया आये हुये थे। मैंने उन्हे पक्षियो का शिकार करते हुए जा पकड़ा। किसी अंग्रेज से मिलने का इससे पहले मेरा काम न पड़ा था। उस वक्त गोरी चमड़ी का बड़ा दबदबा था। रियासत में अजंट साहब के पास फटकने मे बडे बडों की हिम्मत नही पडती थी। लेकिन मुझे गाधीजी के आन्दोलन की हवा लग चुकी थी। असहयोग ने भारत की जनता में निर्भयता और अंग्रेज के आतंक और उसकी हकूमत की प्रतिष्ठा की जड़ें हिला दी थी। विल्किसन साहब को मेरा दुःसाहस पसंद तो नही आ रहा था, मगर मुझे टाल नही सके। मैंने उनसे सीधा कहा, "आप सार्वभौम सत्ता के प्रतिनिधि है। यहां की जागीर मे जो जुल्म हो रहे है, उनसे राहत पाने मे आपको प्रजा की मदद करनी चाहिये।" "लेकिन हम रियासत के अन्दरूनी मामलों मे दखल नहीं देते," साहब बोले। मैंने पूछा, "लेकिन आपके निमित्त जो मुफ्त रसद और बेगार ली जाती है, क्या उसे भी आप नही रोक सकते ?" उन्होने मुझे प्रोत्साहन नही दिया और मैं अंग्रेजी राज्य के खिलाफ़ अपना बुरा खयाल मजबूत करके लौट आया।

हिंसामार्ग को अन्तिम प्रणाम

मैं कोई सप्ताह भर बिजौलिया ठहरा हूंगा। जब मैं वहां लौटा तो मेरे हृदय में अनेक प्रेरक स्मृतियों का भण्डार भरा था। इस यात्रा के परिणामस्वरूप मेरे विचारो मे भी एक बड़ी तब्दीली हुई। मैं अब उस षडयन्त्र और स्फुट हिंसा और लूटमार की देश भक्ति के उन्माद से मुक्त होकर जनता की खुली सेवा का कायल हो गया। गाधीजी के सार्वजनिक सत्याग्रह की पहली नकल देश भर में पथिकजी ने की थी। उसका स्वरूप और प्रभाव बिजौलिया मे देख कर उस पर मेरी श्रद्धा हो गई। विप्लववाद के संस्कार तो अब भी थे और मेरा खयाल है कि बाल्यकाल और तरुण अवस्था के संस्कार किसी न किसी रूप में मनुष्य पर क़ायम रहते ही हैं। लेकिन देश सेवा के, भारत की आज़ादी के, उस मार्ग को मैंने सदा के लिये प्रणाम कर लिया।

बेगार विरोधी आन्दोलन

फ़रवरी १६२१ का समय होगा। दीनबन्धु सी० एफ० एंड्रूज की एक लेखमाला अखबारों में निकली। उसमे बेगार प्रथा पर प्रकाश डाला गया था। हम

लोगों ने भी राजस्थान में प्रचलित बेगार की क्रूरताओं के समाचार भिजवाये। उस देवता रूप अंग्रेज को सहसा भरोसा नहीं हुआ कि मानव स्वभाव अंग्रेजी राज्य की छत्रछाया में इतनी हृदयहीनता से काम ले सकता है। लेकिन अधिक प्रमाण मिलने पर वे कायल हो गये। बेगार की उन्होंने 'आधुनिक गुलामी' कह कर तीव्र निन्दा की और उसके उखाड फेंकने के लिये लड़ने से पहले प्रत्यक्ष जांच करने की इच्छा प्रकट की। राजस्थान सेवा संघ ने इस विचार का स्वागत किया और दीनबन्धु को सहयोग देने का वचन लिख भेजा। राजस्थान की पीड़ित जनता की सेवा का यह स्वर्ण अवसर था। हम लोगों ने अपने असली कार्यक्षेत्र में जाने का निश्चय किया। 'राजस्थान केसरी' का मोह ज़रूर था, परन्तु कड़ा जी करके उसे भी सत्यदेवजी विद्यालंकार के सुपुर्द कर दिया। वे कुछ अर्से पहले वर्धा आ चुके थे और पथिकजी की परीक्षा में योग्य पत्रकार ठहर चुके थे। हम तो राजपूताना चले आये, मगर दीनबन्धु का दौरा किसी न किसी कारण टलता गया। उधर बीकानेर के महाराजा गंगासिंहजी ने उन्हें अपनी रियासत में जांच का निमन्त्रण भेज दिया, मगर बाद में ब्रिटिश पार्लियामेंट में सरकार का रुख देखकर मुकर गये। हां, इस विलम्ब से हमें तैयारी का अच्छा मौका मिल गया। राजपूताने के प्रायः सभी और मध्यभारत के बहुत से राज्यों में जगह-जगह 'राजस्थान केसरी' और बिजौलिया सत्याग्रह ने पथिकजी के प्रशंसक और संघ के सहायक पैदा कर दिये थे। पथिकजी के लेखों ने प्रांतीय युवकों में प्रांतीय एकता और स्थानीय देश प्रेम जगाना शुरू कर दिया था। ये सब लोग बेगार के बारे में सामग्री जुटाने में लग गये और हमारे मार्च १६२१ में अजमेर पहुंचते-पहुंचते स्थान-स्थान से बेगार पीडितों की करुण कथा के पुलन्दे आने लगे।

पं० नयनूरामजी

हम कोटा होकर गये थे। वहां स्व० पं० नयनूरामजी शर्मा से मेरी पहली मुलाकात हुई। ये पुलिस थानेदार की नौकरी छोड़कर राजनैतिक मैदान में आये ही थे। पहला काम उन्होंने बेगार निवारण का हाथ में लिया। देश का वातावरण अनुकूल था और कोटा में महाराव उम्मेदसिंहजी जैसे दमन विरोधी शासक और चौबे रघुनाथदासजी जैसे समझदार दीवान थे। नयनूरामजी को अच्छी सफलता मिली और बेगार की सख्तियों में कमी करने का सुयश राजपूताने में सबसे पहले कोटा को आसानी और खूबसूरती से मिल गया। त्याग और श्रेय की इस भूमिका के साथ शर्मा जी मिले। सांवला रंग, हृष्ट पुष्ट शरीर, नंगा सिर, मोटे खद्दर का कुर्ता और ऊंची धोती, हाथ में एक लठ और मुक्त हास्य–ये सब देखते ही पता लग गया कि आदमी फक्कड़, निर्भय और देहाती जीवन का अभ्यस्त है। उनकी

बातचीत में अतिशय साफ़गोई होती थी। वे प्रांत के पहले कार्यकर्त्ता थे, जिन्होंने सिंह की दाढ़ी उसकी गुफा मे पकड़ी थी, उन्होंने रियासत के भीतर बैठ कर उससे खुली लड़ाई ली और जब तक जिये अखबारो में अपने नाम से अधिकारियों की कड़ी टीका करने मे न चूके। वे संघ के चौथे सदस्य थे। हम कोटा के शिक्षा विभाग के डायरेक्टर श्री दयाकृष्ण एम० ए० से मिले। 'राजस्थान केसरी' में कोई संवाद छपा था जिसे उन्होंने मान हानिकारक समझा। एक पत्रकार को सत्य पर दृढ़ रहने और जनता के उपयोगी बनने के लिये कितनी खोज के साथ सामग्री प्राप्त करनी चाहिये इसका पहला पाठ मुझे इस प्रसंग से मिला। अस्तु, दुर्भाग्यवश नयनूरामजी आज हमारे बीच मे नही हैं। उनकी मृत्यु बहुत ही दुःखद परिस्थितियों मे हुई। उनके हत्यारो का रियासत पता न चला सकी लेकिन उनके जीवन का जिस प्रकार अन्त हुआ वह हम सभी कार्यकर्त्ताओं के लिये शिक्षाप्रद है। उनकी रचनात्मक प्रतिभा भी कम नही थी। उसका प्रमाण था हाड़ौती शिक्षा मंडल। इस संस्था के द्वारा उन्होंने राजा और प्रजा के सहयोग से कोटा राज्य में बरसो तक एक दर्जन से अधिक ग्रामीण पाठशालाएं चलाई। इनके द्वारा देहातों जनता मे शिक्षा का प्रचार और साथ-साथ हरिजन सेवा और समाज सुधार का काफ़ी काम किया गया। अवश्य ही वे हाड़ौती के प्रथम और एकमात्र नेता थे।

सात वापस वीर भूमि में

पथिकजी वगैरा अजमेर पहुंच गये थे। मैं जब कुछ दिन बाद पहुंचा तो घासीरामजी की धर्मशाला में संघ का दफ़्तर खुल गया था। जगह-जगह से बेगार विरोधी आन्दोलन की ख़बरें आने लगी थी और हम लोग रोज़ उनका सार प्रेस तारों और डाक द्वारा समाचार पत्रों में भिजवा रहे थे। मैंने आते ही दो नई मूर्तियां देखीं। एक तो थे खरवा के पुरोहित मोड़सिंह। ये खरवा राव साहब के आदमी और पथिकजी के पुराने साथी थे। बहुत कम पढ़े लिखे किन्तु बड़े साहसी और होशियार थे। शुरू में बेगूं का काम उन्हीं ने जमाया था।

शोभालालजी

दूसरा व्यक्ति एक बिलकुल श्यामवर्ण, एक हाथ टूटा हुआ, अत्यन्त मितभाषी और संकोचशील निमूंछिया जवान था। ये एक कौने में बैठे साइक्लोस्टाइल पर कुछ लिख रहे थे। पथिकजी से पूछने पर मालूम हुआ कि ये उनके बिजोलिया के शिष्य शोभालालजी गुप्त हैं जो अजमेर के डी० ए० वी० स्कूल की नवें दर्जे की पढ़ाई छोड़ कर असहयोग की पुकार पर हाल ही में निकल आये थे। इन जैसे मूक सेवक, विचारशील साथी, नपा तुला लिखने वाले योग्य पत्रकार बिरले ही देखे गये हैं। इनमें अपने आप दूसरों के उदाहरण से सीखने की अद्भुत शक्ति है। ये संघ के पाचवें सदस्य बने।

अजमेर की गतिविधियां

अजमेर में पहली राजनैतिक कान्फ़रेन्स तो पहले ही हो चुकी थी। उसमें लोकमान्य तिलक पधारे थे और डा० अन्सारी अध्यक्ष हुए थे। इस समय अजमेर में परिषद् का दूसरा जल्सा हुआ। पं० मोतीलालजी नेहरू सभापति थे। मौलाना शौकतअली भी तशरीफ़ लाये थे। परिषद् में बड़ा जोश था। यहीं खरवा के राव गोपालसिंहजी को देखा। बुढ़ापा आ चला था, मगर उनके बांकेपन में फ़र्क़ नहीं पड़ा था। साथ ही उनके राजपूत प्रधान विचारों में भी अन्तर नहीं आया था। उन्होंने कान्फ़रेन्स में बेगार विरोधी प्रस्ताव की मुख़ालिफ़त की थी। संघ के वे उम्र भर विरोधी रहे। मगर जिन लोगों ने उनका अन्तकाल देखा है उनसे मालूम होता है कि उनकी आस्तिकता कितनी ग़जब की थी। इसी परिषद् में स्वर्गीय

मणिलालजी कोठारी से परिचय हुआ। पहली पहचान मे ही उनकी स्नेह और भावनाशील प्रकृति का पता चल गया। फिर तो वह परिचय बढ़ता ही गया और एक समय वह आत्मीयता की हद तक पहुंच गया। जब तक राजस्थान सेवा संघ रहा वे सदा, उसे अपनी संस्था और हम लोगों को अपना परिवार समझते रहे। जब कभी अजमेर आते हमारे यहीं ठहरते, हमारे कष्टो मे सहायक और शरीक होते, संघ के लिये सहायता जुटाते और अपने दिल और दिमाग के गुणो का दिल खोल कर लाभ देते। राजस्थान के दुर्दैव ने उन्हे असमय ही उठा लिया।

अजमेर के नेता

घासीराम की धर्मशाला उन दिनो अजमेर की राष्ट्रीय हलचलो का केन्द्र थी। पास ही प० गौरीशंकरजी का मकान था। वे अजमेर के पहले रईस थे जिन्होने विदेशी कपड़े के व्यापार को लात मार कर गाधीजी की जोखम भरी राजनीति मे प्रवेश किया था। उनका परिवार भी इस काम मे उनके साथ था। धर्मशाला के नीचे के भाग में राष्ट्रीय स्कूल चलता था और श्री अकरमशाह और मास्टर कर्मवीर (रतनलालजी) उसके संचालक थे। कांग्रेस दफ़्तर स्वामी नृसिंहदेव सरस्वती के. हाथ मे था। श्री चादकरणजी शारदा वकालत छोड़ चुके थे। मुसलमानो मे इस्लाम के अद्वितीय विद्वान मौलाना मुईनुद्दीन, अलीगढ़ के प्रतिभाशाली ग्रेजुएट और युवक वकील मिर्ज़ा अब्दुल क़ादिरबेग और मौलाना के छोटे भाई प्यारे मिया काम कर रहे थे। इनके साथ मिर्ज़ा यूसुफ़ बेग, सय्यद अब्बास अली और डा० अब्दुल अजीज वग़ैरा साहबान भी थे। कार्यकर्ताओ का अजमेर मे खूब प्रभाव था। जब भार्गवजी कौमी जुलूसो के आगे घोड़े पर सवार होकर निकलते, शारदाजी अपने निर्भीक भाषण देते, स्वामीजी जोशीली नज़मे गाते और मौलाना सीधी तीर सी तक़रीरें करते थे तो एक अजीब समा बंध जाता था। मिर्ज़ाजी के अंग्रेज़ी मस्विदो की राष्ट्रीय हल्को मे हर जगह माग रहती थी। बाबू मथुराप्रसादजी शिवहरे कांग्रेस के अर्थमन्त्री और कताई बुनाई विभाग के संचालक थे। श्री ललिताप्रसाद शाद की नज़मे भी कौमी जल्सों की रौनक थी।

बेगूं में जागृति

बीज छोटा होता है मगर उसका फैलाव एक बड़े पेड़ के रूप मे होता है। इसी तरह बिजोलिया के सत्याग्रह का असर आसपास फैलने लगा। पड़ोसी जागीर बेगूं के किसानों को भी लगभग वैसे ही कष्ट थे जैसे बिजोलिया वालो को थे। जनता के सामाजिक सम्बन्ध भी नज़दीकी थे। धाकड़ों की वहा भी प्रधानता

थी। उन्होंने बिजोलिया में ठिकाने के दमन की निष्फलता और सत्याग्रहियों की विजय के आसार देख लिये थे। अब तक वे समझते थे कि राज का मारा राम को ही पुकार सकता है, लेकिन अब उन्हें बीच की एक तीसरी शक्ति भी मैदान मे नज़र आ रही थी। उन्हे पता लगा कि जिन बुद्धिशाली और पढ़े लिखे लोगों को अब तक देहाती जनता ने शोषक और पीड़क के रूप मे ही देखा था, उनमे परोपकारी और सेवक भी होते है। सार यह कि उन्हें सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं का भी परिचय हो गया था। पैरों तले रौंदे हुए चींटे की तरह उन्होंने करवट बदली। उनके प्रतिनिधि सेवा संघ के दफ़्तर में पहुंचे। उनके साथ मुझे मेवाड़ के प्रधान मन्त्री दीवान बहादुर दामोदरलालजी भार्गव के पास भेजा गया। दीवान साहब भले किन्तु कमज़ोर आदमी लगे। अंग्रेज़ रियासतो मे ऐसे बहुत से कर्मचारी भेजते थे जिनकी कार्यशक्ति क्षीण हो चुकी हो, आखिरी उम्र में अधिक से अधिक रुपया कमा लेने के सिवाय जिनमे काम या देश सेवा करने का कोई उत्साह बाकी न रहा हो और जिनकी नस-नस मे विदेशी हुकूमत की वफ़ादारी भरी हो। दामोदरलालजी ने रस्म के अनुसार जांच करने का वचन देकर हमे विदा किया। अजमेर लौटने पर मुझे बेगूं भेज दिया गया। जैसे बिजोलिया इलाके को उधर के लोग ऊपरमाल कहते है, वैसे बेगूं क्षेत्र को 'आतरी' के नाम से पुकारते हैं। आतरी पहुंच कर मैंने किसान पंचों से परिचय किया, उनका मामला समझा और पंचायत मे भाषण दिया। दूसरे दिन सार्वजनिक सभा हुई। तीसरे पहर तक गावों से किसान स्त्री पुरुषो के झुण्ड के झुण्ड आते रहे। बेगूं के सत्याग्रह मे रायता गांव का वही स्थान था जो बिजोलिया मे उमाजी के खेड़े का था। रायता के पास एक खेत में सभा हुई। जागीर के कुछ कर्मचारी घुड़सवारों के साथ मौजूद थे। अन्देशा था कि वे बल प्रयोग करेंगे और कोई दुर्घटना होगी। मगर दोनो पक्षो ने संयम से काम लिया। सरकारी टुकड़ी के अफ़सर बनेड़ा के एक शिक्षित युवक श्री लक्ष्मीनारायण ओझा थे। मेरे चले जाने के बाद इनकी मातहती में किसानो पर गोली चली, वे थोड़े समय बाद बेगूं से अलग कर दिये गये और फिर उन्हे लकवा हो गया।

संघ की कार्यप्रणाली

संघ के आन्दोलन की पद्धति संक्षेप में यह थी कि जब किसी इलाके के लोग अपने कष्टों के निवारण में सहायता लेने आते तो किसी विश्वस्त कार्यकर्त्ता को उस क्षेत्र में भेजा जाता। वहां पहुंच कर वह जनता के कष्टों की जांच करता और उनकी पंचायत का प्रतिनिधि ढंग पर संगठन कर देता। पंचायत संघ में अपना विश्वास प्रकट करते हुए उसके नेतृत्व में काम करने की मंज़ूरी लिख कर

दे देती। संघ की सलाह के अनुसार पंचायत अपनी मांगें ठिकाने और रियासत के सामने दरखास्तों के रूप में पेश कर देती। काफ़ी समय तक इन्तज़ार करने के बाद सुनाई न होती तो किसान ठिकाने के प्रति सत्याग्रह का एक या एक से अधिक कदम उठाते। संघ की ओर से कम से कम एक कार्यकर्ता किसानों को रास्ता दिखाने के लिये उन्ही में रहने के लिये भेज दिया जाता। उसकी सलाह से पंचायत लोगों से निश्चित कार्यक्रम पर अमल करवाती। इधर संघ जनता की शिकायतों का अखबारों मे प्रकाशन करता। पंचायत के साप्ताहिक अधिवेशन जरूर होते थे। उनमें गांव-गांव के प्रतिनिधि आते थे और सप्ताह भर की खास खास घटनाओं पर विचार करते थे। कार्यक्रम में खादी-प्रचार, नशा-निषेध, शिक्षा-प्रसार, कुरीति-निवारण, एकता-स्थापन और राज्य व ठिकाने के हानिकारक प्रभावों को रोकना मुख्य अंग होते थे। ब्रिटिश अधिकारियों के हस्तक्षेप से हमेशा परहेज़ किया जाता था, समझौते की हमेशा वैसी ही तैयारी रखी जाती थी जैसे कष्ट सह कर लड़ने की और जनता की तरफ़ से हिंसा न होने देने की सावधानी रखी जाती थी। बच्चों, स्त्रियों और युवकों में उपयुक्त गीतों द्वारा उत्साह कायम रखने की बराबर कोशिश की जाती थी।

पथिकजी का त्याग

जब मैं बेगूं से लौटकर अजमेर पहुंचा तो सेवा संघ का कार्यालय घासीरामजी की धर्मशाला से बंबैयों के नोहरे में चला गया था। पथिकजी को संग्रहणी हो गई थी, फिर भी वे दिन रात काम में लगे रहते। न खुद आराम लेते, न औरों को चैन से बैठने देते। औसतन सोलह-सोलह घंटे तो काम रहता ही था। मैंने एक बार चार साल का हिसाब लगा कर देखा तो पथिकजी का औसत खर्च ८ रु० मासिक से ज्यादा नहीं निकला। यों तो सेवा संघ के सभी कार्यकर्त्ताओं पर बहुत कम खर्च होता था परन्तु प्रथम श्रेणी के कार्यकर्त्ताओं में मेरी जानकारी में मेहनती और कम खर्च करने वाले पथिकजी जैसे बहुत कम होंगे।

गांधीजी की राय

पथिकजी और उनके संघ की ख्याति और शक्ति से अप्रसन्न होकर अजमेर के कुछ नेताओं ने एण्ड्रूज साहब को कुछ शिकायतें भेजीं ताकि साहब बंगाल से सिलसिले में संघ के निमन्त्रण पर राजस्थान न आयें और पथिकजी की कीर्ति न बढ़े। इस पर कलकत्ते में जो कुछ हुआ उसका वर्णन पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने यूं किया है :—

"सन् १९२० या २१ की बात है :—

देश बन्धु सी० आर० दास के मकान पर महात्मा गांधीजी व भारत भक्त ऐण्ड्रूज बातचीत कर रहे थे। वहीं बैठा हुआ मैं भी इस वार्तालाप को सुन रहा था। कुछ देर बाद मि० ऐण्ड्रूज ने कहा, 'महादेव भाई कहां है?' महात्माजी ने उत्तर दिया, 'वे कहीं बाहर गये है, क्या आपको उनसे कुछ काम है?' मि० ऐण्ड्रूज ने कहा, 'पथिक के विषय मे उनसे कुछ पूछना था, कौन हैं, कैसे आदमी हैं?' महात्माजी मुस्कराते हुए बोले:—

'I can tell you something about Pathik. Pathik is a worker, others are talkers. Pathik is a soldier, brave, impetuous, but obstinate. He was Mahadev's infallible guide in Bijaulia and the remarkable thing is that the masses of Bijaulia have implicit confidence in him.'

'मैं आपको पथिक के बारे में कुछ बतला सकता हूं। पथिक काम करने वाला है, दूसरे सब बातूनी हैं। पथिक एक सिपाही आदमी है, बहादुर है, जोशीला है—लेकिन जिद्दी है। जब महादेव बिजोलिया गये तब पथिक उनके निर्भ्रान्त साथी थे। महत्वपूर्ण बात तो यह है कि बिजोलिया की जनता का उन पर पूरा-पूरा विश्वास है'।"

डाक्टर अम्बालालजी और पं० रामचन्द्रजी वैद्य अजमेर मे संघ के खास सहायक थे। डाक्टर साहब का तो पथिकजी से पहले का परिचय था। वे उदयपुर में पथिकजी और 'प्रताप' के सम्वाददाता रह चुके थे। इन दोनों के सहायक नाथूरामजी कम्पोण्डर का हार्दिक सहयोग भी बराबर मिलता रहा।

संघ की नीति

सेवा संघ की नीति थी अन्याय का विरोध करने की। जागीरदार प्रजा को सताता तो संघ प्रजा का पक्ष लेता। राजा जागीरदार पर ज्यादती करता तो संघ-की सहानुभूति जागीरदार के साथ होती और राजा पर ब्रिटिश सरकार अनुचित दबाव डालती तो संघ राजा की मदद करता। इन दिनों धौलपुर के जाट शासक ने झिरी के ठाकुरों को कुचलने की ठान ली थी। रियासत ने झिरी के किले पर हमला कर दिया था और दोनों तरफ़ से तलवार बजने लगी थी। सेवा संघ की ख्याति प्रान्त भर मे फैल चुकी थी। जहां किसी के साथ राजसत्ता की तरफ़ से बेइन्साफ़ी हो तो वह दौड़ कर सेवा संघ मे जाता। झिरी के ठाकुर आये। उन्हें सलाह और सहायता दी गई, उनके मामले के असली हालात अखबारों में भी छपाये गये और अधिकारियों के सामने रखवाये गये।

बेगूं का मामला बढ़ता आ रहा था और बिजोलिया का सत्याग्रह शांत गति से चल रहा था। इधर अजमेर मेरवाड़ा में कांग्रेस की शक्ति बढ़ रही थी। ब्यावर में सेठ घीसूलालजी जाजोदिया और स्वामी कुमारानन्दजी काम कर रहे थे। पं० गौरीशंकरजी भार्गव वगैरा तिलक स्वराज फंड के लिये इन्दौर से काफ़ी रुपया जमा करके ले आये थे।

शान्ति-निकेतन यात्रा

उधर एण्ड्रूज साहब का बेगार-विरोधी दौरा बराबर मुल्तवी हो रहा था। मुझे उनसे मिलने शान्ति निकेतन भेजा गया। पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी वहीं रह कर प्रवासी भारतीयों का काम कर रहे थे। मैं पहले उन्हीं से मिला। पहली भेंट में जो स्नेह सम्बन्ध बना वह चिरस्थायी हो गया। वे पथिकजी और राजस्थान सेवा संघ के कार्य के प्रशंसक थे। उन्हीं को साथ लेकर मैं एण्ड्रूज साहब से मिला। मिलते ही उन्होंने मुझे बाहुपाश में जकड़ लिया। बेगार के सम्बन्ध में जी भर कर चर्चा हुई। उन्होंने इस राक्षसी प्रथा के उन्मूलन के लिये राजस्थान आने का संकल्प दोहराया, परन्तु दुर्भाग्य से किसी न किसी कारणवश वह पूरा नहीं हो सका। फिर भी शान्ति निकेतन की अनूठी और महान् संस्था को तो देखा ही, गुरुदेव के दर्शन और प्रवचन का लाभ भी लिया और उनके बड़े भाई, आश्रम के 'बड़े दादा' के भी चरण छुए और आशीर्वचन सुने। वहां के प्रेमपूर्ण, दंड विहीन और उन्मुक्त वातावरण तथा प्राकृतिक सौन्दर्य का एक सुन्दर सुखद चित्र अपने हृदय-पटल पर अंकित करके लौटा।

बेगार का जन्म

इधर जनता में जगह-जगह इस राक्षसी प्रथा के खिलाफ़ आन्दोलन उठ खड़े हुये थे। उन्हें संभाल सकना सेवा संघ के लिये मुश्किल हो रहा था। हम लोगों का यह हाल था कि आज एक पैर कहीं है तो दूसरा कहीं। राज्य सत्ताएं इस असाधारण और एक साथ प्रकट होने वाले असन्तोष से घबड़ा उठी थी। अनेक रियासतों ने ऐसे नियम तो घोषित कर दिये जिनसे मुफ्त सवारी, मजदूरी या सामान लेना मना कर दिया गया और मावजे की दरें बढ़ा दी गईं, लेकिन रोग इतना गहरा था कि इन ऊपरी उपचारों से कोई स्थायी या मौलिक लाभ सम्भव नहीं था। बेगार मूल में एक अच्छी भावना से शुरू हुई प्रथा जान पड़ती है। पूर्वकाल में जब राजा प्रजा के सम्बन्ध विशुद्ध थे, राजा सचमुच प्रजा को पुत्र समझता था और प्रजा उसे पिता मानती थी, तब प्रजा ने भक्तिभाव से तय किया होगा कि राजा

आवे तो उसका सब काम मुफ़्त किया जाय, उसे सब सामान बिना मूल्य दिया जाय और सवारी का प्रबन्ध भी लोगों की तरफ़ से भेंट स्वरूप ही हो। मध्यकाल में जब हमारे राजा लोग लड़ाई मे लगे रहते थे तो देश की रक्षा के लिये प्रजा से उन्हें मज़दूरी, सामान और सवारी के रूप मे स्वेच्छापूर्वक और बिना मूल्य के मदद मिलना स्वाभाविक था।

साम्राज्य की काली छाया

आगे चल कर अंग्रेज़ी राज्य ने जब हमारे राजाओं को अपनी छत्रछाया में ले लिया और भीतरी व बाहरी शत्रुओं से उन्हे अभयदान दे दिया तो वे सहज ही निरंकुश हो गये और प्रजा के बजाय विदेशी शासकों को सन्तुष्ट रखने की उन्हे अधिक चिन्ता होने लगी। राजाओ ने बेगार को हर समय की और ज़बरदस्ती की चीज़ बना डाली। जैसे जैसे अंधा धुन्धी बढ़ती गई, उनके नौकर चाकर भी अपने को बेगार लेने के हक़दार समझने लगे। बात यहा तक बढ़ी कि जिस समय राजस्थान सेवा संघ ने बेगार विरोधी आन्दोलन हाथ में लिया प्रांत के अधिकांश भागो में यह हाल था कि प्रायः देहात में, अक्सर कस्बों में और बहुत से शहरों तक मे फ़रज़ी से लेकर प्यादे तक ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ग के सिवाय हर समुदाय से बहुत से काम जबरन और मुफ़्त करवाते और सामान व सवारी लेते थे। प्रजावर्ग को इन्कार करने का कोई हक न था, या यों कहिये कि कोई साहस न होता था। शादी, ग़मी, रोग, मौसम, फ़सल या कामकाज की मजबूरियों का भी शायद ही लिहाज़ रखा जाता था। गाली गलोज, मारपीट और दूसरे ज़ुल्म के तरीको से काम लेना मामूली बात थी। कहीं-कहीं थोडी सी कीमत दे दी जाती थी। कई जगह कारकुन लोग झूठी रसीदों पर बेगारियों से अंगूठे की निशानी करा लेते और सारा या अधिकाश पैसा खुद हज़म कर जाते थे। बेचारे हरिजनों को तो बेगार के मारे दूसरे कामों के लिये फ़ुरसत मिलना ही मुश्किल था। उनका दूसरा नाम ही बेगारी पड़ गया। बेगार मे जाने वाली स्त्रियों की इज्जत पर भी कभी-कभी हमले हो जाते थे।

रसद की बुराई

रसद का यह तरीका था कि छोटे से छोटा कर्मचारी भी किसी गांव मे जाता तो व्यापारी व दुकानदारों को उसके डेरे पर जाकर सामान तोलना पड़ता था। वहां उन्हे अक्सर गाली गलौज और कई बार मारपीट का सामना करना पड़ता था। पूरे दाम हमेशा नहीं मिलते थे और चीज़ भी सवाई ड्योढ़ी देनी पड़ती थी। इसी तरह किसानों से हल छुड़ा कर उनके ऊंट, बैल और गाड़ियां पकड़ ली जाती थी।

लाग बाग का अभिशाप

बेगार की जांच के सिलसिले में राजस्थान की चार बुराइयां और सामने आयीं। एक तो लागतों की। ये वे कर थे जो लगान के अलावा किसानों और प्रजाजनों को राज्य या खास कर जागीर में देने पड़ते थे। कहीं-कहीं इन्हें लाग बाग के नाम से भी पुकारा जाता था। इनकी जड़ भी प्रजा की वही भावुकता या राजभक्ति थी जिसके आधीन बेगार प्रथा जारी हुई। प्रजा ने राजा को उसकी आवश्यकता की चीजें सौगात के तौर पर देना शुरू किया और राजा ने उसे नियमित रूप दे दिया। फिर राजा की देखा देखी उसके नौकर भी वे ही चीजें भेंट स्वरूप लेने लगे। आगे चल कर चीज के बजाय उसका मूल्य वसूल होने लगा और इन्कारी या मजबूरी की सूरत में बल प्रयोग किया जाने लगा। इन लाग बागों में से कुछ तो अजीब थीं। बिजौलिया में घुड़पड़ी नाम की एक लागत थी। उसका किस्सा यूं बताया जाता है कि एक बार रावजी शिकार के लिये गये तो उनकी घोड़ी किसी गांव के पास थक कर गिर पड़ी और मर गई। ग्रामवासियों को यह गवारा न हुआ और उन्होंने एक अच्छी घोड़ी रावजी को भेंट कर दी। बस फिर तो वह हर साल हर गांव से ली जाने वाली लागत बन गई। इसी तरह बेगूं के रावजी की हीजड़ों पर कृपा हुई तो उनके लिये ठिकाने से एक सालाना रकम बंध गई। हीजड़े होशियार थे। उन्होंने 'अन्नदाता' से अर्ज करके उसे हर गांव से वसूल होने वाली मासिक लागत के रूप में तब्दील करवा दिया। कहीं इनकी संख्या ८० तक पहुंचती थी। हिसाब लगाने पर पता चला था कि बिजौलिया के किसान को लगान और लागतें चुकाने के बाद जमीन की पैदावार में से सिर्फ १३ फ़ी सदी के करीब बचता था। यदि वह पशुओं का घी बेच कर थोड़ी आमदनी न कर लेता तो उसका रोज का गुजर भी होना कठिन था। इससे अन्दाज किया जा सकता है कि राजस्थान में निरंकुश शासक प्रजा का किस बेदर्दी के साथ शोषण करता था। इसलिये बेगार के साथ साथ लाग बाग का भी जनता ने सख्त विरोध किया और अनेक रियासतों में लागतों की संख्या और सख्ती दोनों में कमी हुई।

दास प्रथा

तीसरी बड़ी बुराई दास प्रथा की थी। यह सभी राजपूत राज्यों में पाई जाती थी। इसका स्वरूप यह था कि हर राजा और जागीरदार के यहां हैसियत के अनुसार एक संख्या ऐसे स्त्री पुरुषों की होती थी जिन्हें रावणा, दरोगा, चेले, चाकर या खानम कहते थे। ये लोग सचमुच गुलाम होते थे। ये मालिक के पुश्तैनी नौकर होते थे। उन्हें नौकरी छोड़कर जाने का हक नहीं होता-और जो

भाग जाते उन्हे रियासत में राजा या जागीरदार के असर से और बाहर चोरी वगैरा का इल्जाम लगाकर पकड़वा लिया जाता। फिर मालिक उसे हर तरह सता कर कसर निकालता था। खाने को बेचारों को घटिया अनाज और मालिक की जूठन दी जाती और पहनने को उतरे हुए कपड़े। स्वामी के घर कोई शादी ब्याह होता तो दास दासिया दहेज मे दी और ली जाती। नाम को इनकी शादियां आपस मे कर दी जाती मगर उनके शरीर का स्वामी जागीरदार या राजा ही होता था। सामन्तशाही के षड्यन्त्र, हत्या और दूसरे बुरे से बुरे काम इन लोगों से कराये जाते। इन लोगो को रखा ही इस ढंग से जाता और शिक्षा ही ऐसी दी जाती कि उनमे मनुष्योचित ग्लानिया बहुत कम बाकी रहती। ब्रिटिश सरकार से यह सब छिपा नही था। फिर भी उनका यह दावा रहा कि उसके साम्राज्य ने संसार मे गुलामी की प्रथा मिटा देने के लिये कुर्बानियां की है। परन्तु भारत में इसी ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर और अंग्रेज अधिकारियों की नाक के नीचे यह प्रथा जीती जागती मौजूद रही। इसी तरह राष्ट्र संघ में ब्रिटिश प्रतिनिधियों को मानना पड़ा कि हिन्दुस्तान मे दासत्व और उससे मिलती जुलती बेगार आदि प्रथाएं विद्यमान हैं, लेकिन उन्होंने यह भी बहाना किया कि इन्हे मिटाने के लिये दबाव डाला जा रहा है। किन्तु इस वचन के बाद भी राजस्थान में कई लाख स्त्री पुरुष दास प्रथा का अभिशाप भुगतते रहे। भोगे भी क्यो नही, जब राजपूताना के ए०जी०जी० सर टॉमस हॉलेण्ड जैसे जानकार और बड़े अफ़सर तक हिन्दुस्तान छोड़ने से पहले बेगार प्रथा की तारीफ़ कर गये हों।

बेगार की तरह राजपूतो के अलावा दूसरे राजवर्गी लोगों में दास प्रथा के उन्मूलन या उसकी भीषणता में बहुत बड़ी कमी करवाने में तो राजस्थान सेवा संघ का आन्दोलन सफल नहीं हुआ क्योंकि इसके शिकार बहुत ही निःसत्व हो चुके थे। लेकिन अंधकार में फलने फूलने वाली यह गंदगी प्रकाश में काफ़ी आई। इससे पीड़ित समुदाय के कई व्यक्तियों में मानव-गौरव की भावना जागृत हुई और उसकी रक्षा के लिये कुछ भीतरी प्रयत्न भी हुए।

साहूकारी या बेईमानी

चौथी बुराई साहूकारी प्रथा की देखी गई। असल में तो इसका नाम बेईमानी प्रथा होना चाहिये था क्योंकि जिस समय का जिक्र है उस समय सहयोग की मूल भावना लेन देन के व्यवहार में तो प्रायः नष्ट हो चुकी थी और केवल हृदयहीन शोषण बाक़ी रह गया था। मैने इस प्रथा का परिणाम आंखों देखा है और मुझे कई बार लज्जा अनुभव हुई है कि मैंने एक ऐसे समुदाय और परिवार में जन्म लिया था जो इस शोषण का गुनाहगार था। इसमें साहूकार या बोहरा

धुरियों या आसामियों की दरिद्रता, अज्ञान और विवशता का लाभ उठा कर बेईमानी व जालसाजी से उनका खून चूस लेने में भी नहीं हिचकिचाता। मुझे इस बात का संतोष है कि राजस्थान सेवा संघ ने अपने आन्दोलन में इस शोषण का कस कर विरोध किया और मुझे उसमें भाग लेकर थोड़ा प्रायश्चित्त करने का मौका मिला। संघ के आन्दोलन के फलस्वरूप साहूकारों की भयंकर सूदखोरी, झूठे हिसाब बनाना, गलत खोटे देना, सस्ता लेना, मंहगा देना आदि में कमी हुई। कई जगह बेमियाद कर्जे छोड़ दिये गये या बहुत कम कर दिये गये, ब्याज की दरें घटा दी गईं और ऐसी पाबन्दी लगा दी गई जिससे साहूकार अनुचित लाभ न उठा सके।

कन्यावध का पाप

एक और बुराई छोटे राजपूतों या भौमियों में कन्या वध की थी। यह प्रथा सब जगह तो नहीं थी, पर थी बड़ी अमानुषिक। इसका जोर जयपुर के शेखावाटी इलाके में और मेवाड़ में अधिक था। दहेज की कुरीति और जाति के झूठे घमंड ने मनुष्यों को इतना हृदयहीन बना दिया कि वे जन्मते ही अपनी सुकुमार बालिकाओं का गला घोट देते। इस बारे मे प्रकाशन के सिवा कोई खास नतीजा निकला मालूम नहीं होता।

सेठीजी की लोकप्रियता

जिस समय सेवा संघ के ये तरह-तरह के आन्दोलन चल रहे थे, पं० अर्जुनलालजी सेठी मध्यप्रान्त और भारत के दूसरे प्रान्तों मे यश प्राप्त करके अजमेर लौट आये थे। उस वक्त वे ही प्रान्त के प्रमुख राष्ट्रीय नेता थे। उनका प्रभाव इतना था कि एक समय उनकी खादी की टोपी ११०० रु० में नीलाम हुई और जब उन्हें मध्यप्रान्त की सरकार के वारंट पर गिरफ्तार करके सिवनी ले जाया जा रहा था तो जनता रेल पर उलट पड़ी और बड़ी देर तक गाड़ी को न चलने दिया। आखिर सेठीजी और भार्गवजी के समझाने पर भीड़ हटी।

एक घटना और हुई। पथिकजी के हाथों में उस पत्र की नकल आ गई जो राजपूताना के ए० जी० जी० हॉलेंड साहब ने महाराणा फ़तहसिंहजी को लिखा था। उसमें उस स्वाभिमानी शासक से गद्दी छोड़ने की साफ़ तौर पर मांग की गई थी और मेवाड़ के जन आन्दोलन की व्यापकता और उग्रता पर भय प्रकट करते हुए और उससे पड़ौस के ब्रिटिश भारतीय व रियासती इलाकों पर पड़ने वाले खतरनाक असर का जिक्र करते हुए यह सुझाया गया कि महाराणा काफ़ी दमन नही कर सके। अंग्रेजों की इस कुचेष्टा को विफल करने की गरज़ से संघ ने इस विषय मे मेवाड़ के लोकमत को जागृत करने का निश्चय किया। मुझे मेवाड़ में दौरे के लिये भेजा गया। मैंने भीलवाड़ा, हमीरगढ़, छोटी सादड़ी, बड़ी सादड़ी और चित्तौड़ मे सार्वजनिक सभाओं में भाषण दिये और महाराणा, ब्रिटिश सरकार तथा अखबारों को तार दिलवाये। इन सन्देशों और प्रस्तावों मे कहा गया था कि जनता को कष्ट ज़रूर हैं, वह उनका निवारण भी चाहती है और ज़रूरत के माफ़िक वह अपने राजा से घर में लड़ भी लेगी लेकिन वह विदेशी शक्ति का हस्तक्षेप नहीं चाहती और उसके द्वारा महाराणा का अपमान होना सहन न करेगी। थोड़े ही दिन बाद समाचार पत्रो मे शिमले की एक चार लकीर की प्रेरित खबर निकली कि बुढ़ापे के कारण महाराणा ने युवराज को शासन के विस्तृत अधिकार सौंप दिये हैं। मैं दौरा करते हुए उदयपुर भी न पहुंच पाया था कि पथिकजी का तार पाकर अजमेर लौट आया। संघ को संतोष हुआ कि उसके विनीत प्रयत्न एक हद तक सफल हुए। फिर तो हॉलैण्ड साहब का यह पत्र पथिकजी के मुकदमें की कार्यवाही मे पूरा प्रकाशित हुआ और समाचार जगत् में एक सनसनी का कारण बना। अगस्त सन् १९२१ में जब मैं अजमेर लौटा तो सेठीजी सिवनी जेल से रिहा होकर आये ही थे। स्व० विट्ठलभाई पटेल कांग्रेसजनों के कुछ आपसी झगड़ों की जांच के लिये आये हुए थे। आखिर मे वे कांग्रेस का सब काम सेठीजी के सुपुर्द करके चले गये।

पहला कारावास

सितम्बर मे वर्धा से मेरी गिरफ़्तारी के वारण्ट आये। बात यह थी कि उस वक़्त तक मैं ही 'राजस्थान केसरी' का प्रकाशक था। उसमें पुलिस की ज्यादतियों

के बारे में एक संवाद छपा था। उसीके आधार पर एक थानेदार ने मुझपर और सम्पादक सत्यदेवजी पर मानहानि का दावा कर दिया था।

इसी अवसर पर श्री शंकरलालजी वर्मा और मुकुटबिहारीजी से प्रथम परिचय हुआ। दोनों ही खरे और काम चाहने वाले आदमी प्रतीत हुए। मुकदमें मे हम दोनों को तीन-तीन महीने की सादी सजा हुई। जेलर की मित्रता और आजादी तो ग़ैर मामूली मिली यहां तक कि हम रोज जेलर के घर नाश्ता करते, जेल के चौड़े कुए में कूद-कूद कर नहाते और अपने अखबार में लेख भी लिख-लिख कर भेजते रहते। इतना ही नहीं, हमारे सुपरडंट जो बंगाली सिविल सर्जन थे, हमें से रोज मिलने आते और हमें महात्मा गांधी के अनुयायी मान कर सादर प्रणाम करके जाते। हमारी मुलाकातों पर भी कोई प्रतिबन्ध नहीं था। लेकिन जेल की पहली यात्रा में ही अंग्रेजी राज्य की अमानुषी व्यवस्था की मुहर लग गई। जेल के निर्दय व्यवहार, अनाचार और रिश्वत आदि बुराइयां आंखों देखीं और कानों सुनीं। लेकिन अधिकारियों की कृपा से हम तीन दिन पहले छोड़ दिये गये और मैं ठीक वक़्त पर अहमदाबाद की ऐतिहासिक कांग्रेस में शरीक हो सका।

अहमदाबाद कांग्रेस

वहां अजीब जोश था। कांग्रेस नगर की रचना भी अनोखी थी। बांस की टट्टी के कमरे और खादी का मंडप था। कुर्सियों की बजाय गद्दी तकियों और फ़र्श की बैठक थी। हिन्दुस्तानी भाषा की पूछ भी हो गई थी। प्रतिनिधियों के ठहरने का प्रबन्ध भी उतना ही सीधा सादा था। पाखाना, पेशाब के लिये खाइयां खुदी थीं। खादी की प्रदर्शनी लगी हुई थी। ये सब बातें नई थीं और गांधी युग के आगमन की सूचना दे रही थीं। निर्वाचित राष्ट्रपति देशबन्धुदास गिरफ़्तार हो चुके थे और हिन्दू-मुस्लिम एकता के पुजारी व शराफ़त के पुतले हकीम अजमल खां साहब सदारत कर रहे थे। मौलाना हसरत मोहानी ने मुकम्मल आजादी की तजवीज पेश की और हमारे स्वामी कुमारानन्द ने उसकी ताईद की थी। देश में शराब और विदेशी कपड़े के खिलाफ़ सत्याग्रह करने का कार्यक्रम जारी था। ऐसा मालूम होता था कि अंग्रेज़ी राज्य मिटा चाहता है।

कुछ नये परिचय

इन स्फूर्तिदायक अनुभवों के साथ कुछ खास व्यक्तियों का सुखद परिचय भी हुआ। पुराने मित्र छोटेलालजी जैन से खादी प्रदर्शनी मे मुलाकात हुई। उन्हीं के द्वारा साबरमती आश्रम देखा और स्वर्गीय मगनलाल भाई गांधी के दर्शन हुए।

सर्वश्री सुखसम्पत्तिरायजी भंडारी, नित्यानन्दजी नागर, हरिभाऊजी उपाध्याय, त्र्यम्बक दामोदर पुस्तके और गुलाबरायजी नेमाणी से परिचय हुआ। नेमाणीजी कुछ ही समय पहले खेतड़ी मे गिरफ्तार होकर छूटे थे। नई. उम्र और देश प्रेम के भाव तो पहले से ही थे, इस आग में तप कर वे और भी निखर गये थे। पथिकजी उन्हे राजस्थान के मनचाहे नेता नजर आये। वे एक अच्छी थैली भेंट कर गये। मुझे तो बाद मे भी उनकी सरलता, उदारता और सेवा भाव का परिचय मिलता रहा। इस अवसर पर इन्दौर की डही जागीर के थोड़े से किसान भी आये थे। उनके अनुरोध से वहां के भीलों के कष्ट के निवारण में सहायता देने का संघ ने वचन दिया और महाराजा तुकोजीराव से लिखा पढ़ी करके इन्हे कुछ राहत दिलवाई।

'नवीन राजस्थान' का जन्म

'राजस्थान केसरी' वर्धा मे था। उसकी नीति भी देशी राज्यों की अपेक्षा कांग्रेस प्रधान हो चली थी। इधर राजस्थान के जीवन में प्राण आ रहे थे और संघ के नेतृत्व मे रियासती जनता का आन्दोलन जोर पकड़ता जा रहा था। इसलिये संघ को एक मुख पत्र की जरूरत महसूस हुई। अहमदाबाद कांग्रेस से लौटते समय ही 'नवीन राजस्थान' नाम का साप्ताहिक अजमेर से निकाल दिया गया। उस वक्त संघ माली मोहल्ले में बख्शीजी की कोठी में आ चुका था। पत्र का पहला ही अंक निकला था कि मेवाड़ की बसी, पारसौली पांगणमी, बीराव और लीम्बडी आदि जागीरों मे प्रजा के असंतोष और जागीरदारो के दमन की आग भड़क उठने के समाचार आने लगे और कार्यकर्ताओं की मांग बढ़ने लगी। माणिक्यलालजी तो स्थिति संभाल ही रहे थे, पथिकजी ने मुझे भी भेजना जरूरी समझा। मेरे रवाना होने से पहले मेवाड़ राज्य मे पथिकजी के प्रवेश निषेध का हुक्म जारी हो गया था और ब्रह्मचारी हरिजी को श्री नन्दलाल वेद नामक युवक और सौ किसानों के साथ गिरफ्तार कर लिया गया था। हरिजी को अदालत में हाजिर किये बिना ही दो साल की कड़ी कैद की सजा दे दी गई।

सिरोही की घटना

उन्ही दिनों सिरोही के सम्बन्ध में एक घटना हुई। वहां के महारावल स्वरूप रामसिहजी का एक फ़कीर की सोहबत से इस्लाम की तरफ़ झुकाव हो गया। फ़कीर चालाक आदमी था। उसने राजा पर इतना प्रभाव जमा लिया कि शासन में दखल देने लगा और काफ़ी सम्पत्ति बना ली। बाद में कोई विस्फोट हुआ और फ़कीर का माल हथियाने के सिलसिले मे अजमेर के एक पुलिस इन्सपेक्टर सैयद अब्दुल जब्बार को लम्बी सजा काटनी पड़ी।

जन जागरण की लहर

जब मैं मेवाड़ पहुंचा और आन्दोलन के क्षेत्रों में गया तो जनता जोश में और शोषक वर्ग उसे दबा देने में अन्धे हो रहे थे। खुद मुझे अपने में असाधारण शक्ति महसूस हुई। कमजोर शरीर होने पर भी २० मील रोज जंगलों और पहाड़ों में पैदल चलने में थकान न होती। हजारों नर नारियों का सदियों की पीड़ा और निद्रा से उठना बड़ा मोहक दृश्य था। जिस सौंदर्यमयी दयामयी प्रकृति की गोद में ये भोले-भाले प्राणी बसते थे उसमें विचरण करना अच्छा लगता था। उनके विशाल समूहों में बोलते हुए ऐसा जान पड़ता था कि समुद्र की लहरों पर तैर रहा हूं। निराशा से मुरझाये हुए असंख्य चेहरों पर आशा की झलक देख कर संतोष होता था कि अपने हाथ से सचमुच कुछ सेवा हो रही है। इस आन्दोलन का असहयोग के राष्ट्रीय संग्राम से सीधा सम्बन्ध न होने पर भी उसका व्यापक और प्रबल असर तो था ही। स्त्रियों की जागृति, कुरीति-निवारण, मद्य-निषेध, विलायती कपड़ों की होली और खादी व शिक्षा का प्रचार आदि राष्ट्रीय कार्यक्रम के सभी अंग अपना लिये गये थे। रूसी राज्यक्रांति की प्रेरणा भी थोड़ी बहुत काम कर रही थी। जब किसानों को यह कहा जाता कि एक महान देश में गरीबों के ही हाथों में राजसत्ता की सारी बागडोर आ गई है तो उनकी आंखों में अद्भुत उत्सुकता दिखाई देती और वे सहसा पूछ बैठते, 'क्या अपने यहां ऐसा नहीं हो सकता ?' इस आन्दोलन ने छुआछूत के रोग को भी काफ़ी धक्का पहुंचाया। ऐसे सुखद प्रसंग भी देखने में आये कि जिन हरिजनों को पास नहीं बिठाया जाता था वे पंचायतों के अध्यक्ष और सभाओं के सदर बने। मन्दिरों और कुओं सम्बन्धी बंदिशें भी ढीली पड़ी।

नृशंस दमन

जनता को न दबती देख कर जागीरदारों के क्रोध की आग हद से बाहर जाने लगी और स्त्रियों पर भी अत्याचार होने लगे। किसानों ने कैद, जुर्माने, मारपीट और कहीं-कहीं गोलियां तक सह ली थी। फ़सलों का नष्ट किया जाना, जंगल से घास लकड़ी न लाने दिया जाना और पशुओं को घर से बाहर न निकलने देना आदि जुल्म उन्होंने बर्दाश्त कर लिये थे। मगर औरतों पर हाथ छूटने लगा तो वे तिलमिला उठे। इस बारे में बेगूं के छुटभैया रावड़दे के ठाकुर का व्यवहार बहुत निंदनीय था। उसने एक मालिन को भरे बाजार अपने आदमियों से घसीटवाया और एक भीलनी को औंधी लटकवा कर पिटवाया। केर्मालिया के ठाकुर ने भी बहुत ऊधम मचाया था। उसे तो किसानों ने पीट भी दिया। रावड़दा से भी बदला लेने पर उतारू हो गये। अन्त में उन्होंने

बुझाने पर यह तय हुआ कि सैकड़ों की संख्या में लोग ठाकुर के 'रावले' पर सत्याग्रह करें। जब पहुंचे तो ठाकुर बन्दूक तान कर खड़ा हो गया। उस दिन रामनिवास शर्मा नामक एक साधारण कार्यकर्त्ता की बहादुरी ने बाजी किसानों के हाथ रखी। वह अपढ़ सा देहाती छाती खोल कर सामने खड़ा हो गया। ठाकुर की तलवार म्यान में ही रही और सत्याग्रही दोनों पीड़ित बहनों को छुड़ा कर विजय पताका फहराते हुए घर ले आये।

आत्मरक्षा की हुंकार

इन घटनाओं ने किसानों के दिलों में एक गम्भीर खतरे की आशंका भर दी। उन्होंने स्त्रियों के मान की रक्षा के प्रश्न पर गंभीर होकर सोचा। आखिर सन् १९२२ की बसंतपंचमी के दिन बिजौलिया में तिलस्वां मुकाम पर एक कांग्रेस हुई। कई इलाकों की पंचायतों के इकट्ठे बड़े सम्मेलन को इसी नाम से पुकारा जाता था। उसमें आन्दोलन के सभी क्षेत्रों से, पूर्व मेवाड़ के हर हिस्से से सैकड़ों स्त्री-पुरुष प्रतिनिधि आये। आसपास के बूंदी, कोटा, झालावाड़, ग्वालियर और इन्दौर के इलाकों से भी दर्शक उपस्थित हुए। यह पहला सम्मेलन था जिसमें अलग-अलग प्रदेशों के लोगों ने मिलकर विचार किया, शरीक रह कर लड़ना तय किया और जागीरदारों और राज्य को एक साफ प्रस्ताव के [illegible] चेतावनी दी कि स्त्रियों का अपमान किया गया तो अच्छा नतीजा नहीं निकलेगा और मजबूर होकर आत्मरक्षा का अधिकार काम में लिया जायेगा। इसके बाद स्त्रियों पर सीधी ज्यादती होना बन्द हो गया।

वह युग प्रवर्तक समझौता

इधर ब्रिटिश सरकार मेवाड़ के इस व्यापक, तीव्र और प्रबल आन्दोलन से परेशान थी। इसका असर भीलों में भी पहुंच गया था। जिन दिनों पूर्वी मेवाड़ में सत्याग्रह की बाढ़ आ रही थी उन्हीं दिनों पश्चिमी मेवाड़, सिरोही, पालनपुर, दाता, सुंधरामगढ़ और मारवाड़ के भील प्रदेशों में भी आन्दोलन की आग भड़क उठी। वहां मोतीलालजी तेजावत [illegible] राजस्थान सेवा संघ से प्रेरणा पाकर [illegible] सुधार, आर्थिक उद्धार और [illegible] नैतिक जागृति का काम शुरू कर दिया था। इस सारे आन्दोलन [illegible] बिजौलिया से शुरू हुआ था। इसलिए [illegible] डालकर पहले इसी को बन्द करने का निश्चय किया। एक [illegible] मंडल वहां पहुंच गया। ब्रिटिश सरकार की तरफ से ए० जी० [illegible] उनके सेक्रेटरी [illegible] और मेवाड़ के रेजीडेन्ट [illegible] रियासत की ओर से [illegible]

कौशिक डाण (गायर) हाकिम, और ठिकाने के प्रतिनिधि के तौर पर कामदार हीरालालजी, फ़ौजदार तेजसिंहजी और मास्टर जालिमसिंहजी इस मंडली में थे। किसानों को बुलाया गया तो उन्होंने राजस्थान सेवा संघ के नुमाइन्दों को बुलाने पर जोर दिया। मैं उन दिनों वहीं था। संघ के मन्त्री की हैसियत से मेरे नाम ए० जी० जी० के कैम्प से इस आशय का खत आया कि 'साहब रावजी व किसानों में समझौता कराने आये हैं। आप सहायता देंगे तो वे खुश होंगे।' सत्याग्रहियों की तरफ़ से मैं, माणिक्यलालजी, पंचायत के सरपंच मोतीचन्दजी और मंत्री—ये चार आदमी गये थे। बिजौलिया कस्बे के बाहर एक बगीचे में साहब का डेरा था। वहीं खुले मैदान में संधि परिषद की बैठक शुरू हुई। वह दृश्य बिजौलिया के, शायद राजस्थान के इतिहास में अभूतपूर्व था। सारे इलाके की जनता मानों वहां उमड़ आई थी। सत्याग्रही विजय गर्व अनुभव कर रहे थे। परन्तु उनमें मर्यादा का अभाव न था। वह आधुनिक राजस्थान की तारीख में पहला मौका था कि किसान जैसी दबी हुई जाति को शिर ऊंचा करना नसीब हुआ। जो लोग पैरों में बिठाये जाते थे उन्हीं के प्रतिनिधियों को बराबर कुर्सियां मिलीं, जिन बड़े साहबों के दर्शन दुर्लभ होते थे उन्हें एक दिन के बजाय आठ दिन ठहरना पड़ा और जिन आन्दोलनकारियों को भयंकर प्राणी समझ कर दूर रखने के लिये सौ जतन किये जाते हैं उनकी सहायता मांगी गई। इतना ही नहीं, उस दिन तो ऐसा दिखाई पड़ा मानो नेतृत्व राज्य सत्ता के हाथ से निकल कर जनता जनार्दन के हाथ आ गया हो। भीड़ को व्यवस्थित करने का काम ठिकाने की पुलिस के बजाय पंचायत के बूढे कोतवाल देवाजी ने किया।

सभी को सन्तोष

इस वायु मण्डल में समझौते की बातचीत शुरू हुई। किसानों का शिकायतनामा पेश हुआ। हॉलैंड साहब एक-एक मुद्दा पढ कर सुनते और दोनों पक्ष की दलीलें सुनते। छोटी मोटी लागतों वगैरा पर कोई बहस न हुई और वे 'म'फ़' करदी गईं। इस एक शब्द में वे जिस सफ़ाई और आत्म विश्वास के साथ फ़ैसला देते थे उससे मालूम होता था कि उस आदमी को अपने अधिकार का कितना भान, अपने कर्तव्य पालन का कैसा दृढ़ निश्चय और समय और स्पष्टता का कितना खयाल था। ठिकाने के प्रतिनिधियों के उत्तर अक्सर लम्बे लेक्चर और वाद-विवाद से भरे होते थे। इस पर हॉलैंड साहब को एक से अधिक बार कहना पड़ा—"मुझे लेक्चर नहीं चाहिये।" उधर किसानों के पंच छोटा सा और निश्चित उत्तर देते। साहब ने उनकी तारीफ़ की और विपक्षियों को उनसे सबक लेने का संकेत किया। मैंने पहली बार अंग्रेजों का अनुशासन देखा और दंग रह गया। साहब ने सत्याग्रहियों

के संयम बल के प्रथम दर्शन किये और प्रशंसक बन गये। उधर हॉलैंड साहब बोलते और उनके दूसरे साथी मूर्ति की तरह बैठे देखते या उनका लिखाया लिखते। इधर मोतीचन्दजी जवाब देते और बाकी लोग चुपचाप सुनते रहते। साहब ने अपना पाइप जलाया तो सरपंच महोदय ने चिलम सुलगाली। किसानों ने समता का भाव प्रकट किया और साहब ने मुस्करा कर उनकी क़द्र की। सवाल जवाब बहुत थोड़े विषयों पर हुये। किसान पक्ष के सचिव होने की अधिकारियों पर छाप पड़ चुकी थी। उन्हें व्यापक दृष्टि से राजस्थान के असन्तोष की इस जड़ को मिटाना ही था। हां, अपनी परम्परागत नीति के अनुसार ये अंग्रेज भी फ़ौज साथ लाये थे। अलबत्ता उसे दस मील दूर मांडलगढ में रक्खा था। किसानों को आश्चर्य तो हुआ और उन्होंने महाराणा फ़तहसिंह को आदर सहित याद किया कि उस बूढे भारतीय ने निरंकुश शासक होकर भी पेट के लिये लड़ने वालों पर कभी सैनिक चढ़ाई नहीं की। फिर भी वे भयभीत न हुये और समझौते की बात-चीत, खूब आत्म सम्मान के साथ हुई। अन्त में बेगार का प्रश्न आया। मैं और हॉलैंड साहब पास ही आमने सामने बैठे थे। साहब बोले : "Here is the rub !" (बड़ी घाटी तो यह है !)

मैंने यह कह कर समाधान किया कि, "न्याय और सद्भावना के सहारे इसे भी पार किया जा सकता है।" उन्होंने एक मसौदा बनाया और पंचों को दिया। वह नामंज़ूर होकर लौट आया। साहब ने मेरी राय मांगी। उनका प्रस्ताव इस आशय का था, "किसान अपना यह फ़र्ज़ स्वीकार करते हैं कि जब कोई राजकर्मचारी उनके मार्ग में आयेगा तो वे उचित क़ीमत पर उसे सवारी, मज़दूरी और सामान जुटायेंगे।" मैंने 'फ़र्ज़' की जगह 'सामाजिक धर्म' रक्खा, 'राजकर्मचारी' शब्द उड़ा दिया, 'जुटा देंगे' के स्थान पर 'जुटाने की भरसक कोशिश करेंगे', और वाक्य के आखिर में यह अंश जोड़ दिया कि 'क़ीमत का निर्णय सरपंच करेगा और ज़बरदस्ती किसी हालत में न की जायेगी।' किसानों ने अपनी सद्भावना के प्रमाण स्वरूप इतना और बढ़ा दिया कि 'महाराणा साहब व रावजी की सेवा का कोई मूल्य नहीं लिया जायगा।' साहब बोले,: "ज़ाहिरा ढांचे को बहुत न छेड़ कर भी आपने तो भीतर से मेरी तजवीज़ की काया ही पलट दी।" किसानों को संबोधन करके उन्होंने कहा "मेरे लिये तो आपने जगह ही नहीं रखी।" इसमें विनोद भी था और गाम्भीर्य भी, परन्तु किसानों का अभिप्राय स्पष्ट था। सब कुछ होने पर भी अपने राजा के लिये उनके दिल में जो कोमल भाव था वह स्थान एक विदेशी नौकरशाह को वे कैसे दे सकते थे? हॉलैंड साहब की आलोचना ठीक थी। मेरे संशोधन ने

अब मुझे और सत्यभक्तजी को जांच और राहत कार्य के लिये नियुक्त किया गया। इस अवसर पर राजपूताना की अंग्रेज एजेंसी ने बड़ी बेरहमी और झूठ से काम लिया। एक तरफ़ उसके अफ़सरों की मातहती में सेना ने नृशंस अत्याचार किये तो दूसरी तरफ कष्ट निवारण के काम की भी मनाई कर दी गई। दलील यह दी गई कि यह काम रियासत की तरफ़ से हो रहा है और कष्ट पीडित जनता बाहर वालों की मदद नहीं चाहती। इसके विरुद्ध हमारे पास तारों, पत्रों और सन्देश वाहकों के द्वारा सहायता की बराबर मांग आ रही थी। इसलिये हम दोनों पिंडवाड़ा स्टेशन पर उतर कर वहां के सहृदय स्टेशन मास्टर की मदद से रातों रात माणिक्यलालजी के पास पहुंच गये। सलाह मशविरे के बाद सुबह होते ही दो मार्गदर्शकों को साथ ले उन स्थानों पर पहुंचे जहां फ़ौजी कार्रवाई की गई थी। इस हत्याकांड का कोप भूला और बाख़ोलिया नामक गावों पर खास तौर पर हुआ था। पचासों भील मशीनगन के शिकार हुए थे। सैकड़ों घर जला कर खाक कर दिये गये थे और दरिद्रता के साक्षात् अवतारों का क्षुद्र अन्न भंडार या तो लूट लिया गया था या आग के हवाले कर दिया गया था। हम लोग हत्याकांड के चौथे पांचवें दिन मौके पर पहुंचे थे, मगर अनाज की कोठियां अभी तक जल रही थीं।

भील क्षेत्र की यात्रा

भील वासियों का कसूर यही था कि उन्होंने शराब छोड़ दी थी और राज्य व साहूकारों के अत्याचारों से राहत पाने की कोशिश की थी। उनकी मुख्य मांग इतनी सी थी कि बढ़ा हुआ लगान घटा कर पहले की तरह हल्का कर दिया जाय, बेगार और लाग बाग बन्द कर दी जायें और बोहरों के कर्ज़ से राहत दी जाय। हम दोनों शाम तक कोई बीस मील धूप में भूखे प्यासे तपते हुए पहाड़ों में भटकते रहे, परन्तु हमें यह कष्ट कुछ भी नहीं अखरा, क्योंकि हमें यह सन्तोष था कि हम अपने पीड़ित और निःसहाय भाइयों को कुछ आश्वासन दे सकेंगे और उन पर गुज़रे हुए ज़ुल्मों को दुनिया पर प्रकट करके भविष्य के लिये उनकी पुनरु रोक कर सकेंगे। आतंक तो काफ़ी छाया हुआ था। फिर भी सैकड़ों स्त्री पुरुष हम से मिले और हम काफ़ी सामग्री इकट्ठी करने में सफल हुए। आधी रात तक हमने पीड़ितों के बयान लिये और फिर बाटियां व बकरी का दूध खाकर रोहीड़ा स्टेशन पर आ सोये। दूसरे दिन अजमेर पहुंचे। जब हमारा बयान अखबारों में निकला तो नौकरशाही और चाकरशाही के कान खड़े हो गये। उन्हें गुस्सा भी आया और ताज्जुब भी हुआ कि उनके कड़े घेरे को भेद कर हम घटनास्थल पर कैसे पहुंच गये और आतंकपूर्ण वातावरण में भी उनकी दृष्टि से सतरनाक

सामग्री जुटा लाये। जब हमारी रिपोर्ट प्रकाशित हुई तो सरकार और रियासत भी भिन्नाई।

विदेशों में प्रचार

सेवा संघ ने एक अस्त्र का अच्छा उपयोग किया। भारतीय विधान के अनुसार रियासती मामलों की चर्चा यहां की धारा सभाओं में तो हो ही नहीं सकती थी, इस कारण हमारे आन्दोलन के लाभ की दृष्टि से ये संस्थाएं बेकार थीं। मगर ब्रिटिश पार्लियामेंट के लिये कोई ऐसी मर्यादा नहीं थी। हमने वहां की एक महिला सेविका बहन ऐमी हडसन की मार्फ़त कुछ मजदूर दल के संसद सदस्यों से सम्बन्ध जोड़ लिया था। हमारा प्रचार विभाग तो तगड़ा था ही। हमारा हर महत्वपूर्ण पर्चा या बयान उनके पास जाता था। विशेष विवरण भी हम भेजते थे। उनके आधार पर समय-समय पर पार्लियामेंट में प्रश्न पूछे जाते थे। इस काम में पिछले भारत मन्त्री मि० पैथिक लॉरेन्स हमारे खास सहायक थे। उन प्रश्नों पर भारतीय सरकार और सम्बन्धित रियासतों से जवाब तलब होता और उसका नैतिक लाभ प्रजा को मिल जाता था। हमारे प्रचार विभाग की सूची में भारत के अंग्रेजी व देशी भाषाओं के सभी दैनिक पत्रों के सिवाय कई ब्रिटिश, अमरीकन और दूसरे विदेशी अखबार भी थे। उनमें कई बार संवाद और टिप्पणियां निकलती थीं।

बूंदी का बरड़ काण्ड

भीलों का किस्सा खत्म हुआ ही था कि बूंदी के बरड़ इलाके से समाचार आये कि वहां की सेना ने किसानों और उनकी स्त्रियों तक पर हमला कर दिया है। नानक नामक एक भील मारा गया। कुछ गोलियों के घायल अजमेर भी पहुंचे। अजमेर की सरकारी संस्थाओं का वातावरण कितना दूषित था, इसका पता हमें उस अवसर पर मिला जब बूंदी के इन घायलों को विक्टोरिया अस्पताल से डाक्टरी सर्टिफ़िकेट भी आसानी से नहीं मिला। इस बार भी मैं और सत्यभक्तजी मौके पर भेजे गये। बरड़ की जनता से हमारा परिचय तो था ही। बिजौलिया से लगे हुए बूंदी के इस बीहड़ इलाके में हम कई बार जा चुके थे, हरिजी वहां कठोर तपस्या की स्थिति में काम कर चुके थे और पं० नयनूरामजी वहीं से गिरफ़्तार होकर बूंदी जेल में पहुंच चुके थे। हम जांच के लिये पहुंचे तो वातावरण बड़ा क्षुब्ध था। राज्य की घुड़सवार सेना ने सत्याग्रही स्त्रियों पर घोड़े दौड़ा कर और भाले चलाकर पाशविक हमले किये थे। किसी की आंख पर चोट आई थी, किसी का हाथ तोड़ दिया गया था तो किसी का सर फोड़ दिया गया था। इन बहादुर बहनों ने अपने मर्दों का साथ देकर बेगार, लागबाग और

लगान की ज्यादती का विरोध किया था। रिश्वत बूंदी का सबसे बड़ा अभिशाप था। ऊपर से नीचे तक प्रायः सभी राजकर्मचारी जनता को खुले हाथों लूटते थे। बरड़ की प्रजा ने इसकी भी खुली मुखालिफत की थी। अस्तु, हमारी रिपोर्ट प्रकाशित हुई। प्रजा की कुछ शिकायतें दूर हुई। हमारा रियासत में प्रवेश बन्द कर दिया गया। अंजना देवी भी गई थीं। उन पर भी कई वर्ष तक यह पाबन्दी रही।

चोर डाकू भी प्रभावित

बिजौलिया सत्याग्रह की जीत ने आसपास के इलाकों पर काफ़ी असर डाला। काम करने की अनुकूलता सभी जगह बढ़ी। चोर डाकुओं तक पर प्रभाव हुआ। उदाहरण स्वरूप एक दिन एक सुनार ने आप बीती सुनाई। वह सिंगोली (ग्वालियर) से बिजौलिया आ रहा था। रास्ते में पहाड़ चढ़ते समय डाकुओं ने आ घेरा। सुनार होशियार और सत्याग्रही दल का आदमी था। देखते ही उसने डाकुओं से 'वन्देमातरम्' के साथ अभिवादन किया। डाकू उसे छोड़ कर चले गये।

धांगणमऊ बोराव

इसी घाटी को उत्तर पूर्व में पार करके धांगणमऊ बोराव का इलाका है। यह मेवाड़ के भूतपूर्व दीवान मेहता बलवन्तसिंहजी की जागीर था। मेहता खानदान का उदयपुर के राजनैतिक हल्कों में बहुत प्रभाव रहा है। इस कारण धांगणमऊ बोराव के किसानों की और भी निस्सहाय अवस्था थी। १९२२ की वर्षा ऋतु में मुझे वहां काम देखने जाना पड़ा। मेरे साथ साधु सीतारामदासजी और स्वर्गीय प्रेमचन्दजी भील भी थे। प्रेमचन्दजी बेगूं जागीर के सागों की बड़ी नामक गांवड़े में पैदा हुए थे। सम्वत् १९५६ के अकाल में वे अनाथ होकर अजमेर के दयानन्द अनाथालय में पहुंचे। वहां से लाला लाजपतरायजी उन्हें लाहौर ले गये। वहीं उनका पालन और शिक्षण हुआ। वे हिन्दी, उर्दू, संगीत और बढ़ईगीरी जानते थे। कविता भी कर लेते थे। मेवाड़ी भाषा में उनके गीतों ने ग्राम जागृति का खूब काम किया। उनकी रचनाओं में माणिक्यलालजी का सा कवित्व या 'पंछीड़ा' जैसा ओज तो नहीं था, मगर उनके गीत ज्यादा सरल और चलते हुए होते थे। मेरा उनका परिचय सन् १९२१ में हुआ। तब से वे बराबर देश सेवा का काम करते रहे और इसी को करते करते वे सन् १९३६ में मरे। वे बड़े सरल, नम्र और हंसमुख थे। वे जिस दरिद्र और पीड़ित वर्ग में जन्मे उसी की सेवा में उन्होंने अपनी सारी शक्ति लगा दी थी।

नौ राजद्रोह के मुक़दमे

हां तो हम तीनों कार्यकर्त्ता एक दिन किसान पंचों से सलाह कर रहे थे कि करीब दो दर्जन घुड़सवारों ने हमें आ घेरा। उनके पास कोई वारंट नहीं था। उन्होंने हमारी मुश्कें बांध लीं और बरसते पानी मे हमें पैदल ले गये। तीन मील पर कूआ खेड़ा तियावत थी। वहां हमारे दोनों पांवों मे डंडेदार बेड़ियाँ पहना दी गई और सिपाहियों के पहरे मे एक गंदी सी जगह सोने बैठने को बता दी गई। उस दिन शाम को खाने को भी नही दिया गया। दूसरे दिन सुबह आध छंटाक दाल, थोड़ा नमक मिर्च और आधा सेर आटा दिया गया। लकड़ियां और कंडे आसपास से बीन लेने की आज्ञा हुई। हमने इस दुर्व्यवहार और अपमान के विरोध में भूख हड़ताल करदी। तीसरे दिन हमें नायब हाकिम साहब के रूबरू पेश किया गया। उन्होंने असभ्य भाषा में जली कटी सुना कर वापिस किया। साथ ही हमारी एक एक बेड़ी निकलवा दी गई, खाने के सामान में सुधार किया गया और साधारण व्यवहार भी अपमानजनक नही रहा। यह इलाक़ा जहाजपुर जिले के आधीन था। वहां उस वक्त बिन्दुलालजी भट्टाचार्य नामक शिक्षित हाकिम थे। मेरा इनसे पहले का परिचय था। चौथे दिन उनका हुकम आया, हमारा जहाजपुर के लिये चालान हुआ। हमें बेड़ी सहित ऊंटों पर बिठा दिया गया और साथ में घुड़सवारों का एक दस्ता चला। किसानों का एक बड़ा दल हमारी गिरफ़्तारी के समय से ही हमारी हवालात के बाहर धुनी रमाये पड़ा था। उसने तुरन्त बिजौलिया खबर भेज दी थी। जब हम उधर से निकले तो माणिक्यलालजी, अंजना देवी और सैकड़ो किसान हमसे मिलने की आशा में मौजूद थे। मगर मेवाड़ी अंधेरगर्दी जो ठहरी, घेर तजवीज क़ैदियों को अपने नजदीकी सम्बंधियों और इष्टमित्रों से भेंट नही करने दी गई। तीसरे दिन हम जहाजपुर पहुंचे तो रास्ते में हमारी बेड़ियां निकलवा दी गईं थीं। जब हमने नगर मे प्रवेश किया तो एक बारात का सा शानदार जलूस बन गया था। एक रोज़ तो हम हाकिम साहब के मेहमान रहे और दूसरे दिन पहाड़ पर क़िले में भेज दिये गये। वहां हम तीनों और हमारे पहरेदारों के सिवाय और कोई नही रहता था। खाने पीने का सब सामान नीचे से आता था। व्यवहार और इन्तज़ाम सन्तोषजनक था। भोजन बनाने, पानी भरने और सफ़ाई आदि करने के लिये अलग अलग आदमी रख दिये गये थे। जब हमें मालुम हुआ कि

बेगार से काम लिया जाता है तो हमने विरोध किया। बिन्दुलालजी ने मजदूरी देने का आश्वासन दिया। कोई तीन सप्ताह हम किले में रहे। वहां का प्राकृतिक दृश्य मनोहर था और दूर दूर तक का प्रदेश साफ़ दिखाई देता था। हमारे पहरेदारों के हवलदार एक सभ्य मुसलमान थे। उनके पास दूरबीन थी और शायरी व सितार का शौक़ था। हमें उनकी संगति से बड़ा आनन्द मिला।

बिन्दुलालजी अखबार भी रोज़ भेज देते थे। एक दिन उन्होंने हमें नीचे बुलाया और महकमा खास का एक तार दिखाया। उसका आशय यह था कि अंजना देवी पर गोली चलने और उन्हें गिरफ़्तार करने के समाचार प्रकाशित हुए हैं, जाच करके रिपोर्ट भेजो।

प्रथम महिला सत्याग्रही

बात यह हुई थी कि खैराड प्रदेश में अमरगढ़ एक जागीर थी। यह मीनों का इलाका है। मेवाड़ सरकार इन्हे जरायम पेशा जाति मानती थी, रोज़ाना पुलिस मे दो बार इनकी हाज़िरी होती थी और वे बिना इजाज़त लिये बाहर कही नही जा सकते थे। उन पर और भी बहुत सी ज्यादतियां होती थी। तंग आकर उन्होंने राजस्थान सेवा संघ की शरण ली। इसलिये अंजना देवी कुछ स्थानीय बहनों को साथ लेकर बिजोलिया से अमरगढ़ पहुंच गई। वहां पर बिना वारंट गिरफ्तार करली गई। थानेदार ने उनको अलग अलग हवालात में बन्द करना चाहा और इनकार करने पर गोली चलाने के लिये बन्दूक तानली। मगर इस धमकी का किसी भी देवी पर कोई असर न हुआ। आखिर वे सब एक साथ बन्द कर दी गई। देशी राज्यों की आज़ादी की लड़ाई मे किसी स्त्री की यह पहली गिरफ़्तारी थी।

उदयपुर की अदालत में

कोई इक्कीस दिन हम जहाज़पुर के किले मे रखे गये। इस बीच में कोई कानूनी कार्रवाई नहीं हुई। न हम बाकायदा किसी मजिस्ट्रेट के सामने पेश किये गये, न कोई रिमांड लिया गया। चौथे सप्ताह हमें ऊंटों पर सवार करवा कर घुड़सवारों की निगरानी मे उदयपुर भेज दिया गया। इसकी खबर पाकर अंजना देवी वगैरा मोडल स्टेशन पर और हरिभाई जो उसी दिन अपील में बरी होकर उदयपुर से लौटे थे गाड़ी में हम से मिल लिये। उदयपुर पहुंच कर हमें दीवान प्रभाशचन्द्रजी के बंगले पर ले जाया गया। वहां हमारी बेड़ियां निकलवा दी गई और हमें शहर से तीन मील दक्षिण में गोरधन विलास नामक गांव मे भेज दिया गया। यहां महाराणा की निजी गोशाला थी। स्व० प्रतापसिंहजी

को घोड़ों और गायों के सुधार का शौक था और यह गोशाला उसी का केन्द्र थी। यहां महाराणा कई बार आया करते थे। पहले तो हमें महलों में ही रखा गया मगर बाद में एक कच्चे मकान में बदल दिया गया। हम पर पहरा उन्हीं सिपाहियों का रहा जो जहाजपुर से हमारे साथ आये थे। बेचारे निरक्षर देहाती मुसलमान और मीने बड़े सरल और सहृदय थे। अपनी छोटी तनख्वाहों के मारे परेशान थे। उनके हृदय हमारी ग़रीबों की सेवा को सदा आशीर्वाद देते थे। हम पर कोई खास सख्ती न थी। खाने पीने का संतोषजनक प्रबंध था। सुबह शाम सिपाही जंगल में हमको घुमा लाते। मिलने जुलने और लिखने पढने पर कोई रोक न थी। हमारे मित्र कई बार दिन-दिन भर रह जाते और वहीं खाते पीते थे। वकील हमारे थे पं० लक्ष्मीनारायण त्रिवेदी। उन्होंने आम तौर पर सेवा संघ की और हमारे और पथिकजी के मामलों में खास तौर पर बड़ी सेवा की। हमारा मुकदमा मुंशी भूरेलालजी हिरण एम. ऐ ऐल. ऐल. बी., सिटी मजिस्ट्रेट की अदालत में पेश हुआ। ये शिष्ट और सुलझे हुए आदमी थे। हमारे साथ उनका अंत तक आदरपूर्ण व्यवहार रहा। मेवाड़ में वह पहला बाकायदा राजनैतिक मुकदमा था। हम पर राजद्रोह का अभियोग लगाया गया। अदालत महलों की चहारदीवारी के भीतर थी। वहा कोई नंगे सिर या टोपी पहन कर नहीं जा सकता था। हमने इस पाबन्दी को नहीं माना। इस्तग़ासे के ज्यादातर गवाह सिपाही या दूसरे सरकारी मुलाजिम थे। हम जैसे मुल्जिमो के खिलाफ़ गवाही देने का उन्हे पहले काम नही पड़ा था। अधिकाश सरकारी वकील के सवालों पर ही बहक गये। एक सवार ने मज़ेदार क़िस्सा घड़ लिया। उसने बयान दिया कि "जब हम चौधरीजी को पकड़ने गये तो इन्होंने जमीन से एक चुटकी मिट्टी उठाई और कुछ मंतर पढ़ कर फूंक मारी और कहा, महाराणा का नाश हो।" इस पर अदालत में सब हंसी हुई और मजिस्ट्रेट ने कहा कि "इस्तग़ासे की ऐसी ही गवाहियां हुईं तो उसके करम फूट गये।" किसानों में से हमारे खिलाफ़ एक दो के सिवाय कोई न मिले। उन्हें पुलिस मारपीट कर लाई थी। हमारे सामने आते ही वे हमारे हो गये और सच्ची-सच्ची कह गये। क़रीब ७ महीने मुकदमा चला। हमने लम्बे लम्बे लिखित बयान दिये। उनमें रियासत की निरंकुश शासन प्रणाली, प्रजा की पामाली और सेवा संघ की नीति का विशद वर्णन था। श्री० हिरण को भय हुआ कि इन बयानों के प्रकाशित होने से राज्य की प्रतिष्ठा को हानि पहुंचेगी। वे महाराजकुमार साहब के पास पहुंचे। दूसरे दिन मुझे चीफ़ मिनिस्टर पं० धर्मनारायणजी के बंगले पर ले जाया गया। वहां पटर्जी बाबू भी मौजूद थे। राजस्थान सेवा संघ और मेवाड़ सरकार के बीच किसी स्थाई समझौते की चर्चा शुरू हुई। तीन दिन की बहस के बाद

का अंदेशा बहुत बढ़ गया था और कांग्रेस, खिलाफ़त और सेवा संघ के स्वयंसेवकों का पहरा लगाया गया तब जनता को इत्मीनान हुआ। इस बढ़ते हुए असर को देख कर कट्टर राजभक्त सेठ उम्मेदमलजी लोढ़ा ने भी चुपचाप कांग्रेस को २०००) रु० भेंट कर दिये।

बापू का अजमेर आगमन

बारडोली में कांग्रेस की वर्किंग कमेटी ने चौरी चौरा में जनता द्वारा पुलिस थाना जला दिये जाने और कुछ कान्स्टेबलों के मार दिये जाने के कारण असहयोग आन्दोलन स्थगित कर दिया था। महात्मा गांधी पर गिरफ़्तारी का वारंट निकल चुका था। उस समय वे अजमेर में ही मौजूद थे मगर यहां की सरकार ने उन्हें गिरफ़्तार करने की जिम्मेदारी लेने का साहस नहीं किया। वे गुजरात की सीमा में पहुंच कर पकड़े गये। असहयोग के स्थगित होने पर कांग्रेस में दो दल हो गये। पं० मोतीलालजी नेहरू और देशबन्धु चितरंजन दास कौंसिल प्रवेश के पक्ष में थे और सर्वश्री० राजगोपालाचार्य, राजेन्द्रबाबू व जमनालालजी और अली बन्धु आदि रचनात्मक कार्यक्रम के हिमायती थे। राजपूताना अपरिवर्तनवादी रहा।

बेगूं में पैशाचिकता

बेगूं के किसानों को भी लगभग वे ही तकलीफ़ें थीं जो बिजौलिया वालों को थीं। राज्य ने किसानों की मांग को ध्यान में रख कर कुछ रियायतें दीं और लगान का बन्दोबस्त कराने के लिये पैमायश का महकमा खोला। कोई वजह नहीं थी कि बेगूं वालों को वही सुविधाएं न दी जायें जो बिजौलिया वालों को दी गई थीं। मगर रियासत ने ऐसा न करके मि० ट्रेन्च नामक एक आई० सी० एस. अफ़सर को जो पैमायश हाकिम थे लश्कर के साथ बेगूं भेज दिया। उन्होंने मसले सुलझाने के बजाय असंतोषजनक शर्तें जबरदस्ती किसानों के सिर मढ़नी चाहीं। सत्याग्रही राजी न हुए। आखिर साहब बहादुर के हुक्म से निहत्थे ग्रामीणों पर गोलियां चलाई गईं। पथिकजी ने अपने मुकदमे के बयान में यह आरोप किया था कि उस समय स्त्रियों को गोलियों के सामने अचल देख कर उनके नाड़े तक कटवाये गये थे। दूसरे जुल्म जो ऐसे अवसरों पर हुआ करते हैं वे तो सब किये ही गये। श्री घनश्याम शर्मा नामक बेगूं के नौजवान कार्यकर्ता को इतनी बुरी तरह पीटा गया था कि जब वे महीने भर बाद मेरे पास अजमेर आये तो उनके शरीर पर मार के निशान साफ़ नज़र आते थे। बेगूं आन्दोलन में श्री भगवन्नाथ बोरड़िया भी शुरू से किसानों के साथ थे। इस अवसर पर

उन्हे भी खूब तंग किया गया। इस क्रूर दमनकांड के फलस्वरूप किसान सम्प्रति दब गये। उधर के कार्यकर्ता भी उदासीन होकर घर बैठ गये। इसलिये पथिकजी को सन् १९२३ के बसन्त में खुद वहां जाना पड़ा। साथ मे ब्रह्मचारी हरिजी गये। दोनो छिप कर रहने लगे। पथिकजी एक धाकड़ के घर मे बैठकर गुप्त रूप से किसानों का मार्गदर्शन करते रहे। अन्त में भीषण मारपीट के मारे धाकड़ ने भेद खोल दिया और पथिकजी पकड़े गये। अधिकारियों ने वचन भंग करके उनके साथ दुर्व्यवहार किया और उन्हें चित्तौड़ भेज दिया। उस समय लाला अमृतलाल नामक एक पुराने ढंग के कायस्थ बेगूं के मुन्सरिम थे। उन्होने अपनी सारी चालबाजी और अमानुषिकता खर्च करके पथिकजी और उनकी शक्ति को कुचलने और किसानो के नवजीवन को दफ़नाने के लिये एड़ी से चोटी तक ज़ोर लगा दिया। वे जितने बेउसूले आदमी थे उतने ही ग़ज़ब के प्रचारक थे। दुर्भाग्यवश अजमेर के सार्वजनिक जीवन की प्रतिस्पर्धाओं से भी उन्हें सहायता मिली। उन्होने कई पर्चे छपवाये और संघ और उसके कार्यकर्ताओं को बदनाम करने की कोशिश की। मगर उन्होंने बुरी तरह मुंह की खाई। संघ ने जिस जनता की सेवा की थी वह तो उसके प्रति वफ़ादार रही ही। अख़बारो ने भी लालाजी को खूब आड़े हाथो लिया। पथिकजी को जेल की दीवारों में बन्द करके उन पर पीठ पीछे वार करने की गर्हित चेष्टा की, इसकी लोकमत ने तीव्र निन्दा की। मगर एक अभियुक्त पर यह सब हमले होते देख कर भी विशेष अदालत ने उन्हें अपने लिये अपमानजनक नहीं समझा और न अभियुक्त की रक्षा मे एक शब्द कहा।

पथिकजी का मुकद्दमा

लालाजी ने पथिकजी को सज़ा दिलवाने के लिये असाधारण तैयारियां की। चित्तौड़ मे विशेष अदालत बैठी। उसमें पण्डित त्रिभुवननाथ शिवपुरी, श्री रतिलाल अन्ताणी और बाबू डालचन्दजी अग्रवाल जज थे। तीनों ही अनुभवी, सज्जन और न्यायप्रेमी थे। अवश्य ही मेवाड़ सरकार ने अपने यहां के सबसे अच्छे न्यायाधीश मुकर्रर किये। इसका बहुत कुछ श्रेय स्वर्गीय मणिलाल भाई कोठारी को था। उन्होंने उदयपुर जाकर दोनों दीवानों को काफ़ी समझा बुझा कर पथिकजी को सुविधाएं दिलवाई। मगर बाहर का वकील करने की इजाज़त वे भी न दिलवा सके। चित्तौड़ में नगर के बाहर पथिकजी, उनके वकील और न्यायाधीशों का डेरा लगा। वहीं कारंवाई शुरू हुई। अभियुक्त के साथ सम्पर्क रखने मे उनके मित्रों को कोई खास रुकावट नहीं थी। उसके मुक़ाबले में मेवाड़ के सरकारी पैरोकार बेचारे बौद्धिक बौने थे। लगभग साढ़े तीन वर्ष तक मुकदमा

चला। बीच में विशेष अदालत उदयपुर चली गई और पथिकजी भी 'धाम भोदी' नामक महाराणा के शिकारी स्थान मे रख दिये गये। पथिकजी के खिलाफ सच्चे गवाह और सबूत दस्तखतसे को नही मिले। कई क्लर्कों की भक्ति के कारण सरकारी कागजात मे ही ऐसे प्रमाण मिल गये जिनसे पथिकजी की निर्दोषता साबित हो गई। किसान तो उन्हे देवता की ही तरह पूजते थे। कोई उनके खिलाफ़ शहादत देने को राजी न हुआ। लाला अमृतलालजी बुरी तरह मार-पीट कर दो एक को लाये, मगर अदालत मे आते ही वे अभियुक्त के पक्ष में गवाही दे गये। पथिकजी के मुकदमे की गूंज देश के हर कोने मे पहुंचती थी क्योंकि उसकी कार्रवाई भारत के प्रायः सभी पत्रों में नियमित रूप से प्रकाशित होती थी। इस प्रचार कार्य को देख कर स्व० पं० मदनमोहन मालवीय जी आश्चर्य चकित हुए थे और पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी तो मुझसे ईर्ष्या तक करने लगे थे। उन्होंने मुझे कहा कि "अब तक मैं महात्मा गांधी को प्रचारक नं० १ और अपने को नं० २ मानता था, मगर अब मेरा स्थान तीसरा हो गया है।" अन्त में विशेष अदालत ने मुल्जिम को बरी किया। लेकिन मेवाड़ सरकार के महकमा खास ने उन्हें अपने विशेषाधिकार से धांधली करके लम्बी कैद की सजा दे दी। निरंकुश शासन प्रणाली मे न्याय विभाग प्रबन्ध विभाग के सामने कितना पंगु होता है, इसका प्रमाण इससे अच्छा और क्या मिल सकता है? आखिर सन् १९२८ में ५ साल के कारावास के बाद पथिकजी छोड़े गये।

अजमेर का हिन्दू मुस्लिम दंगा

इस बीच अजमेर मे कुछ घटनाएं घट चुकी थी। सबसे गंभीर तो यह थी कि सन् १९२३ मे भीषण हिन्दू मुस्लिम दंगा हुआ। सहारनपुर के बाद शायद यह देश में दूसरा साम्प्रदायिक दंगा था। इसमें पुलिस के हिन्दू कर्मचारियों ने हिन्दुओं को और मुसलमान नौकरों ने मुसलमानों को खूब भड़काया। दोनो तरफ़ से सामाजिक बहिष्कार और घृणा व द्वेष का दिल खोल कर प्रचार किया गया। कई हिन्दू मारे गये और बहुत से घायल हुए। अंग्रेजी सेना ने ख्वाजा साहब की दरगाह पर गोली चलाई। श्री० चांदकरणजी शारदा को घरवालो के दबाव से अजमेर छोड़ कर बाहर चले जाना पड़ा। पं० अर्जुनलालजी सेठी ने अपनी राष्ट्रीयता की मंहगी कीमत चुकाई। मेल और एकता का प्रचार करते हुए वे मुसलमान दंगाइयों के हाथों घायल हुए। दुर्दैववश हिन्दू जनता उसी समय से उनसे नाराज हो गई। मुसलमानों के राष्ट्रीय नेता मौलाना मुईनुद्दीन और मिर्ज़ा अब्दुल क़ादिर बेग आदि सरकार और हिन्दुओं की नजर में फ़साद के

बागी-मुबागी समझे गये। उन पर मुकदमे भी चलाये गये। इस अवसर पर खतरे और कष्ट में पड़े हुए हिन्दुओं की पं०-जियालालजी और उनके साथियों ने अपनी जान जोखम मे डाल कर भी जो सहायता की उसे अब भी लोग कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करते हैं।

'नवीन राजस्थान' का प्रवेश निषेध

दूसरी घटना थी मेवाड़ राज्य द्वारा 'नवीन राजस्थान' का प्रवेश-निषेध। इसका नाम पलट कर 'तरुण राजस्थान' रख दिया गया। उसकी भी रियासत में मनाई हो गई। जयपुर और बूंदी राज्यों ने भी अपने यहां उसका दाखिला बन्द कर दिया।

'तरुण राजस्थान' का राजद्रोह

तीसरी घटना हुई 'तरुण राजस्थान' पर राजा महेन्द्रप्रताप की एक चिट्ठी और अग्रलेख छापने के आधार पर राजद्रोह का मुकदमा चलाना। मैं और शोभालालजी अभियुक्त ठहराये गये। इससे पहले सेठ जमनालालजी के भेजे हुए सर्वश्री क्षेमानन्द राहत और नृसिंहदासजी अग्रवाल राजपूताने में राष्ट्रीय काम करने के लिये आ चुके थे। उन्होंने संघ में ही डेरा लगाया। राहतजी की लम्बी दाढ़ी, पैनी बुद्धि, सरस बातचीत, भावुक तबियत और सफ़ेद दूधिया पोशाक थी। वे अच्छे लेखक, कवि और वक्ता थे। बाबाजी (नृसिंहदासजी का बाद में यही नाम पड़ गया था) बहुत कम पढ़े लिखे थे। राजस्थानी थे और कुशल व्यापारी रह चुके थे। उन्होंने त्याग भी काफ़ी किया था और भेष भी वैसा ही रखते थे। लेकिन ये दोनों आते ही कांग्रेस के चुनाव में झगड़ों मे उलझ गये और असफल रहे। बाद मे खादी मंडल का प्रान्तीय दफ़्तर लेकर वे ब्यावर चले गये और साल; छः महीने वहीं रहे। मैं और शोभालालजी जेल भेज दिये गये। हमारा मुकदमा हॉपकिन्सन नामक अंग्रेज असिस्टेन्ट कमिश्नर की अदालत में पेश हुआ। लेकिन इन हज़रत ने न हमारी जमानत मंजूर की और न हमें सफ़ाई का मौक़ा ही दिया। हमें सीधा सेशन सुपुर्द कर दिया। इनकी धांधली इतनी स्पष्ट थी कि सेशन जज ने हमारा मुकदमा दूसरे मजिस्ट्रेट की अदालत में भेज दिया और सारी कार्रवाई दुबारा करवाई। जेल में हमारी मुलाक़ात अजमेर मेरवाड़ा के मशहूर डाकू ठाकुर मोड़सिंह से हुई। इनमें हिन्दुत्व का गौरव और अंग्रेज़ों के प्रति घृणा असाधारण थी। ये भी किसी समय खरवा के राव साहब और पथिक जी के साथी रह चुके थे। मुकदमे में मैं बरी हो गया और [illegible] साल की सख्त सजा हुई। स्व० बाबू श्रीलालजी अग्रवाल का

पर परिचय हुआ। अपरिचित होकर भी वे सदा से हमारे वकील बने और उत्साहपूर्वक मुफ्त पैरवी की। वे जब तक जिये मेरे साथ उनके कौटुम्बिक सम्बन्ध रहे। वास्तव में उनकी वृत्ति सभी के साथ उपकार करने की थी।

पीछे से संघ में केवल अंजना देवी और रामसिंह नामक बालक था। शुरू से होनहार था। लिखने पढ़ने की चाट थी। अजमेर चला आया और संघ में हमारे पास रहने लगा। थोड़े ही अर्से में उसने अच्छी प्रगति कर ली। बाद में तो मैंने उसे काशी विद्यापीठ पढ़ने भेज दिया और वह एक उपयोगी कार्यकर्त्ता बन गया। उसमें सर्वांगीण शक्तियों का काफ़ी जमाव था।

लादूरामजी का आगमन

हमारे इसी मुकदमे के दौरान एक दिन हवालात में दो अनजान व्यक्ति हमारे लिये खाना लेकर आये। ये थे पं० लादूरामजी जोशी और उनकी पत्नी श्रीमती रमादेवी। जोशी जी नया-नया विधवा विवाह करके आये थे। शेखावाटी के पुरातन प्रेमी प्रदेश में इस किस्म की यह पहली शादी थी। इससे वहा के वातावरण में बड़ा क्षोभ पैदा हुआ। पंडितजी का सेवा संघ से सम्बन्ध था। वे उसके कार्यकर्ता और आजीवन सदस्य थे। उसकी भी एक कहानी है। जयपुर राज्य के बिसाऊ ठिकाने के ठाकुर के पाले हुए शिकार के सुअरों, बेगार और लगान की ज्यादती और लागबाग का किसानों को बड़ा कष्ट था। वहां के एक धनिक श्री गजराजजी झुंझुनीवाला सार्वजनिक भावना रखते थे। किसानो के साथ उनकी सहानुभूति थी। ठाकुर ने उन्हें भी अपमानित किया था। उनकी सहायता से संघ ने बिसाऊमें आन्दोलन छेड़ा। उसमें लादूराम जी भी काम कर चुके थे। अजमेर आने पर वे संघ परिवार में रम गये। संघ के लिये यह परीक्षा काल था। उधर पथिकजी गिरफ़्तार थे, इधर हम कैद थे। 'तरुण राजस्थान' और संघ के कार्य-संचालन का दायित्व था। सौभाग्य से राहतजी व बाबाजी की सलाह और मणिलाल भाई कोठारी की मदद मौजूद थी। फिर भी आर्थिक संकट गम्भीर था। आखिर पं० लादूराम जी को कानपुर भेजा गया। स्व० गणेश शंकर विद्यार्थी पथिकजी के मित्र, देशी राज्यों की प्रजा के हिमायती व संघ के मददगार थे। उन्होंने एक अच्छी सी रकम इकट्ठी करवा कर जोशी जी को लौटाया। अपने लम्बे सार्वजनिक जीवन में मैंने जोशीजी के जैसे शुद्ध हृदय, सेवा परायण, साहसी, कर्मठ और नम्र सेवक बहुत कम देखे हैं।

नागर परिवार

पथिक जी की गैर मौजूदगी में कुछ व्यक्तियों से परिचय का और मौका मिला। एक तो उज्जैन के स्वामी रामानन्द थे जो मालवे में हरिजन उत्थान का काम करते थे। वे कई मास तक संघ मे रहे। दूसरे थे बूंदी के भूतपूर्व सेनापति श्री नित्यानन्दजी नागर। रियासती कुचक्रों में फंस कर वे निर्वासित कर दिये गये थे। संघ से उनका पहिले ही परिचय था। उनके साथ उनके पुत्र श्री ऋषिदत्त मेहता और पुत्रवधु श्रीमती सत्यभामा देवी भी थीं। नागरजी संघ की सलाह से पोलीटिकल विभाग के साथ अपने मामले मे पत्र व्यवहार करते और अखबारों में प्रकाशन करवाते थे। ऋषिदत्तजी सम्पादन कला का अभ्यास करने लगे। आगे चल कर इस परिवार ने प्रान्त के राष्ट्रीय संग्राम और सार्वजनिक जीवन मे काफ़ी भाग लिया।

स्वामी कुमारानन्द

किन्तु सबसे अधिक उल्लेखनीय व्यक्ति थे स्वामी कुमारानन्दजी। ये एक प्रतिष्ठित बंगाली परिवार में जन्म लेकर क्रांतिकारी पथ के पथिक बन गये थे और सन् १९२१ मे ब्यावर को कार्यक्षेत्र बनाने से पहिले कई जेलो की यातनाएं भुगत कर देशभक्ति की कीमत अदा कर चुके थे। असहयोग आन्दोलन के सिलसिले में कई वर्ष का कारावास पूरा करके वे अजमेर लौटे तो सेवा संघ में हम लोगों के अतिथि रहे। इस थोडे समय में ही इन्होंने संघ परिवार के बाल वृद्ध सभी को अपने सरल, स्नेही और विनोदी स्वभाव से प्रभावित कर लिया। राजस्थान मे भी इस त्यागी सेवक ने हर राष्ट्रीय आन्दोलन मे अपनी कुर्बानी की परम्परा बराबर कायम रखी। जब यह भावुक संन्यासी झूम-झूम कर देश-प्रेम के बंगला गीत सुनाता तो श्रोता भी बड़ी स्फूर्ति का अनुभव करते थे।

स्व० शंकरलालजी शर्मा भी 'तरुण राजस्थान' में हमारे साथ काम करने आ गये थे और सन् १९२८ तक बराबर साथ रहे। कौटुम्बिक भावना, स्पष्ट-वादिता और व्यक्तिगत सेवा की वृत्ति इनके खास गुण थे। घटनाओं को इतना सिलसिलेवार याद रखते थे कि हम लोग उन्हें विनोद में 'क्रोनिकल' (इतिहास) कहा करते थे। वे राष्ट्रीय हलकों में 'बुजुर्ग' या 'भगवन' के नाम से प्रसिद्ध थे।

सही पत्रकारिता का प्रभाव

हमारे संगठन और अखबार की कार्यपद्धति का कैसा प्रभाव था, इसके दो उदाहरण उल्लेखनीय हैं। दोनों घटनाएं १६२४ के आसपास की हैं। पहली यह थी कि उदयपुर राज्य के एक बड़े जागीरदार के पुत्र ने विवाह किया। उसमे जितनी उन्हें आशा थी उतना दहेज पुत्रवधु नही लाई। इस पर सास-ससुर नाराज हुए और कुंवर साहब ने नवविवाहिता पत्नी से असहयोग कर दिया। लड़की बेचारी बहुत दुःखी रहने लगी तो हमारे संवाददाता को खबर लग गई। उसने मेरे पास समाचार भेजे। मैंने उनकी नक़ल जागीरदार साहब को भेज कर उनका वक्तव्य जानना चाहा। तीसरे दिन मेरे पास उनका आदमी आया और जागीरदार की तरफ़ से धन्यवाद के साथ-साथ भेट पूजा का प्रस्ताव भी लाया। मैंने उसे निर्दोष अबला के प्रति अन्याय बन्द करने के लिये कहलवा दिया। वैसा ही हुआ और एक असहाय महिला के दुःख का अन्त हो गया।

सन्त का भूत—पापी का भावी

दूसरी घटना इससे अधिक असाधारण थी। बात यूं थी कि किशनगढ़ की छोटी सी रियासत के 'प्रधान मन्त्री' दीवान बहादुर पौनास्कर एक प्रभावशाली शासक थे। भारत सरकार के राजनैतिक विभाग में उनका असर था। बड़े विद्वान् भी थे। उनकी स्त्री का देहान्त हो गया था। उनके मोटर ड्राइवर की पत्नी रूपवती थी। वह रावणा जाति की थी। ये लोग दास कहलाते थे। दीवान साहब की नजर उस पर पड़ी तो उन्होंने उसे रखेल बनाना चाहा। उसका पति जानदार आदमी था। उसने यह प्रस्ताव मंजूर नही किया। एक दिन वह स्त्री और उसके साथ एक व्यक्ति हमारे यहां आये और बोले, "दीवान साहब ने ड्राइवर को मरवा डाला है और अब इस स्त्री को जबरदस्ती रखेल बनाने पर तुले हुए हैं। हमें न्याय मिलना चाहिये।" मैंने दोनों से बयान लिखवा कर उसकी नक़ल पौनास्कर साहब को भेज दी और उन्हें लिखा, "कृपया सप्ताह के भीतर अपना जवाब भिजवा दीजिये अन्यथा यह कहानी हमारे अखबार में छाप दी जायगी।" चौथे दिन दीवान साहब का उत्तर आया: "आप यहीं आ जाइये ताकि सब छानबीन रूबरू हो जाय।" मैं पहुंचा तो उन्होंने राज्य के न्याय मन्त्रीजी से मेरा परिचय कराया और एक फ़ाइल मेरे सामने रख कर कहा: "इसे पढ़ कर आप जो फ़ैसला देंगे मुझे मंजूर होगा।" उनकी उम्र और ओहदे को देखते हुए उनका यह साहस मुझे अद्भुत लगा। मैंने कागजात पढ़ कर कहा: "दीवान साहब, क्षमा कीजिये, फ़ाईल तो आपके विरुद्ध जाती है।" वे कुछ देर सोच बोले, "Every saint has a past and every sinner a future (हर

सन्त के पीछे एक भूतकाल और पापी के सामने एक भविष्य होता है) शब्दार्थ कुछ भी हो, उसके इस अंग्रेजी वाक्य का मतलब मैंने यह समझा : "अरे नौजवान, तू बड़ा महात्मा बन कर आया है, तेरे हाथ से भी गलतियां हुई होंगी। तो क्या मेरा उद्धार नहीं हो सकता?" मैंने उत्तर दिया : "मेरे लिये आपका जवाब काफी है मगर उस महिला का क्या हो?" अन्त मे यह निश्चय हुआ कि मैं उससे पूछ कर दीवान साहब को लिखूं। स्त्री ने घरवालों से सलाह करके सूचना दी कि यदि दीवान साहब नियमित रूप से उसके साथ विवाह कर लें और सारी सम्पत्ति का वारिस उसे बना दें तो उचित क्षतिपूर्ति और प्रायश्चित्त हो जायगा। दीवान साहब ने इस मांग को पूरा किया। इतना ही नहीं उस बेपढ़ी औरत को उन्होंने हिन्दी, मराठी और शायद अंग्रेजी भी पढ़ाई और वह एक प्रतिष्ठित समाज सेविका बनी।

दस राजस्थान के अन्य आन्दोलन

सन् १६२५ में सीकर के जाटों में असन्तोष पैदा हुआ। यह राजस्थान की प्रमुख कृषक जाति है और धाकड़ों की तरह साहसी और चतुर भी है। असंतोष का कारण तो वही लागबाग, बेगार और खास तौर पर लगान की ज्यादती थी। मेरे एक जाट मित्र श्री मुकन्दराम चौधरी की प्रेरणा से किसानों ने मुझे जयपुर बुलाया। सीकर ठिकाने की तरफ़ से मेरे पिता श्री मुरलीधरजी तंवरावाटी निज़ामत में वकील थे। लेकिन, इस नाजुक सम्बन्ध की न मैंने परवाह की और न पिताजी ने कभी इसे मेरे सेवा कार्य में बाधक होने दिया। उन दिनों सीकर ठिकाने का प्रबन्ध करने के लिये खा साहब अफ़ीजुर्रहमान नामक एक पेंशनर मुसलमान भेजे गये थे। वे अखबारों से डरते थे। मेरी दिलचस्पी सुन कर उन्होंने मुझसे मिलने की इच्छा प्रकट की। उनके प्रस्ताव पर मैं किसानों को लेकर सीकर पहुचा। लेकिन वहा उन्होंने एक महत्वपूर्ण मुद्दे पर वचन भंग कर दिया और किसानों को संतुष्ट करने के बजाय उनमें फूट फैलाने और उन पर अनुचित दबाव डालने लगे। समझौते की बातचीत टूट गई। उनके खिलाफ़ आन्दोलन हुआ। किसान सम्प्रति दबा दिये गये और खा साहब आबू पर्वत पर दिल की धड़कन बन्द होने से चल बसे। मुझे जयपुर से और हरिजी को सीकर से निर्वासित कर दिया गया और पं० लादूरामजी की मौरूसी ज़मीन ज़ब्त करली गई जो तीन चार वर्ष की अदालती लड़ाई के बाद लौटाई गई। उसी समय जयपुर राज्य से सेठ जमनालालजी बजाज के निर्वासन की आज्ञा भी निकाल दी गई। यह आज्ञा इतनी निराधार और स्वेच्छापूर्ण थी कि पं० मदनमोहन मालवीय जी की कोशिश से राज्य को उसे जल्दी रद्द करना पड़ा। मेरे खिलाफ़ जो हुक्म दिया गया उसका आधार सिर्फ़ मेरा सीकर के किसानों से सम्बन्ध होना था।

पुत्र की सज़ा पिता को

सीकर के सीनियर अफ़सर भी ओछे हथियारों पर उतर आये। उन्होंने मेरे पिताजी को वकालत के पद से अलहदा कर दिया। यह पुश्तैनी ओहदा था जिसे वफ़ादारी और योग्यता के साथ निभाया गया था। पिताजी कभी मेरे राजनैतिक कामों में दखल नहीं देते थे। अपनी इस तटस्थता के कारण वे

पहले भी कष्ट उठा चुके थे। बात यह हुई थी कि नीमकाथाना जयपुर राज्य की तंवरावाटी निज़ामत का केन्द्र था। वहां एक नायब नाजिम श्री मुरारीलाल और एक थानेदार ने एक पंजाबी ठेकेदार से रिश्वत लेकर उसके कर्जदार एक हरिजन को हवालात में इतना पिटवाया था कि उसके प्राण पखेरू उड़ गये। इस पर मैंने 'नवीन राजस्थान' में प्रकाश डाला और रियासत ने दोनों कर्मचारियों से जवाब तलब किया था। उन्होंने पिताजी पर दबाव डाला कि मुझसे उन समाचारों का खंडन करवायें। पिताजी ने साफ़ इन्कार कर दिया। तब उन्हें धमकियां दी गईं। फिर भी पिताजी ने मुझसे कुछ न कहा। आखिर चोरों से मिलकर पिताजी के यहां चोरी कराई गई और लगभग दस हजार रुपये का नक्द और ज़ेवर उड़वा दिया गया। पिताजी के लिये यह ऐसी भारी आर्थिक चोट थी जिसका घाव जिन्दगी भर नहीं भरा, लेकिन वे मुझसे शिकायत का एक शब्द भी जबान पर नहीं लाये। इसी तरह वकालत छूट जाने पर भी उन्होंने मुझे कोई दोष नहीं दिया। वे ईश्वर पर अटल श्रद्धा रखते थे। अंत में, अखबारों में सीकर के इस कृत्य की इतनी तीव्र निन्दा हुई कि पिताजी शीघ्र बहाल कर दिये गये।

आज्ञा भंग

लेकिन मेरे खिलाफ़ जयपुर की निर्वासन आज्ञा तो मौजूद ही थी। उस वक्त कौंसिल के प्रेसीडेन्ट और सर्वेसर्वा रेनाल्ड्स साहब एक निरंकुश तबियत के आदमी थे। मैंने उन्हें पत्र लिख कर बताया कि मैंने जयपुर राज्य भर में तो कुछ किया नहीं जिससे शांति भंग हुई या होने का खतरा हो, सीकर में भी कोई ग़ैर क़ानूनी या भड़काने वाली कार्यवाही नहीं की। फिर भी राज्य की दृष्टि से मैंने कोई आपत्तिजनक काम किया है तो वह मुझ पर मुक्दमा चलाये। मैं अभियुक्त बन कर हाज़िर हो जाऊंगा। इस पत्र का कोई उत्तर नहीं मिला। मैंने दूसरा पत्र लिखा कि मुक्दमा न चलाना हो तो मुझे मुलाकात का मौका दिया जावे ताकि मैं अपनी सफ़ाई दे सकूं। इस खत का भी उत्तर नहीं आया। तब मैंने इस मनमाने व्यवहार के विरोध में आज्ञा भंग करना अपना धर्म समझा और एक निश्चित तारीख को जयपुर पहुंचने की रेनाल्ड साहब को सूचना भेजदी। वहां पहुचने पर मुझे गिरफ्तार कर लिया गया। यह काम करने आये पं० शिवबिहारी तिवाड़ी शहर कोतवाल जो मेरा बड़े भाई की तरह आदर करते थे। बेचारे शर्मिन्दा तो काफ़ी थे, मगर मजबूर थे। मुझे एक दिन तो उन्होंने अपने कमरे में रखा। दूसरे दिन सुबह पुलिस के इंस्पैक्टर जनरल मि० कवेन्ट्री आये। उनके खिलाफ़ और कुछ भी कहा जाता हो, पर शिष्टता की उनमें कमी नहीं थी।

सहायक मेरे पूर्व परिचित ब्यास मगनराज जी थे। पुलिस में और भी कुछ अफ़सर मेरे स्कूल, कॉलेज या खेल के साथी थे। सभी को मुझे मुल्जिम देख कर अपने पर लज्जा हुई। कहने लगे "भाई साहब; आप लोग जन्म सफल कर रहे हैं। हम तो पापी पेट के फन्दे में फंसे हैं।" ग्यारह बजे मुझे सिटी मजिस्ट्रेट के सामने पेश कर दिया गया। सत्याग्रही होकर मैंने जमानत देना पसन्द नहीं किया। अधिकांश वकीलों में कोई दम नहीं था। मजिस्ट्रेट ने भी डराने की कोशिश की थी। मैंने मित्रों तक को वहां पहुंचने की सूचना नहीं दी थी। फिर भी, कई लोग मुकदमे के समय अदालत में आते और मेरे लिये फलाहार आदि लाते। पं० चिरंजीलाल मिश्र वकील और शंभुनाथजी, मुख्तार ने मुझे कानूनी सहायता देने के लिये अपनी सेवाएं पेश की। मैंने कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार कर ली।

जयपुर की जेलें

उन दिनों हवालाती कैदी घाट दर्वाजे के पुराने जेल पर रखे जाते थे। यह जगह नीची, तंग और गंदी थी। गर्मी के मारे बड़ी परेशानी रही। अजमेर के हमारे पूर्व परिचित जेलर श्री राजनारायण सुपरडंट थे। वे मीठा बोल कर चले गये। दूसरे दिन मुझे डाक्टर अब्दुल लतीफ़ के सामने पेश किया गया। वह एक मुसलमान युवक थे जिन्होंने मेरा रौलाट्ड के नाम का पत्र अखबारों में पढ़ लिया था। ज्यों ही बातों बातों में उन्हे पता चला कि उस पत्र का लेखक ही उनके सामने कैदी के रूप में खड़ा है तो उनका व्यवहार एकदम बदल गया। उन्होने मुझे आदरपूर्वक बिठाया और फ़ौरन सैंट्रल जेल भिजवा दिया। वहां मेरा सारा जेल जीवन अस्पताल में ही बीता। श्री० कल्याणबख्श पुरोहित मुख्य डाक्टर थे। ये मेरे बचपन के सहपाठी और मित्र थे। इन दोनो युवकों के साथ दिन भर आनन्द में व्यतीत होता था। ज्यों ही मैं जेल पहुंचा जेल के दूसरे कैदी बीमारी का या दवा लेने का बहाना करके मुझे देखने अस्पताल में आते रहे। उनके लिये किसी का अंग्रेजों को चुनौती देकर और दूसरों की सेवा के भाव से जेल आना नई बात थी। उनका आदर और प्रेम अन्त तक कायम रहा। एक दिन कवेन्ट्री साहब आये। वे ही जेलो के इन्स्पेक्टर जनरल भी थे। सुपरडंट की इच्छा न होते हुए भी वे इच्छानुसार मुझे 'क्रॉनिकल' वगैरा 'खिलाफ़तो' अखबार मंगाने की अनुमति दे गये। साथ ही मेरे खाने पीने, रहने सहने के बारे में राय देने के लिये रियासत चीफ़ मेडिकल अफ़सर डा० दलजंगसिंहजी को लिखवा गये। डाक्टर आये और मेरी परीक्षा लेकर राय दे गये कि मुझे बाहर सोने दिया जाय और मेरे साथ प्रथम श्रेणी के राजनैतिक क़ैदी के योग्य व्यवहार

किया जाय। जेल के क्लर्कों का भी प्रेम हो गया था। मेरे बारे में जो लिखा पढ़ी होती वे मुझसे कह जाते। इस कारावास की मधुर स्मृतियों में श्री कपूरचन्दजी पाटणी के व्यवहार और श्री० मणिलालजी कोठारी की मुलाक़ात का विशेष स्थान है।

अदालती नाटक

सिटी मजिस्ट्रेट श्री० लक्ष्मीनारायण, एक कायस्थ ग्रेजुएट थे। पुराने ढंग के सत्तापूजक आदमी थे। उनके पास ऊपर से जो हिदायतें आती उन्हीं को ध्यान मे रख कर मेरे मुक़दमे में कार्रवाई करते। सरकारी पैरोकार थे श्री० अब्दुल बाकी। ये अजमेर में खिलाफ़त और कांग्रेस में काम कर चुके थे और मेरे जेल के साथी और मित्र थे। मुझे मिश्रजी की सलाह और सहायता प्राप्त थी। लेकिन अपनी क़ानूनी तैयारी और पैरवी प्रायः मैं खुद ही करता था। आज्ञाभंग तो मैंने ज़रूर किया था और डंके की चोट किया था। मगर क़ानून की दृष्टि से जुर्म नहीं बनता था। बात यह है कि ताजीरात हिन्द की दफ़ा १८८ मे उदूल हुक्मी करने से ही अपराध नहीं होता। इस आज्ञाभंग से या तो शांतिभंग या प्राणहानि होनी चाहिये या सरकारी कर्मचारियों के कर्तव्य पालन में बाधा पड़नी चाहिये, या इन दोनों बातो का खतरा पैदा होना चाहिये। मैंने जयपुर पहुंच कर कोई भाषण नही दिया था, न कोई भीड़ भड़क्का हुआ था और न किसी सरकारी काम मे खलल पड़ा था। इस्तगासे के गवाहों ने यह सब स्वीकार किया। फिर भी मुझे मजिस्ट्रेट ने ५ माह की कड़ी सजा दे ही डाली। मेरी इच्छा तो न थी लेकिन मित्रों के आग्रह पर रियासत की ऊंची अदालतों का नमूना देख लेने के लिये सेशन जज के यहा अपील की।

मैंने मिश्रजी से क़ानून की किताबें मांग लीं और अपील व बहस तैयार कर ली। सेशन जज लखनऊ के कोई रिटायर्ड मुसलमान थे। उन्होने बहस सुनी और कह दिया कि इस्तग़ासे का कोई केस नहीं बनता। मगर फ़ैसला जब जेल मे मेरे पास पहुंचा तो उसमें मुझे बरी नहीं किया गया। बेचारे जज राजनैतिक प्रभाव में आ गये थे। अल्बत्ता उन्होने सज़ा को कड़ी से सादी में बदल दिया और पांच महीने से घटा कर ३ मास कर दी। लेकिन मैं थोड़े दिन बाद महाराजा की सालगिरह पर मियाद से पहले ही छोड़ दिया गया।

नीमूचाणा हत्याकाण्ड

सन् १९२५ की ग्रीष्म ऋतु में नीमूचाणा कांड हुआ। देशी राज्यों के इतिहास में इस घटना का वही महत्व है जो भारत में जलियावाला बाग़ का है।

नीमूचाणा अलवर रियासत का एक छोटा-सा गांव है। यहां के राजपूत किसानों को लगान संबंधी और दूसरी कई तकलीफें थी। अलवर के महाराजा जयसिंह जितनी कुशाग्र बुद्धि रखते थे उतनी ही निरंकुश तबियत वाले थे। प्रजा के शोषण और दमन मे सिद्धहस्त थे। महत्वाकांक्षाओं में बीकानेर के महाराजा सर गंगासिंह के प्रतिस्पर्धी और कुटिल नीति में उनके समकक्ष थे। उन्होंने अपने आतंक से प्रजा को भेड से भी अधिक दब्बू बना रखा था। नीमूचाणा वालों मे कुछ जीवन था। उसको कुचलने के लिये मशीनगन सहित सेना की बड़ी भी टुकडी भेज दी गई। उसने सैकड़ो आदमियों को भून दिया, प्रजा की सम्पत्ति आग लगा कर जला दी और वे सब अमानुषिक लीलाएं कीं जो ऐसे अवसरों पर मानव विकार स्वच्छन्द होकर किया करता है। इस मुहिम के नायक श्री० गोपालदास नामक एक पंजाबी पुलिस अफ़सर थे और ब्रिटिश सरकार की सहमति इस कुकृत्य में महाराजा को मिल ही गई थी। इस घटना को दबा देने के लिये सभी उपाय किये गये मगर सत्य कैसे छिप सकता है? इधर पीड़ितों में से कुछ सेवा संघ में आये। उधर 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के एक मनचले पत्रकार श्री० चमनलाल ने जासूसी ढंग से महाराजा की कमजोरियों मे घुस कर अधिकार पूर्ण सामग्री इकट्ठी कर ली और भंडा-फोड़ कर दिया। जावली ठाकुर प्रजा की दृष्टि से शासक तो बहुत अच्छे न थे मगर भजनानन्दी, राजपूतो के हिमायती और महाराजा से असन्तुष्ट थे। उन्होंने भी नीमूचाणा हत्याकाड के खिलाफ़ आवाज उठाने की प्रेरणा की। रियासती प्रजा के अनन्य मित्र और सहायक मणिलाल भाई कोठारी ने रेल में कई चक्कर काटे और बहुत सी बातों का पता लगाया। संघ के भेजे हुए श्री कन्हैयालाल जी कलयंत्री, लादूराम जी जोशी और ब्रह्मचारी हरिजी भेष बदल कर नीमूचाणा पहुंचे और बहुमूल्य तफ़सील जुटा कर लाये। अन्त में एक जांच कमेटी भी बनी जिसके प्रमुख कोठारीजी और मैं मंत्री था। कमेटी की रिपोर्ट भी तैयार हुई परन्तु कोठारी जी के यहां से ऐसी गायब हुई कि फिर प्रकाशित ही नही हुई। फिर भी नीमूचाणा की घटना ने निरंकुश राज्य व्यवस्थापक के खिलाफ़ देश भर मे तीव्र रोष और स्थायी घृणा पैदा कर दी। शहीदों का खून बेकार नही गया।

गांधीजी की दिलचस्पी

महात्मा गांधी ने अपनी रियासतों सम्बन्धी तटस्थ वृत्ति के होते हुए भी इस दोहरा स्वेच्छाचार की कड़ी निन्दा की। उन्होंने अपने 'यंग इण्डिया' में 'Dyerism Double Distilled' शीर्षक से एक टिप्पणी लिखी जिसका हिन्दी अनुवाद यह है :

"अलवर के विषय में मेरे पास इतना ब्योरा नहीं है कि कुछ लिख सकूं। मेरी बात या लेख पर निज़ाम साहब की तरह अलवर महाराज भी तिरस्कार के साथ हंस सकते है। अब तक जो बातें प्रकाशित हुई हैं, वे यदि सच हैं तो इसे दोहरी डायरशाही ही समझना चाहिये। किन्तु मे जानता हूं कि फ़िलहाल मेरे पास इसकी कोई दवा नहीं है। इन भीषण आरोपों के सम्बन्ध में कम से कम जांच कराने के निमित्त समाचार पत्रों वाले-जो उद्योग कर रहे हैं, उसे में आदर की दृष्टि से देख रहा हूं।"

कानपुर कांग्रेस के समय देशी राज्य प्रजा परिषद का जो जल्सा हुआ उसमें स्वीकृत नीमूचाणा सम्बन्धी प्रस्ताव महात्माजी का ही बनाया हुआ था। वह अंग्रेजी मे था जिसका हिन्दी अनुवाद यह था :

"देशी राज्यों की प्रजा की यह परिषद अलवर राज्यान्तर्गत नीमूचाणा की अमानुषिक दुर्घटनाओं पर खेद प्रकट करती है और इससे भी अधिक खेद इस बात पर प्रकट करती है कि राज्य ने अपनी पुलिस और अफ़सरों द्वारा किये गये घोर अत्याचारों और अनियमितताओं के कारणों और विस्तार की खुली और निष्पक्ष जांच करने की अनुमति न देने का दुराग्रह किया है।

"यह परिषद अनेक शोकदग्ध कुटुम्बों, आहत व्यक्तियों और उन लोगों के प्रति, जो कानून और व्यवस्था के नाम पर अपनी सम्पत्ति के अकारण नष्ट कर दिये जाने से गृहहीन हो गये है, हार्दिक सहानुभूति प्रकट करती है और चाहती है कि वह नीमूचाणा के लोगों को इस संकट के समय कुछ कारगर सहायता करने में समर्थ हो।"

बापू का संदेश

इस अवसर पर स्व० मणिलाल कोठारी और में गांधीजी से मिले थे और उन्होंने न सिर्फ़ उपरोक्त प्रस्ताव बना कर दिया बल्कि यह संदेश भी परिषद के लिये प्रदान किया:—

"प्रत्येक मनुष्य अपना बन्धन काट सकता है। यदि हम इस सामान्य नियम को समझ लें और उसका पालन करें तो सब दुःख की जड़ काट सकते हैं। कोई ज़ालिम मज़लूम की सहाय के बग़ैर ज़ुल्म नहीं कर सकता है। इतना पाठ सीख लें तो कैसा अच्छा होगा?"

बिजोलिया में खादी कार्य

"सेठ जमनालालजी की इच्छा थी कि स्वावलम्बन पद्धति पर राजस्थान में कहीं खादी का काम हो। इसके लिये ऐसा क्षेत्र चाहिये जहां राष्ट्रीय जागृति,

नथमलजी चोरड़िया

इसी साल मुझे रचनात्मक कार्य के संचालन के लिये बिजोलिया जाना पड़ा। रास्ते में नीमच में सेठ नथमलजी चोरड़िया से जान पहचान हुई। उन्होंने स्थानीय हरिजनों का साथ सारे कट्टर पंथी समाज के मुकाबले में अकेले दम दिया था। समाज सुधार के काम में भी वे जाति के विरोध की परवाह न करके अग्रगामी रहे थे। उनकी ज़िंदादिली और बहादुरी के लिये सभी के दिल में प्रेम और मान पैदा होता था। वे १९३० के सत्याग्रह में प्रान्तीय कांग्रेस के प्रधान की हैसियत से जेल भी गये थे और जीवन के अन्तिम समय में स्त्री शिक्षा के लिये एक बड़ी रकम दान कर गये थे।

एक हिंसक योजना

इस वर्ष जब मैं बिजोलिया में काम कर रहा था तो अंजना देवी और रामसिंह मेरे साथ थे। इनके अलावा जयसिंह और वृद्धिसिंह नामक हमारे दो युवक जेठालालजी के साथ खादी कार्य करते थे। ये दोनों बेगूं के किसान थे। इन्हें संघ के आन्दोलन ने प्रभावित किया था। सामन्तशाही के अत्याचारों से क्षुब्ध होकर उनका अन्त करने की वे प्रतिज्ञा ले चुके थे। जयसिंह उनमें अधिक आदर्शवादी था। ग्रामीणों को कुटुम्ब और जमीन का मोह प्राणों से भी अधिक होता है। जयसिंह ने देश सेवा की खातिर दोनों का त्याग कर दिया था। रावतदा ठाकुर के अमानुषिक जुल्मों का दंड देने के लिये इन सब के दिलों में आग सी जल रही थी। तीनों नौजवानों ने ठाकुर के खिलाफ़ सशस्त्र कार्यवाही करने की योजना बनाई। यह उस समय की बात है जब मैं बीच में किसी कार्य से अजमेर चला आया था। पीछे ये तीनों गिरफ़्तार करके उदयपुर भेज दिये गये। इस अवसर पर इन्हें लगभग १०० मील पैदल चलाया गया और कई तरह से जलील और पीड़ित किया गया। थोड़े दिन उदयपुर जेल में रख कर बिना मुकदमा चलाये ही रामसिंह को राजनगर और मोही में तथा जयसिंह और वृद्धिसिंह को बेगूं इलाके में नज़रबन्द कर दिया गया। कुछ अर्से बाद रामसिंह और जयसिंह इन बन्धनों को तोड़कर अजमेर चले आये।

हटूंडी आश्रम की स्थापना

सन् १९२७ में गांधी आश्रम की स्थापना हुई और हटूंडी में पक्के मकानात बने। यहीं गांधी सेवा संघ की राजस्थान शाखा कायम हुई। उपाध्याय जी उसके संचालक नियुक्त हुये और महोदय जी, बाबाजी और लूणियाजी सदस्य हुये। इस प्रकार प्रान्त में सत्याग्रह तत्व के प्रसार और रचनात्मक कार्यक्रम की पूर्ति के लिये विधिवत् और संगठित प्रयत्न शुरू हुए।

इस अर्से में पं० अर्जुनलालजी सेठी के नेतृत्व में कांग्रेस का काम होता रहा। उनके मुख्य साथी मिर्जा अब्दुल क़ादिर बेग, पं० चंदूलालजी भार्गव और श्री मिरेमल दूगड़ रहे। परन्तु सन् १६३० तक जनसाधारण का समर्थन बहुत कम रह गया था। कोई खास राजनैतिक कार्यक्रम भी नहीं था और रचनात्मक प्रवृतियां अधिकतर गाधी सेवा संघ और चर्खा संघ ने अपना ली थीं।

भरतपुर का मामला

सन् १६२८ में पथिकजी उदयपुर जेल से छूट कर आये। उनकी रिहाई के साथ ही मेवाड़ सरकार ने भविष्य के लिये रियासत में उनका प्रवेश निषिद्ध कर दिया। मैं इस समय भरतपुर में राजस्थान हिन्दी साहित्य सम्मेलन में होता हुआ कलकत्ते गया था। भरतपुर का यह आयोजन श्री० क्षेमानन्दजी राहत और अधिकारी जगन्नाथदासजी के परिश्रम का फल था। महाराजा किशनसिंहजी की पूरी मदद थी। उन पर भारत सरकार के कोप के बादल मंडराने शुरू हो गये थे। कारण जाबते में तो यह था कि पिछली बाढ़ के समय प्रजा पर बड़ी ज्यादतियां हुई थी। शासन में बहुत सी खराबियां थीं और महाराजा के कृपा पात्र राजा किशन के खिलाफ़ गम्भीर व्यक्तिगत शिकायते थीं। साथ ही यह भी सच था कि महाराजा कुछ दबंग आदमी थे। सरकार की तरफ़ से आफ़त आती देख कर उन्होंने सार्वजनिक क्षेत्र में क़दम उठाया और नेताओं का आशीर्वाद लेकर लोकप्रियता का सहारा ढूंढा। परन्तु जैसे विदेशी नौकरशाही की प्रजा के प्रति चिंताशीलता बनावटी होती थी, वैसे ही हमारे अधिकांश राजाओं की देशभक्ति भी कमजोर सी होती थी। इसमें औंध की तरह प्रजा सेवा की सच्ची भावना और व्यक्तिगत जीवन में शुद्धता होती तो साम्राज्यवादी सरकार इनका कुछ नही बिगाड़ सकती थी। अस्तु, भरतपुर सम्मेलन के सभापति प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा हुये थे और कवि सम्राट रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा महामना मालवीयजी ने स्वयं पधार कर उसका गौरव बढ़ाया था। सेठ जमनालालजी भी उपस्थित हुये थे।

कलकत्ता यात्रा

कलकत्ते में अग्रवाल महासभा का अधिवेशन था। श्री० केशवदेव नेवटिया सभापति थे। यह पहली जातीय संस्था थी जिसने शुरू से अपनी नीति और गतिविधि प्रगतिशील, राष्ट्रीय और रियासती जनता की राजनैतिक आकांक्षाओं के अनुकूल रखी। इस समय पुराने विचार के लोगों और सुधारकों में जोर का युद्ध छिड़ा हुआ था। मैं भी शरीक हुआ, मगर मेरा असली उद्देश्य तो देशी राज्यों की जनता के पक्ष को गति देना और संघ के लिये धन संग्रह करना था। इस

यह मत था कि मध्यकालीन भारत में हुये होते तो कहीं के राजा बन बैठते। इनके और बीकानेर महाराजा गंगासिंहजी के बीच प्रतिस्पर्धा थी। व्यासजी वगैरा के आन्दोलन के परिणाम स्वरूप ये जोधपुर से निर्वासित होकर कई वर्ष अजमेर रह चुके थे। मेवाड़ पहुंच कर उन्होंने पथिकजी को छोड़ने के साथ ही किसानों को दबाना शुरु किया। बिजोलिया के समझौते की कुछ शर्तें ठिकाना तोड़ रहा था और राज्य समझौते में रही खामियाँ सुधार नहीं रहा था। इस पर असंतोष बढ़ा और कोई सुनवाई न होती देख कर किसानों ने माल (बारानी) जमीन से अस्तीफ़ा दे दिया। इस ज़मीन पर लगान का बोझा बहुत भारी था। किसानों की शिकायतें दूर करने के बजाय ये ज़मीनें महाजनों, हरिजनों और जागीरदारों वगैरा को बेच दी गईं। इस वक्त तक पथिकजी छूट आये थे।

पथिकजी का सम्मान

बिजोलिया के किसानों के आग्रहपूर्ण निमंत्रण पर पथिकजी और साथ में मैं और हरिजी भी रवाना हुये। हम तीनों का ही मेवाड़ में जाना मना था। इसलिये हम लोग ग्वालियर के सिंगोली इलाके में फुसरिया गांव पहुंचे। यह बिजोलिया की सीमा पर है। यहां के किसान सत्याग्रहियों के सगे सम्बन्धी और उनकी प्रवृत्तियों से वाकिफ़ थे। हमारे साथ शोभालालजी व केसरपुरा (ग्वालियर) के पटेल रामबक्सजी आर्य भी हो लिये थे। वे हमारे मित्र व संघ के भक्त थे। पथिकजी के दर्शनों के लिये इलाके भर के लोग आये। दिन भर स्त्री पुरुषों का तांता लगा रहा। हरेक ने अपनी श्रद्धा प्रकट की, सत्याग्रह की प्रतिज्ञा को दोहराया और पथिकजी ने उन्हें प्रोत्साहन देने वाला भाषण दिया। मेवाड़ सरकार और बिजोलिया ठिकाने को हम लोगों का इस तरह इधर जाना और लोगों का सम्मान प्रदर्शित करना खटका। उनकी घुड़सवार सेना की एक टुकड़ी रास्ते में घात लगा कर बैठ गई जहां सड़क का कुछ भाग मेवाड़ की हद में से गुजरता था। हम लोगों का कार्यक्रम दूसरे रोज़ सुबह प्रस्थान करने का घोषित हो चुका था। इसकी खबर पाकर मेवाड़ी अधिकारियों ने हमें मार्ग में ही पकड़ ले जाने की योजना बनाई थी। रात को ग्यारह बजे जब हम दिन भर के थके मारे आराम करने की तैयारी कर रहे थे, तो रामबक्सजी सिंगोली के सरकारी हल्कों से इस योजना की खबर लेकर आये। हमारा कार्यक्रम तुरन्त बदल गया। हमारे तांगे सिंगोली में ही रहे और हम रात के एक बजे जब सारी दुनिया सोती थी, पैदल चल दिये। चांदनी रात थी। हम कोई एक दर्जन साथी थे। आगे आगे जानकार पथ-प्रदर्शक थे। सड़क छोड़कर चले और सुबह होते होते रास्ते से बहुत दूर निकल गये। उधर रामबक्स जी

तांगे लेकर चले। रास्ते में मेवाड़ी वीरों की फ़ौज मिली। यह जान कर कि शिकार हाथ से निकल गया बेचारे हाथ मल कर घर लौट गये। थोड़े दिनों बाद पथिकजी को और मुझे ग्वालियर से यह आज्ञा मिली कि हम दोनों मेवाड़ से लगे हुये दस मील के सींधिया इलाके मे नहीं जा सकेंगे।

राजस्थान के तीन दल

इस समय राजस्थान मे काम करने वाले मुख्य तीन दल थे। देशी राज्यों की राजनीति सेवा संघ के हाथों संचालित होती थी। पथिकजी उसके मुखिया थे। कांग्रेस के नेता सेठीजी थे। उसकी अजमेर और ब्यावर शाखायें सजीव, केकड़ी और पुष्कर में नाममात्र की और कोटा, करौली, जोधपुर और इन्दौर की मृतप्राय थी। तीसरा दल गांधीवादियों का था। इसके असली नायक सेठ जमनालालजी थे, मगर उसके स्थानीय प्रतिनिधि के रूप में हरिभाऊजी काम करते थे। तीनों में सहयोग का अभाव था। भीतर-भीतर विरोध की भावना भी काम कर रही थी। सेवा संघ की इच्छा थी कि कम से कम गाधी दल के साथ सहयोग रहे। पिछले लम्बे कारावास मे गांधीजी के प्रति पथिक जी की श्रद्धा व्यक्ति से आगे बढ़ कर विचारों के क्षेत्र तक पहुंचती नज़र आ रही थी। वे साबरमती गये, बापू से मिले और सेठीजी से चर्चा की। परन्तु सहयोग का रास्ता सुगम न हुआ। गाधीजी ने चाहा कि पथिकजी राजस्थान में जमनालालजी को नेता मान लें। पथिक जी को यह स्वीकार न हुआ। आधुनिक राजस्थान के इतिहास में यह एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना हुई।

देशी राज्य परिषद

बड़े दिन की छुट्टियों में बम्बई में अखिल भारतीय देशी राज्य प्रजा परिषद की बैठक हुई। यूं तो सन् १९२३ में दिल्ली मे और १९२५ में कानपुर मे भी परिषद के जल्से हो चुके थे, परन्तु वे शुरुआत मात्र थे। उन्हें आठ करोड़ प्रजा जनों के प्रतिनिधि नही कहा जा सकता था। यह स्वरूप एक हद तक बम्बई के अधिवेशन को मिला। राजा और अंग्रेज दोनों की इस पर नज़र पड़ी। इस संस्था पर बीकानेर महाराजा की शुरू से ही गहरी और टेढ़ी आंखें रही। इस अधिवेशन पर देश के कोने-कोने से रियासती प्रजा के प्रतिनिधि आये। उस वक्त भारतीय रजवाड़ो में दो दल क्रियाशील थे, राजस्थान में सेवा संघ और काठियावाड़ में सौराष्ट्र मंडली। उसके नेता श्री० अमृतलालजी सेठ थे। इनका गुजराती साप्ताहिक 'सौराष्ट्र' एक जोरदार और प्रभावशाली पत्र था। सौराष्ट्र सेवा समिति उनकी एक अच्छी और सम्पन्न संस्था थी।

ब्रिटिश हस्तक्षेप पर मतभेद

सर्वश्री बलवन्तराय मेहता, ककल भाई कोठारी, मणिशंकर त्रिवेदी और झवेरचन्द मेघाणी जैसे योग्य कार्यकर्त्ता अमृतलाल भाई के सहायक थे । इनमें और सेवा संघ में खास भेद यह था कि सौराष्ट्र दल शहरी आन्दोलन करता था और रियासतों में ब्रिटिश हस्तक्षेप का विरोधी नहीं था, जब कि सेवा संघ गावों में काम करता था और अंग्रेजों का दखल नहीं चाहता था । परिषद के संयोजन और संचालन में सौराष्ट्र मंडली की प्रधानता थी। सेवा संघ का सहयोग था। श्री मणिलालजी कोठारी सेवा संघ के साथ थे। ब्रिटिश हस्तक्षेप संबंधी नीति के कारण कांग्रेस के नेताओं और महात्माजी का आशीर्वाद परिषद को प्राप्त नहीं हुआ था और सभापतित्व के लिये उसे नरम दल के महारथियों पर निर्भर रहना पड़ता था। तदनुसार इस अधिवेशन के लिये मद्रास के दीवान बहादुर रामचन्द्रराव अध्यक्ष चुने गये परन्तु लोगों की आखें पथिकजी की ओर लगी हुई थी। उनका जैसा स्वागत हुआ वैसा अध्यक्ष का नहीं हुआ । वे उपाध्यक्ष चुने गये और मैं राजपूताना, मध्य भारत और पंजाब के लिये मंत्री। इस परिषद मे रियासती प्रजा की तरफ़ से अंग्रेज जनता को अपनी स्थिति समझाने के लिए एक डेपुटेशन लन्दन भेजना तय हुआ । बटलर कमेटी के सामने प्रजा पक्ष रखने का भी सवाल था लेकिन उसने हमारे प्रतिनिधियों की बात तक नहीं पूछी। इस अधिवेशन में सर्वश्री राजा गोविन्दलाल पित्ती, निरंजन शर्मा अजित और मदनलाल जालान से विशेष सम्पर्क हुआ। पित्तीजी मारवाड़ी समाज के बड़े धनिकों में एक होने के अलावा उच्चशिक्षित और रियासती राजनीति में अच्छा रस लेने वाले थे। अजितजी मंजे हुए पत्रकार तो थे ही। इनके स्पष्ट वक्ता, तबियत के साफ़ और वफ़ादार मित्र होने का भी अच्छा अनुभव हुआ। देशी राज्यों की प्रजा के प्रति इनकी निष्ठा और भक्ति में कभी फ़र्क नहीं आया । जालानजी बम्बई के मारवाड़ी कार्यकर्ताओं में प्रमुख थे। वे और उनके साथी सर्वश्री श्रीनिवास बगड़का, प्रेमचन्दजी केड़िया और कुछ दूसरे लोग राजस्थान की सेवा संस्थाओं और प्रवृत्तियों को बराबर बल और सहायता पहुंचाते रहते थे।

भरतपुर का पटाक्षेप

जब हम परिषद से लौट कर आये तो खबर मिली कि भरतपुर के महाराजा किशनसिंहजी और अंग्रेज सरकार के संबंध दिन दिन बिगड़ते जा रहे हैं। एक तरफ़ उनकी मनमानी कार्रवाइयों और उड़ाऊ खाऊ नीति से प्रजा क्रुद्ध और त्रस्त हो चुकी थी। दूसरी तरफ़ उनके स्वाभिमानी रवैये को अंग्रेज प्रभु नापसन्द कर रहे थे। इसी तनातनी में महाराजा ने अपने विचारों और कार्यों में थोड़ी

नाजुक अवसर पर भी स्व० विद्यार्थीजी ने कानपुर से आकर मेल मिलाप कराने की कोशिश की, परन्तु विकारों की प्रधानता होती है तो दिलों की सफ़ाई आसानी से नहीं हुआ करती। आखिर वह सफ़ाई सन् १९३५ में हुई। इस बीच में मैंने अपनी भूल तो अर्से से अनुभव करली थी परन्तु पथिकजी की ओर से कोई ऐसा संकेत नहीं मिला था। एक दिन वे नारेली आये और आँखें भर कर कहने लगे, "मैंने तुम लोगों जैसे साथी खोकर जीवन की सबसे बड़ी भूल की।" उनके हृदय से निकले हुए इस एक वाक्य ने हमारा आपस का सारा मेल धो दिया। वस्तुतः दिलों की सफ़ाई इसी तरह हुआ करती है।

लाजपतरायजी से भेंट

राजस्थान सेवा संघ टूटने पर मेरे साथी और मित्र श्री० बलवन्तराय मेहता ने प्रस्ताव किया कि मैं उनकी तरह लाला लाजपतरायजी की लोक सेवक समिति का आजीवन सदस्य बन जाऊं। शायद उन्हीं की प्रेरणा से लालाजी ने मुझे मिलने बुलाया। वे उस समय पूना में थे। समिति के नियमानुसार ग्रेजुएट ही सदस्य बन सकता था। परन्तु लालाजी ने मेरी 'सेवाओं और योग्यता' को देखते हुए मेरे मामले में अपवाद करना मंजूर कर लिया। परन्तु दुर्भाग्यवश थोड़े ही समय बाद लालाजी का स्वर्गवास हो गया। श्री० अमरनाथ विद्यालंकार से वहीं पहली भेंट हुई। वे लालाजी के निजी सचिव थे। उनकी सज्जनता की अच्छी छाप पड़ी।

प्रान्तीय प्रजा परिषद्

सेवा संघ के टूट जाने के बाद ही मुझे राजपूताने की रियासती प्रजा परिषद बुलाने की धुन सवार हुई। अजमेर का वातावरण अनुकूल नहीं था। अनेक दिशाओं से विघ्न बाधाएं आईं। नेताओं तक ने विरोध किया। परन्तु स्वतंत्र होकर कुछ कर दिखाने का हौसला और कठिनाइयों के बीच में से रास्ता बना लेने का आत्मविश्वास हार मानने को तैयार नहीं था। आस पास के रजवाड़ों में कार्यकर्त्ता भी ऐसे आयोजन के लिये उत्सुक थे। श्री० अमृतलाल सेठ ने अध्यक्ष पद स्वीकार कर लिया। कोठारीजी की सहानुभूति थी। पं० जियालालजी और उनके साथी मेरी पीठ पर थे। अतः परिषद हुई और सफलतापूर्वक हुई। लेकिन अवांछनीय हाथों में पड़ कर अकाल मृत्यु के गाल में विलीन हो गई।

'यंग राजस्थान' का प्रकाशन

इस अधिवेशन की कामयाबी और उसके अनुचित विरोध की प्रतिक्रिया स्वरूप मुझे नये मित्र और सहायक मिले और कुछ नया और कठिन लगने वाला

काम करने की प्रेरणा हुई। शोभालालजी की सहायता से फ़रवरी १९२९ में 'यंग राजस्थान' नामक अंग्रेज़ी साप्ताहिक निकाला। अनेक मित्रों ने इसे एक दुःसाहस ही समझा। परन्तु बाद में न उन्हें अफ़सोस रहा, न हमें। सरकारी हल्कों तक में वह पत्र चाव से पढ़ा जाने लगा।

सेठी-उपाध्याय युद्ध

हम लोग ब्यावर जाकर बसे ही थे कि सेठीजी और उनके दोस्तों के साथ हरिभाऊजी के दल का चुनाव युद्ध छिड़ गया। यह प्रान्त के राजनैतिक नेतृत्व में आमूल परिवर्तन का प्रयत्न था। बाबाजी उपाध्यायजी के दाहिने हाथ थे। उनके कारण कई परस्पर विरोधी व्यक्तियों का भी सहयोग मिल गया। चुनाव लड़ा गया। झूठे मेम्बर बनाये गये, उनके लिये खादी के कपड़े बनवा कर 'ग्रीन रूम' पद्धति का उपयोग किया गया और बनावटी गवाहियां और सबूत पेश किये गये। संस्थाओं का दुरुपयोग भी हुआ। ग़रज़ यह कि दोनों तरफ़ से अवांछनीय कार्रवाइयां हुईं। पं० जियालालजी से उपाध्यायजी को बड़ी मदद मिली। रुपये का बल तो अधिक था ही, जन बल भी मिल गया। लोग परिवर्तन भी चाहते थे। सेठीजी परास्त हुए। उन्हें ऐसी चोट लगी कि फिर नहीं पनपे। अधिकांश मुसलमान कार्यकर्त्ताओं के दिल उसी समय से कांग्रेस से फिर गये और उनमें से कुछ लोग धीरे-धीरे साम्प्रदायिकता के गर्त में गिरते चले गये। प्रान्तीय कांग्रेस में गांधीवादी दल की प्रधानता हो गई और राष्ट्रीय जीवन में सात्विकता और प्रतिष्ठा की झलक सी आ गई। परन्तु पारस्परिक मतभेद फिर भी न मिटे और जैसी आशा की गई थी उसके अनुसार कांग्रेस संगठन में बल नहीं आ पाया।

हिंसा की नीति की निष्फलता और अवांछनीयता का तो मैं दस साल पहले ही कायल हो चुका था। इस अर्से के अनुभव और पिछले और दो साल के झगड़ों ने 'शठं शाठ्यम्' के परिणाम इतने नग्न और भयंकर रूप में दिखाये कि आत्मा प्रबल रूप से गांधीजी की ओर आकृष्ट हुई। सेठ जमनालालजी के बसीले से मैं अगस्त या सितम्बर १६२८ मे साबरमती पहुंच गया। लगभग एक मास महात्माजी के निकट सान्निध्य मे रहा। उनके आदेश से मैं दिन भर उनके पास बैठा तकली चलाया करता, उनकी गति विधियां देखा करता, उनके संवाद सुना करता और अवकाश में अपनी शंकाओं का समाधान किया करता।

केन्वर्दी–गांधी चर्चा

एक दिन की बात है। ब्रिटिश मज़दूर दल के एक प्रमुख व्यक्ति और पार्लियामेंट के सदस्य कमांडर केन्वर्दी महात्मा जी से मिलने आये। उन्होंने ब्रिटिश शासन के प्रति भारतीय आरोप सही मान कर पूछा "देशी रजवाड़ों के लिये आप क्या कहते है ?" गांधीजी ने तुरन्त उत्तर दिया, "वहां का हाल अंग्रेजी इलाके से बुरा है, मगर उसकी जिम्मेदारी आप लोगों की है। आपका हाथ उनकी पीठ पर से हट जाय तो राजा या तो खुद सुधर जायेंगे या हम उनसे निपट लेंगे।" कमाण्डर बोले, "रियासतों में हमारे एजेन्ट जुल्म को रोकने के लिये ही तो हैं।" सरदार वल्लभ भाई जी वहीं थे कब चूकने वाले थे ? बीच में ही कह उठे, "अगर मुझे किसी रियासत मे रेजीडेन्ट बना दिया जाय तो सात पीढ़ी तक कमाने कजाने की फ़िकर ही न रहे।" इस छोटे से संवाद मे रियासती राजनीति का सार आ गया था।

'हिन्द स्वराज' का निषेध

जब एक दिन मैंने बापू को बताया कि महाराजा बीकानेर ने उनकी पुस्तक 'हिन्द स्वराज' का अपने राज्य मे निषेध कर दिया है, तो उन्हे आश्चर्य सा हुआ। मैंने कारण पूछा तो बोले "हां, उसमे राजाओं के शासन की कड़ी टीका है।" इतना कह कर "हिन्द स्वराज" की अंग्रेजी प्रति मंगवाई और इधर उधर कुछ पन्ने पलट कर कहा, "लो, यह अंश देख लो। ऐसे अंशों के होते हुए 'हिन्द स्वराज' का वर्जित करार देना अचम्भे की बात नहीं, बल्कि वर्तमान स्थिति मे अचंभे की

बात तो यह है कि इतने दिन तक निषेध आज्ञा क्यों नहीं निकाली गई?" वह अंश यह था :

"You will admit that people under several Indian Princes are being ground down. The latter mercilessly crush them. Their tyranny is greater than that of the English and if you want such tyranny in India, then we shall never agree. My patriotism does not teach me that I am to allow people to be crushed under the heel of the Indian Princes, if only the English retire. If I had the power, I should resist the tyranny of Indian Princes just as much as that of the English."

("आप स्वीकार करेंगे कि कई भारतीय राजाओं की प्रजा को कुचला जा रहा है। राजा उनका निर्दय दमन करते हैं। उनका जुल्म अंग्रेजों के जुल्म से ज्यादा है और अगर आप इस तरह का जुल्म हिन्दुस्तान में चाहते हों तो हम कभी सहमत नहीं होंगे। मेरा देश प्रेम मुझे यह नहीं सिखाता कि केवल अंग्रेज चले जायें तो मैं लोगों को राजाओं के पैरों तले कुचला जाने दूं। मुझ में शक्ति हो तो मैं राजाओं के अत्याचार का उतना ही विरोध करूंगा जितना अंग्रेजों का।")

कार्य की नई दिशा

मेरा जीवन देशी राज्यों की प्रजा की सेवा मे अर्पण हो चुका था। इसी प्रश्न पर महात्माजी के विचारो से मतभेद था। वह इस बार दूर हो गया। इतना ही नहीं, उन्होंने प्रस्ताव किया कि मैं सारा समय लगाने को तैयार हो जाऊं तो उन्हे रियासतों की सेवा के लिये एक अखिल भारतीय संस्था की नीव डालने तक मे खुशी होगी। मुझे और क्या चाहिये था? खुश हो गया। गांधीजी ने खुद विधान तैयार किया, जमनालालजी को अध्यक्ष, कोठारीजी को उपाध्यक्ष और मुझे मंत्री बनाने की इच्छा प्रकट की और संस्था का पथ प्रदर्शन करना स्वीकार किया। विधान अंग्रेजी में यूं था :

The Princes & People's Service Society

Object

The object of the Society shall be the service of the Princes and people of Indian States.

Means

(1) Where there is no Prohibition from the State concerned, to undertake constructive work such as

promoting Khadi, prohibition, social reform, removing untouchability and communalism etc.,

(2) Where there is no prohibition from the State concerned, to make courteous submission to the Princes regarding the people's grievances;

(3) To conduct in a friendly spirit newspapers or magazines for the promotion of the object of the Society.

(4) To discover the best basis of relations between the Princes and their people and the best system of government in accordance thereto and to cultivate public opinion on it.

Note : This Society does not share the opinion that the existence of the States is by their very nature contrary to the growth of the spirit of full democracy. The Society believes that their existence need not be inconsistent with the growth of such spirit.

Limitations

(1) To refrain from criticising the acts and policy of one Prince in the territories of another.

(2) To refrain from desiring or seeking the interference of the British Power in the affairs of the Indian States on any occasion whatsoever.

(3) No member of the Society shall ever depart from the path of truth and non-violence.

(4) In all matters of difference and doubts and in the determination of new policies, reference shall be made to Mahatma Gandhi for his final decision.

उसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार था :

राजा प्रजा सेवक समिति

उद्देश्य

भारत के देशी राज्यों के राजा-प्रजा की सेवा करना इस समिति का उद्देश्य होगा।

साधन

(१) जहां राज्य की ओर से निषेध न हो, वहां खादी-प्रसार, नशा-निषेध, समाज-सुधार, अस्पृश्यता और साम्प्रदायिकता-निवारण आदि रचनात्मक काम करना।

(२) जहां राज्य की ओर से निषेध न हो, वहां प्रजा के कष्टों को विनयपूर्वक राजा के सामने रखना।

(३) समिति के उद्देश्य की पूर्ति के लिये मित्रभाव से पत्र-पत्रिकाएं चलाना।

(४) राजा-प्रजा के पारस्परिक सम्बन्धों का सर्वोत्तम आधार और उसके अनुसार शासन की सर्वोत्तम प्रणाली की खोज करना और उसके पक्ष में लोकमत तैयार करना।

नोट : यह समिति इस राय से सहमत नहीं है कि राज्यों का अस्तित्व लोकसत्ता की भावना के विकास के विरुद्ध है। समिति की मान्यता है कि उनका अस्तित्व इस प्रकार की भावना के विरुद्ध ही हो, यह आवश्यक नहीं है।

मर्यादाएं

(१) एक राज्य की सीमा में दूसरे राज्यों के कार्यों और नीति की आलोचना न की जायगी।

(२) किसी भी अवस्था में राज्यों के मामलों मे ब्रिटिश सरकार का हस्तक्षेप न चाहा और न मांगा जायगा।

(३) समिति का कोई सदस्य सत्य और अहिंसा के मार्ग से कभी नहीं हटेगा।

(४) मतभेद और शंका के सब मामलों में और नई नीतियां निश्चित करने में महात्मा गांधी से पूछ कर उनका अन्तिम निर्णय लिया जायगा।

लेकिन दुर्भाग्यवश सेठ जमनालालजी व श्री मणिलालजी कोठारी एक मत न हो सके और वह योजना काग़ज पर ही रह गई। आगे चल कर मैंने हरिजन कार्य के विस्तार में उस योजना से ज़रूर लाभ उठाया।

आश्रम जीवन का आदेश

गांधीजी ने तत्काल आदेश दिया, 'तुम पत्रकार बनकर अपनी शक्ति को क्यों व्यर्थ खो रहे हो ? कोई ठोस काम करना चाहिये। अखबार बन्द करके मेरे पास चले आओ।' शोभालालजी को मेरी यह भावुकता और जल्दबाजी पसन्द तो नहीं आई, मगर मुझे नाराज करने को उनका जी नहीं चाहता था। उनका

स्नेह मायीपन की सीमा पार करके आत्मीयता की शक्ल अख्तियार कर चुका था। उन्होंने सिर्फ अपलेख पर शेक्सपीयर की ये पंक्तियां जोड़ कर अपनी पीड़ा व्यक्त कर दी और डेरा-डंडा उठाकर मेरे साथ हो लिये :

Farewell ! a long farewell, to all my greatness !
This is the state of man ! today he puts forth,
The tender leaves of hope; to-morrow blossoms,
And bears his blushing honours thick upon him;
The third day comes a frost, a killing frost,
And when he thinks good easy man, full surely,
His greatness is a ripening, nips his root,
And then he falls.

—William Shakespeare.

(अल्विदा ! लम्बी अल्विदा, मेरी सारी महानता !
यह है मनुष्य की स्थिति ! आज वह लगाता है
आशा के कोमल पात, कल फूल आते हैं,
और यश की गहरी कलियां खिलती हैं,
तीसरे दिन पाला पड़ता है, मारक पाला,
और जब वह भला मानुस सोचता है निश्चयपूर्वक
कि उसकी महानता पक रही है, तो उसकी जड़ कट जाती है,
और फिर वह गिर जाता है।

—विलियम शेक्सपीयर)

लाहौर कांग्रेस के तुरन्त बाद हम दोनों सपरिवार सत्याग्रह आश्रम पहुंच गये। इसी कांग्रेस के अवसर पर मुझे बापू ने अपने एक बड़े साथी की जो अब जीवित नहीं हैं एक दूसरे बड़े नेता की पुत्री के साथ नैतिक भूल और उस पर साथी के प्रायश्चित की कहानी सुनाई।

अधिवेशन में जो कड़ाके की ठंड पड़ी और कांग्रेस में आने वालों को जो घोर कष्ट हुआ उससे प्रभावित होकर बापू ने कांग्रेस के अधिवेशन जाड़ों के बजाय शुरू गरमी के मौसम में करने का निश्चय कराया मगर बापू के निधन के बाद यह फ़ैसला फिर बदल दिया गया।

ब्यावर में हम लगभग एक साल रहे। इस प्रवास में दो व्यक्तियों से खास सम्पर्क आया। पहले तो थे श्री० मुकुट बिहारीलाल भार्गव। ये उठते हुए वकील थे। उत्साह, बुद्धि और भावुकता आदि सार्वजनिक जीवन में चमकने की

इनमें अनेक पात्रताएं थी। लिखने बोलने की क्षमता थी, परन्तु बूढ़े पिता के पुराने विचारों का अंकुश इन्हे रोके हुए था। दूसरे आदमी छगनमलजी बोहरा थे। ये निरे व्यवसायी थे परन्तु उनकी निःस्वार्थ मित्रता अनेक अवसरों पर हमारे काम आई।

अपराध स्वीकार

सार्वजनिक दृष्टि से 'यंग राजस्थान' के जीवन मे श्री० रघुनाथप्रसाद परसाई का इन्दौर संबंधी पर्चा और उसके आधार पर चलाया गया राजद्रोह का मुकदमा उल्लेखनीय है। परसाई जी इन्दौर और मालवे के राज्यों की राजनैतिक समस्याओं में दिलचस्पी रखते थे। अखबारों मे लिखने के शौकीन थे। उन्होंने इन्दौर के दीवान सर सिरेमल बापना के शासन काल पर एक आलोचनात्मक पर्चा निकाला। वह 'यंग राजस्थान' प्रेस मे ही छपा था, लेकिन गुप्त रूप से। उसका पार्सल तो इन्दौर स्टेशन पर पकड़ा गया, परन्तु प्रेस का पता राज्य को पूरी तरह से नहीं चला था। इस बीच में मैं गांधीजी के तत्वज्ञान को मानने लगा था। यह रहस्य मैंने उन पर प्रकट करते हुए प्रस्ताव किया कि अधिकारियों को सूचना दे दी जाय तो कैसा रहे? बापूजी को यह तजवीज़ अच्छी लगी और वहीं से मैंने अजमेर के कमिश्नर को गांधीजी का तैयार किया हुआ यह अंग्रेज़ी पत्र लिख दिया :

Young Rajasthan Office

Beawar, 8th Sept. 1929.

To

The District Magistrate,
Ajmer-Merwara,
Ajmer.

Dear Sir,

I write this to inform you that as printer of the Young Rajasthan Press at Beawar, I printed in June last a Hindi pamphlet, entitled 'Indore Ka Kalankit Kushasan' (Scandalous Mal-administration in Indore) in 1000 copies, at the instance of a gentleman who then chose to remain anonymous, but who has since disclosed his name before the Indore court which is Mr. Raghunath Prasad Parsai. The pamphlet does

not bear the name of the press and the printer. I was aware that by making this omission I was infringing the law.

Since I have *definitely changed my policy of work*, which will now be strictly in conformity with the principles of truth and non-violence, I take this the earliest opportunity *of making a clean confession of my guilt. I shall be* pleased and prepared to take the consequences of my act and to present myself before you, if called upon to do so.

Yours truly,
Ramnarayan Chaudhary

इसका हिन्दी अनुवाद यह है :

यंग राजस्थान कार्यालय

ब्यावर, ८ सितम्बर १९२९

श्री जिला मजिस्ट्रेट,
अजमेर-मेरवाड़ा, अजमेर,

प्रिय महाशय,

इस पत्र द्वारा मैं आपको सूचना देता हूं कि 'यंग राजस्थान' प्रेस, ब्यावर मुद्रक के नाते मैंने पिछले जून में 'इन्दौर का कलंकित कुशासन' शीर्षक से एक हिन्दी पुस्तिका छापी थी। उसकी १००० प्रतियां छपी थीं और वे एक ऐसे सज्जन के कहने से छापी गई थी जिन्होंने उस समय तो गुमनाम रहना ही पसन्द किया था, मगर उसके बाद इन्होंने इन्दौर की अदालत में अपना नाम श्री रघुनाथप्रसाद परसाई प्रकट कर दिया है। पुस्तिका पर प्रेस और मुद्रक का नाम नहीं है। मैं जानता था कि नाम न देकर मैं कानून का भंग कर रहा हूं।

चूंकि मैंने अपनी कार्यनीति निश्चित रूप से बदल ली है और वह कड़ाई के साथ सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों के अनुसार होगी, इसलिये जल्द से जल्द अवसर पाते ही मैं इस पत्र द्वारा अपना अपराध साफ़ तौर पर स्वीकार कर रहा हूं। मैंने जो कृत्य किया है उसका नतीजा भुगतने और मुझे बुलाया जायगा तो आपके सामने हाजिर होने में मुझे खुशी होगी और मैं उसके लिये तैयार हूं।

आपका
रामनारायण चौधरी

जहां तक मुझे ख्याल है इस अपराध पर लम्बी कैद और भारी जुर्माने की सजा दी जा सकती थी, मगर गिब्सन साहब के लिये और कुछ भी कहा जाय, वे एक शरीफ़ अंग्रेज़ थे। वे इस घटना को पचा गये। मैंने 'यंग राजस्थान' का डिक्लेरेशन ब्यावर में दे दिया था। अजमेर के अंधेर में कमिश्नर साहब को इसकी खबर नहीं हुई। उन्होंने मुझसे जवाब तलब किया कि मुक़दमा क्यों नहीं चलाया जाय? लेकिन जब मैंने वस्तु स्थिति बताई तो खुली अदालत में क्षमा याचना करने में उन्हें ज़रा भी संकोच नहीं हुआ। अवश्य ही परसाईजी पर इन्दौर में अभियोग चला और जैसी धारणा थी उन्हे सज़ा भी हो गई। लेकिन बापना साहब के पक्ष में यह मानना मुक़दमे की कार्रवाई के दौरान क़ानून की दृष्टि से दोष रहे हों तो भी कम से कम अभियुक्त को सज़ा देने और उनके साथ जेल के व्यवहार मे बदले की भावना से काम नहीं लिया गया।

कुछ सहायक

'यंग राजस्थान' के सिलसिले में चार सहायकों का ज़िक्र करना आवश्यक है। सबसे अधिक मदद मिली भादरा (बीकानेर) के स्व० खूबरामजी सर्राफ़ से। ये राजस्थान के एक पुराने और मूक सेवक थे। इन्होंने जो कमाया उसका अधिकांश जनसेवा में खर्च किया। इनका हाथ जितना उदार था हृदय उतना ही निर्मल था। इनके दान में अहंता नहीं, विनम्रता रहती थी। दूसरे सहायक रायसाहब विश्वम्भरनाथजी टंडन थे। इनसे परिचय तो उस वक्त हुआ जब असेम्बली के चुनाव में इनका और दीवान बहादुर हरविलासजी शारदा का मुकाबला था लेकिन बाद में रायसाहब से मेरा स्नेह संबंध हो गया। ये विचारों में नरम दल के और रहन सहन मे अजमेर के प्रमुख अमीरों में से थे। मेरे और इनके खयालात और जीवन में रात दिन का फ़र्क था। मगर इनके प्रेमपूर्ण हृदय, निष्कपट व्यवहार, नियमित जीवन और सिद्धान्त निष्ठा ने मुझे सदा के लिये आकर्षित कर लिया। शारदाजी का प्रेम भी मुझे इसी चुनाव मे मेरे 'अवैयक्तिक' विरोध के कारण प्राप्त हुआ। चौथे सहायक जोधपुर के प्रसिद्ध राजनैतिक पुरुष और उदार मित्र श्री आनन्दराजजी सुराणा थे। अवश्य ही 'यंग राजस्थान' बन्द होने पर जब ग्राहकों की तरह सहायकों से हमने पूछा कि वे चाहें तो उनका रुपया वापस दिया जायगा तो चन्द खरीददारों के सिवाय किसी ने ऐसी मांग नहीं की।

अन्तिम लेख

'यंग राजस्थान' को बन्द करने का लेख खुद गांधीजी ने लिखा था। वह यह था :

Farewell

With this issue the 'Young Rajasthan' ceases publication. While making this announcement, I cannot feel entirely happy and I believe my sorrow will be shared by many readers. But it is a decision of considerable thought and valuable advice.

I must admit that the paper has not become self-supporting. My views about work in Indian States have undergone a substancial change. Perhaps a paper for doing work in accordance with the revised ideas is not absolutely neccessary. I feel that much more substancial work is possible by greater restraint and even silence. What is needed is constructive work. This requires constant labour rather than newspaper propaganda. Moreover, I have realised that there are too many papers in the limited area and for the one subject of Indian States. I, therefore, feel that I shall better advance the goal by disappearing from journalism at least for one year. (Mahatma) Gandhi' s method has for sometime attracted me. In order to study it more, fully and at closer quarters, I have decided with his permission to pass one year at least in the Sabarmati Ashram doing such work as he may entrust me with . I assure the readers and my many friends that I hope by this renunciation to become a better instrument of service.

My deep thanks are due to the patient readers. Those who have paid their subscriptions in advance are entitled to a proportionate refund, if they desire.

26.12.1929.

Ramnarayan Chaudhry

उसका हिन्दी अनुवाद यह है :

अलविदा

इस अंक के साथ 'यंग राजस्थान' का प्रकाशन बन्द होता है। यह घोषणा करते समय मुझे प्रसन्नता तो नहीं हो रही है और मेरा विश्वास है कि बहुत से

पाठक मेरे इस दुःख मे शरीक होगे। परन्तु यह निर्णय काफ़ी विचार और कीमती सलाह का परिणाम है।

मुझे स्वीकार करना चाहिये कि अखबार स्वावलम्बी नही बन पाया है। देशी राज्यो के कार्य सम्बन्धी मेरे विचारो में बहुत परिवर्तन हो गया है। शायद बदले हुए विचारो के अनुसार काम करने के लिये अखबार की अत्यन्त आवश्यकता भी नही है। मैं अनुभव करता हूं कि अधिक संयम और मौन से भी कही अधिक ठोस काम हो सकता है। आवश्यकता रचनात्मक कार्य की है। इसलिये प्रचार के बजाय सतत परिश्रम की ज्यादा जरूरत है। इसके सिवाय मैंने समझ लिया है कि देशी राज्यो के मर्यादित क्षेत्र मे और एक ही विषय के लिये बहुत अधिक पत्र पहले ही मौजूद हैं। इसलिये मुझे महसूस होता है कि कम से कम एक साल के लिये पत्रकार जगत से ओझल होकर मैं उद्देश्य की अधिक अच्छी पूर्ति करूंगा। कुछ समय से मुझे महात्मा गांधी के तरीके ने आकर्षित किया है। उसका अधिक पूरी तरह और निकट से अध्ययन करने के लिये मैंने उनकी अनुमति से कम से कम एक वर्ष सत्याग्रह आश्रम मे उनका बताया हुआ काम करने में बिताना निश्चय किया है। मैं पाठको और अपने अनेक मित्रों को विश्वास दिलाता हूं कि मुझे इस त्याग से सेवा का एक बेहतर साधन बन जाने की आशा है।

मैं धैर्यशाली पाठकों का बड़ा कृतज्ञ हूं। जिन्होंने अपना चंदा पेशगी चुकाया है, वे चाहें तो उन्हें अपना बाकी रुपया वापस लेने का हक होगा।

२६-१२-१६२६

रामनारायण चौधरी।

आदर्श झाड़ू

जनवरी १६३० मे जब हम साबरमती पहुँचे तो वहां कोई दो सौ स्त्री पुरुष रहते थे। आने वाले सत्याग्रह की तैयारी में देश भर से कार्यकर्त्ताओं का आना जाना बना रहता था और बहुत से वही रह कर कुछ दिन लाभ उठाना चाहते थे। नियमों के पालन में इतनी कड़ाई की जाती थी कि एक मास मे तीन भूलें हो जाने पर आश्रम छोड़ देना पड़ता था। इतने बड़े समुदाय मे स्वतंत्रता, संयम, सफ़ाई, कार्यतत्परता और सहयोग मेरे लिये एक मूल्यवान पदार्थ पाठ था। शरीर श्रम में झाड़ू देने का काम मुझे सदा से प्रिय रहा। साबरमती में वही मिल गया और वह भी गांधीजी के सैर पर जाने के मार्ग की सफ़ाई का। पहले ही दिन मैंने बापू के सैर के रास्ते को साफ़ किया सो बढ़िया सफ़ाई देखकर उन्होंने आश्रम व्यवस्थापक से पूछा : "यह कौन आदमी है ?"-यह सुनकर मेरे

हर्ष का पार नहीं रहा। इसी तरह जब मेरी डायरी देखकर उसे नमूने की डायरी बताया और सबको उसे पढ़ने को कहा तो मुझे बड़ी खुशी हुई। इसके अलावा मुझे कताई बुनाई सीखने और हिन्दी पढ़ाने का काम दिया गया। मैं लगभग छः महीने वहां रहा। आश्रम के कार्यकर्ताओं में श्री० नारायणदास गांधी और कु० प्रेमा बहन कंटक की मुझ पर विशेष छाप पड़ी।

घासलेट की करामात

आश्रम जीवन के कुछ अनुभव भी उल्लेखनीय हैं। एक दिन मैं छात्रालय में मेरे लड़के प्रताप को जो गोद का बच्चा ही था लिये खड़ा था कि एक बहन ने शहद की मक्खियों को भूल से उड़ा दिया। वे मेरे आ लिपटी और हम दोनों को बुरी तरह काटा। हम दोनों के मुंह बहुत सूज गये और प्रताप बेहोश हो गया। उसी समय अंजनादेवी को एक और बहन ने सुझाव दिया और एक तरह से हम दोनों को मिट्टी के तेल से नहला दिया गया। प्रताप को फ़ौरन होश आ गया और मेरी बेचैनी भी मिट गई। उस दिन से ऐसे जानवरों के काटे का अच्छा इलाज हाथ लग गया।

ठंड भी तो दी है !

उन्हीं दिनों की बात है। बहुत अधिक ठंड के कारण आश्रमवासी रोज़ नहाने के नियम में ढिलाई दिखाने लगे थे। इस पर शाम की प्रार्थना में बापू ने कहा, "भगवान ने नदी का पानी दिया है और हाथ पैर दिये है फिर नहाने में आलस्य क्यों ?" इसका उत्तर तुरन्त कट्टू नामक एक बालक ने दिया, "भगवाने टाढ पण दीधी छे !" (भगवान ने ठंड भी तो दी है !) सारा प्रार्थना समाज खिलखिला कर हंस पड़ा। बापूजी भी उसमें शरीक हुए और मामला उसी में उड़ गया।

अंग्रेज़ी भाषा की परीक्षा

दांडी कूच से कुछ दिन पहले एक रोज़ बापू और महादेव भाई लार्ड अरविन् के नाम भेजे जाने वाले पत्र के मसौदे पर चर्चा कर रहे थे। मैं और मीरा बहन भी वहीं थे। पत्र में हिंसा से परिपूर्ण अर्थ में so charged with voilence शब्द प्रयोग हुआ था महादेव भाई ने इसे टाइप करने की भूल बता कर कहा कि so charged के बजाय surcharged होना चाहिये। मीरा बहन से पूछने पर उन्होंने भी महादेव भाई का समर्थन किया। तब बापूजी मुझसे बोले, "रामनारायण, तुमने भी तो अंग्रेज़ी का साप्ताहिक निकाला था, क्या होना चाहिये ?" मुझे यह कहने में एक क्षण भी नहीं लगा, "बापू मेरी राय में so charged ही उपयुक्त रहेगा।" बापू ने कहा, "मैंने यही शब्द प्रयोग किया है।"

'यंग इंडिया' का सम्पादन

महादेव भाई के जल्दी ही पकड़े जाने की संभावना थी। बापू की गिरफ़्तारी तो इससे भी पहले निश्चित थी। तब 'यंग इंडिया' का सम्पादन कौन करे, यह प्रश्न सामने था। बापू बोले, "रेनाल्ड्स तो है ही, बाद मे रामनारायण संभाल लेंगे।" महादेव भाई बोले, "हां, रामनारायणजी होशियार माणस छे" (रामनारायणजी होशियार आदमी हैं) बापू बोले, "बाहादर पण छे"। (बहादुर भी है) मैं यह प्रशंसा सुन कर मन ही मन खुश तो हुआ लेकिन 'यंग इंडिया' के सम्पादन के लिये अपनी अयोग्यता बता कर बात खत्म कर दी।

बापू का आत्म निरीक्षण

उन दिनो आश्रम में नियम पालन और वक्त की पाबन्दी के बारे मे बहुत कड़ाई थी। प्रार्थना भूमि का फाटक घंटी बजते ही बन्द हो जाता था। एक रोज़ शाम को बापू आये तो घंटी बजते बजते उनका एक पैर फाटक के बाहर और दूसरा भीतर था। खैर, वे अन्दर चले तो गये लेकिन प्रार्थना के बाद बोले, आज मैंने भूल की। मेरे भीतर आने और मुझे भीतर लेने दोनो मे ग़लती हुई। मगर मुझे यह लोभ था कि बाहर से आये हुए बहुत लोग मेरी प्रतीक्षा मे होंगे। बापू का आत्म निरीक्षण और अपने प्रति कठोरता देख कर मैं दंग रह गया।

चोर साहब को नाश्ता

एक रात को आश्रम मे एक चोर पकड़ा गया। हम लोग उन दिनों बारी बारी से टोलियों में पहरा दिया करते थे। रात को तो चोर को कोठरी मे बन्द कर दिया गया परन्तु सुबह होते ही जब बापू नाश्ता कर रहे थे उसे उनके आगे पेश कर दिया। उन्होंने सबसे पहले यही पूछा, "इसे नाश्ता करा दिया?" मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। जब चोर साहब नाश्ता करके वापस आये तो बापू ने उसे बड़े प्रेम से समझाया कि 'चोरी नहीं करनी चाहिये। तुम ग़रीबी और बेकारी के कारण यह पाप करते हो तो तुम्हे आश्रम में काम मिल सकता है।' चोर तो चला गया मगर शाम को बापू ने प्रार्थना मे बताया कि समाज मे अपराध इसलिये होते हैं कि मुट्ठी भर लोग कुछ न करके भी सुख भोगते है और बहुतों को कड़ा परिश्रम करने पर भी पूरा अन्न वस्त्र नहीं मिलता। हम आश्रम वालों को अपरिग्रह का पालन सख्ती से करना चाहिये।

कुछ मज़ेदार बातें

बापू का बच्चो से प्रेम तो खूब था ही और उनसे वे हंसी दिल्लगी भी काफ़ी कर लेते थे। उनकी कमर से लटकती हुई घड़ी देख कर चि० प्रताप उसे लेने

की कोशिश करता। उसमें तो वह कभी सफल नहीं हुआ लेकिन घड़ी पर प्रताप की नजर पड़ते ही बापूजी प्रताप की तरफ़ उंगली करके कहते, "टिकटिक" और यह कह कर उसे टाल देते थे कि यह तो तेरा नहीं मेरा खिलौना है।

थोड़े शब्दों में वे बहुत कारगर उपदेश भी देना जानते थे। जब कोई बहुत आराम करने की इच्छा प्रकट करता था तो उनका अक्सर अंग्रेजी में यह जवाब हुआ करता था "Change of occupation is rest" अर्थात् कार्य बदल लो, आराम मिल जायगा।

इसी प्रकार कचरे की भी उन्होंने एक अनोखी किन्तु बहुत सुन्दर व्याख्या कर रखी थी। उनका कहना था "Any thing out of place is dirt" अर्थात् कोई चीज जगह पर न हो तो वही कूड़ा करकट बन जाती है।

एक बार गुजरात विद्यापीठ में कोई शिक्षा सम्मेलन हो रहा था। उसमें किसी लड़के ने पूछ लिया "बापूजी, बाल रखने चाहियें या नहीं?" तुरन्त उत्तर मिला, "भई मुझे तो इसका कोई अनुभव नहीं है क्योंकि मैंने किसी लड़की को रिझाने का कभी कोई विचार नहीं किया।"

यह तो सभी लोग जानते हैं कि बापूजी अखबारों के रैपर, एक तरफ़ लिखे हुए कागज और छोटे से छोटे कागजों के टुकड़ों का भी उपयोग कर लेते थे। लेकिन एक बात मैंने अनोखी देखी। वह यह कि आश्रम में जितने लोग दातुन करते थे—और दातुन सभी करते थे—तो दातुन करने के बाद उन्हें चीर कर जीभ साफ़ की जाती थी और फिर उन्हें पानी से धोकर एक टीन में डाल दिया जाता था। सूखने पर उन्हीं का ईंधन बन जाता था। इस ईंधन की मात्रा काफ़ी हो जाती थी।

आश्रम में यह नियम भी बड़ा कड़ा था कि टट्टी-पेशाब, थूक वग़ैरा पर मिट्टी डाली जाय। यह नियम आश्रमवासियों की आदत बन जाता था और मैंने देखा है कि बाहर भी उसका बहुधा पालन होता है। इससे मक्खियों द्वारा गंदगी और रोग फ़ैलाने में काफ़ी रुकावट हो जाती है।

आश्रम की एक और विशेषता यह थी कि आश्रमवासियों को सब काम अपने हाथ से करने पड़ते थे। निजी सेवा का कोई काम नौकरों से नहीं लिया जाता था। इससे काम ज्यादा अच्छा, सफ़ाई के साथ और जल्दी होता था और स्वास्थ्य भी अच्छा रहता था। इन कामों में टट्टी सफ़ाई का काम मुख्य था। खास तौर पर पढ़े लिखे लोगों से बापू पहले यही काम कराते थे। बेपढ़े या कम पढ़े व्यक्तियों को पढ़ने-लिखने की सुविधा अधिक देते थे। पुरुषों को स्त्रियों के आधीन काम करने की आदत डलवाई जाती थी ताकि स्त्रियों के प्रति उनके विचारों में नम्रता पैदा हो।

खाने-पीने मे जहा अधिकतर आश्रम मे ही पैदा किये गये अन्न, दूध, घी, फल और साग भाजी दी जाती थी वहां शक्कर, मसाला, दाल चावल और तली हुई चीजे आश्रम में न बनती थी, न खाई जा सकती थी। लेकिन सायंकालीन भोजन का समय जो ५ बजे का था तन्दुरुस्ती के लिए अनुकूल नही पड़ता था। कताई तो हरेक के लिए लाजमी ही थी। मुझे इसके अलावा पुस्तकालय और बापू के अंग्रेजी लेखों का हिन्दी अनुवाद भी करना पडता था। कभी कभी उनके हिन्दी पत्र व्यवहार मे भी योग देता था। इससे भी कठिन कार्य बापूजी ने मुझे यह सौंप दिया था कि उनकी लिखित हिन्दी में ही नही, बोलचाल की हिन्दी में भी मुझे शुद्धि करनी चाहिए।

सफ़ाई का मापदण्ड

सफाई के बारे मे बापूजी का एक अनोखा मापदंड था। आदर्श स्वच्छता का उनका नमूना यह था कि रसोईघर और पाखाना दोनों मे एक भी मक्खी नही होनी चाहिये। आश्रम में सचमुच ऐसी ही स्थिति थी। पाखाने का एक और उपयोग वे यह करते थे कि चूंकि पुस्तकें पढ़ने के लिए उन्हे और तो कोई समय मिलता नही था इसलिए शौच के समय ही पढ़ते थे। इस कारण आश्रमवासियों मे यह विनोद प्रचलित हो गया था कि जब बापू पाखाने जाते तो यह कहा जाता था कि वे पुस्तकालय में हैं।

बारह नमक सत्याग्रह

यह वर्ष भारत के इतिहास मे एक स्मरणीय काल था। नमक सत्याग्रह छिड़ने वाला था। उसकी तैयारी की चर्चा आश्रम में ही हुई थी। वहीं उसकी योजना बनी। दांडी का कूच भी वहीं से शुरू हुआ था। उसमें शरीक होने की मंजूरी तो मुझे नही मिली। परन्तु जब 'बुद्धिमानों' के उपहास और शंका का पात्र यह आंदोलन देशव्यापी तूफ़ान की शकल पकड़ गया और राजस्थान ने भी उसमे योग्य हिस्सा लेना शुरू कर दिया तो मुझसे न रहा गया। मैं दांडी पहुचा और बापू से अजमेर जाने की स्वीकृति ले आया। प्रायः सभी पुराने कार्यकर्त्ता गिरफ़्तार हो चुके थे। थोड़े दिनों बाद मुझे भी एक साल की कड़ी क़ैद की सजा हो गई। इस आंदोलन मे कई नये कार्यकर्त्ता सामने आये। श्री० कृष्णगोपालजी गर्ग की सी धुन, किसी प्रश्न की गहराई में जाने की वृत्ति और शक्ति तथा कार्य साधन में अपने शरीर सुख को भुला देने की क्षमता बिरलों में ही पाई जाती है। श्री० गोकुललाल असावा का त्याग, कांग्रेस निष्ठा और वैधानिक जानकारी उनकी विशेषताएं हैं। मास्टर लक्ष्मीनारायणजी का तपस्वी जीवन सबको प्रेरणा देता था। श्री जमालुद्दीन मख़मूर का भी एक विशेष व्यक्तित्व था। भाई चन्द्रभानुजी शर्मा से घनिष्ठता इसी अवसर पर हुई। वे सहयोग काल में सामने आये थे। चौमूं का उनका खादी कार्यालय शायद देश मे पहला उत्पत्ति केन्द्र था। आगे चल कर इनके साथ भी शोभालालजी जैसी आत्मीयता हो गई। व्यक्तियों से परिचय करने और किसी नये काम को खड़ा करने की इनमे ग़ज़ब की शक्ति है। अपने से बड़ों को हर हालत में आदर के साथ निभाने का इनमें अद्वितीय गुण है। साथियों के लिए ये खर्च भी खुले हाथों करते हैं। छोटा भाई दुर्गाप्रसाद भी काम धंधा छोड़कर राष्ट्रीय क्षेत्र मे उतर आया। शुरू से ही खरा, साहसी और सिपाहियाना प्रकृति वाला होने के कारण शीघ्र ही आगे आया और स्वयं सेवकों का 'कप्तान' बन गया। तब से इन्हें कांग्रेसी हल्कों में इसी नाम से पुकारा जाता है। इनकी सबसे बड़ी कारगुजारी साप्ताहिक 'नवज्योति' को दैनिक बनाकर अजमेर और जयपुर दोनों जगह से प्रकाशित करने की है। इसमें इनका साहस, दीर्घ उद्योग और एकनिष्ठा आदि गुण असाधारण रूप में सामने आये हैं।

आन्दोलन की प्रगति

इस आंदोलन में नमक बनाने, शराब और विदेशी कपड़े की दुकानों पर

पहरा देने और बड़े समाजों व जुलूसों द्वारा प्रदर्शन करने का कार्यक्रम मुख्य था। इसमें अजमेर-मेरवाड़ा ने अच्छा भाग लिया। ब्यावर ने अजमेर से अधिक जोश दिखाया। अजमेर में भी रामगंज, जौन्सगंज, नगरा वगैरा बाहरी बस्तियों और घसीटी के नौजवानों ने खास उत्साह बताया। विलायती कपड़े का पिकेटिंग विशेष रूप से जोरदार हुआ। हिन्दू व्यापारियों ने तो अपने विदेशी माल पर कांग्रेस की मुहर जल्दी ही लगवा ली। कुछ मुसलमान सौदागरों ने दुराग्रह किया और शुरू शुरू मे स्वयं सेवकों पर उनके हाथों मार भी पड़ी। मगर इनकी दृढ़ सहनशीलता ने अन्त में सबके दिल पिघला दिए और विदेशी कपड़ा सभी दुकानों पर बिकना बन्द हो गया। इस काम मे श्री० दाते एक स्फूर्तिदायक नायक सिद्ध हुए। विद्यार्थियों ने भी प्रदर्शन काल में इस आदोलन को बल पहुंचाया। स्थानीय स्कूल कॉलिजों में हड़तालें हुईं, व्यापारियों ने हड़तालों के अतिरिक्त सत्याग्रही स्वयं सेवकों के लिए आवश्यक खाद्य सामग्री और धन से भी सहायता दी। श्री० धर्मेन्द्र शिवहरे की देखरेख में ऐसे १५० सैनिको की एक छावनी खुली। आदोलन ने एक समय तो इतना जोर पकड़ा कि एक ही दिन मे ३०० से अधिक गिरफ्तारियां हुईं और विदेशी वस्त्र धारण करने वाली देव मूर्तियों के दर्शन पर धरना दिया गया। बच्चों की 'बानर सेना' और उनके जुलूस व प्रभात फेरियां भी इस युद्ध की विशेषताओं मे से थीं।

सामूहिक जेल जीवन

जेल जीवन का अनुभव तो पहले ही तीन बार हो चुका था। इस बार एक समूह के साथ रहने का काम पड़ा। छोटे बड़े बहुत से कार्यकर्त्ता एक ही जगह दिन रात खाते पीते, उठते बैठते थे। विशेष वर्ग का बर्ताव था। काम तो खाना बनाने आदि का अपने आप सम्मिलित रसोई के रूप में करते थे, परन्तु सुविधाएं काफ़ी थीं। बाहर से भी सामान मंगाने की छूट थी। श्रमपूर्ण खेलों का तो प्रबंध नहीं था, परन्तु लोग व्यायाम काफ़ी कर लेते थे। अपने ढंग से पूजापाठ और अध्ययन भी करते थे। पढ़ने लिखने की सुविधा थी। बाहर से पुस्तकें मंगा सकते थे। अखबार नहीं मिलते थे। सुपरडंट एक अंग्रेज थे। इस पद पर डॉक्टर लोग होते थे, सप्ताह में दो बार कुछ घंटों के लिए आते और चक्कर काट कर अपना भत्ता पका लेते। उन्हें न इतनी फ़ुर्सत होती थी और न इतनी दिलचस्पी कि सब बातों को ध्यान से देखें और अपनी बुद्धि से काम लें। फलतः उन्हें जेलर पर निर्भर रहना पड़ता था। जेलर कुंवर फ़तहसिंह एक मजेदार आदमी थे। उनमें राजपूती अहंकार, पुलिस की हथकंडेबाजी और राष्ट्रीय भावना का सम्मिश्रण था। उनसे राजनैतिक क़ैदियों का मेल भी हुआ और बिगाड़ भी। मेल के समय गायन

बादन के साथ तिलक जयन्ती मनाई गई, जेलर के घर दावत हुई और जेल के बाहर बगीचे में सैर भी कराई गई, तो बिगाड के दिनो मे हम पर हमला हुआ और डंडा बेड़ी पहनाकर काल कोठरियो की सज़ा दी गई। झगड़ा इस बात पर हुआ कि जेलर साहब चाहते थे कि सुपरडंट साहब आवे तब देशभक्तो को खड़े होकर उनकी ताज़ीम करनी चाहिए। हम स्वेच्छा से यह शिष्टाचार करने को तैयार थे और करते भी थे, मगर ज़बरदस्ती के आगे झुकने को राजी नही थे। देशभक्तों में आपस मे भी बीच बीच मे छोटी मोटी भिड़न्त हो जाया करती थी। जेल की प्रवृत्तियो म दो हस्तलिखित पत्रों का निकलना उल्लेखनीय है। अंग्रेज़ी साप्ताहिक 'The Man' का मैं और हिन्दी 'बन्दी राजस्थान' का श्री० वैजनाथजी महोदय सम्पादन करते थे। पथिकजी ने राजबन्दिया पर एक विनोदात्मक कविता लिखी थी जो ख़ूब पसन्द की गई। 'तिकड़म' शब्द का आविष्कार इसी आन्दोलन में हुआ। इस मंत्र के बल से देशभक्तों के जेल मे बहुत से काम निकलते थे। वही बीरेन्द्र नामक स्वयंसेवक से परिचय हुआ जो आगे चलकर और भी घनिष्ठ हो गया। उसमें व्यवस्थितता, सफ़ाई, सेवापरायणता, स्वाभिमानी वृत्ति और भावुकता ख़ूब थी।

रिहाई के बाद

नवम्बर १९३० में गाँधीअरविन समझौते के मातहत हम लोग जेल से छूटे। कुछ दिन तो सभाओं, जुलूसों और भोजो की थोडी चहल पहल रही। बाद मे विचारो के भेद जाहिर होने लगे। जो विषमताएं उद्देश्य की एकता, आन्दोलन की एकाग्रता और कारावास की सीमा के कारण दो साल से दबी हुई थी वे अब कार्य रूप में प्रकट हुई। उपाध्यायजी और बाबाजी एक दूसरे से अलग हो गये। बाबाजी ने गाधी सेवा संघ से त्याग पत्र दे दिया और पथिकजी से मिलकर एक उग्रदल बना लिया। श्री जमनालालजी के अनुरोध पर मैं संघ का सदस्य बन गया। विचारो की अनुकूलता तो थी, परन्तु मैं देशी राज्यों की प्रजा की सेवा का व्रतधारी था और इसके लिये संघ के कार्यक्रम मे गुंजाइश नही थी। सेठजी ने अध्यक्ष के नाते मेरे लिये विशेष तौर पर यह गुंजाइश कर दी। सिद्धान्त रूप से पूरी तरह सहमत न होने के कारण शोभालालजी अलग रहे, मगर हमारा आत्मीयता का संबंध पूर्ववत् कायम रहा। चन्द्रभानुजी संघ में आ गये और हटूंडी आश्रम के व्यवस्थापक होकर हम सबके साथ वहीं रहने लगे। दुर्गाप्रसाद भी वही हिन्दुस्तानी सेवादल की देखरेख में कार्यकर्ताओं के ट्रेनिंग कैम्प में काम करने लगा। यही सेवादास नामक एक साधु स्वभाव स्वयंसेवक का परिचय हुआ।

'सत्याग्रह का बिगुल'

इस वक्त तक जिले के गावो की तरफ़ कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं का ध्यान नही गया था। मेरे प्रस्ताव पर हटूंडी आश्रम मे एक टुकड़ी भेजना तय हुआ। इसके नायक रामसिंह भाटी बनाये गये। उन्होने 'सत्याग्रह का बिगुल' नामक एक पुस्तिका लिखी जिसमे कांग्रेस के ध्येय और कार्यक्रम मे देहातियों की भलाई का संबंध बता कर उन्हे कांग्रेस में शरीक होने के लिये निमंत्रण दिया गया था। आगे चल कर प्रांतीय सरकार ने भी उसे जब्त करके उसका उपयोग सिद्ध कर दिया। यह दल अजमेर मेरवाड़े के गांवों मे प्रचार करने और उपयोगी सामग्री जुटाने मे सफल रहा।

श्री ओंकारनाथजी बाकलीवाल से हटूंडी आश्रम मे ही परिचय बढा। वे हमारी राष्ट्रीय पाठशाला के संचालक थे। प्रान्त के सबसे पुराने गांधीवादी होने के साथ ही वे चालीस वर्ष से ब्रह्मचर्यपूर्वक गृहस्थ धर्म का पालन करते आ रहे थे। ज्योतिष भी जानते हैं। असहयोग काल में सरकारी नौकरी छोड़ने वाले अजमेर मे शायद ये और कृष्णगोपालजी गर्ग दो ही थे।

श्री रामनाथ 'सुमन' आश्रम के एक प्रमुख व्यक्ति थे। उनकी एक लेखक और ग्रंथकार की प्रतिभा के दर्शन यही हुए। बडे व्यवस्थित और सफ़ाई पसन्द आदमी मालूम हुए।

उपाध्यायजी और महोदयजी वग़ैरा तो कांग्रेस के काम में लग गए। शीघ्र ही पुष्कर मे प्रान्तीय राजनैतिक परिषद हुई। उसमें पूज्य कस्तूरबा गांधी अध्यक्षा और काका साहब कालेलकर उनके सलाहकार बन कर आये।

अंग्रेज अधिकारियों के माफ़ीनामे

मेरा कार्यक्षेत्र तो देशी राज्य ही थे। मेरा मन पिछले झगड़ों से ऊबा हुआ और जेल के ताज़ा अनुभवों से खिन्न था। मैंने इस संधिकाल का उपयोग अजमेर मे खादी फेरी कार्यक्रम गठित करने मे किया। आठ दस दिन के निरंतर परिश्रम और साथियों के सहयोग से इस बार जितनी खादी बिकी उतनी फेरी में और कभी नहीं बिकी। मेरा सदा से यह ख्याल रहा है कि देश सेवकों को सरकारी कर्मचारियों से अच्छे संबंध और व्यक्तिगत सम्पर्क रखने की कोशिश करनी चाहिये। इससे अनेक छोटी मोटी कठिनाइयां आसानी से हल हो जाती हैं और उनकी परिस्थिति के अनुसार देश सेवा में मदद भी मिलती है। अल्बत्ता कार्यकर्त्ताओं को उनकी परवशता का लिहाज़ और उनसे परिचय और सहायता प्राप्त करने के लिए रचनात्मक प्रवृत्तिया आदर्श साधन हैं। इस बार की खादी फेरी ने

मेरी यह धारणा मजबूत कर दी। इस सिलसिले में मैं अनेक यूरोपियन और भारतीय कर्मचारियों से मिला। ऐसा लगा कि वे खुद भी कांग्रेसियों से किसी न किसी निमित्त मिलने और उनसे राजनैतिक चर्चा करने के लिए उत्सुक रहते थे। तीन मुलाकातें उल्लेखनीय हैं। पहली रेल्वे कारखाने के उच्चाधिकारी कोर्टस्वर्थ साहब से हुई और दूसरी मेयो कॉलेज के प्रिंसिपल स्टो साहब से। दोनों ने खादी खरीदी और बातों बातों में पूछा, "अंग्रेज चले जायेंगे तो हिन्दू मुसलमानों में अमन कैसे रहेगा?" मैंने उत्तर दिया, "आप लोगों के आने से पहले भी हम किसी तरह जिन्दा थे ही। जिन देशों में ब्रिटिश राज नहीं है, वहां भी लोग सुख शान्ति से रहते है। और अगर जर्मनी इंग्लैंड पर कब्जा करके कहने लगे कि उस की सत्ता उठ जाने में रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट या स्कॉट और अंग्रेज आपस में लड़ मरेंगे तो अंग्रेज अपना घर जर्मनों के हाथ में रहने देंगे? आखिर देश हमारा है, उसकी इतनी फ़िक्र आप क्यों करते हैं? अपने घर की चिन्ता हमें ही कर लेने दीजिये।" इसका जवाब भी क्या हो सकता था?

दूसरी घटना इससे ठोस थी। बात यह हुई थी कि कुछ स्वयंसेवक तिरंगा झंडा लिए हुए मेयो कॉलेज के अहाते से गुजर रहे थे। इस बार दीवारी को अंग्रेज़ों ने एक अन्तःपुर की तरह अपने और अपनों के लिए सुरक्षित कर रखा था। कांग्रेसी पताका को देख कर कॉलेज के वाइस प्रिंसिपल कर्नल हाउसन उसी तरह बिगड़े जैसे लाल कपड़े से सांड बिदकता है। उन्होंने झंडा छीन कर फाड डाला और स्वयंसेवकों को थाने में भिजवा दिया। कांग्रेसी हल्कों में इस पर बड़ा रोष फैला। प्रान्तीय कार्यकारिणी इस अपमान का परिमार्जन कराने के लिए चिन्तित हुई, मगर कोई उपाय नहीं सूझ रहा था। मुझे इस किस्से की उडती खबर लग गई थी। मैंने स्टो साहब और हाउसन साहब दोनों से कहा, "हमारे राष्ट्रीय झंडे का अपमान करके आपने अच्छा नहीं किया। आप इस देश का नमक खाते हैं। जिस पताका को करोड़ों भारतीय पूजते हैं उसकी बेइज्जती करना आप जैसी सैनिक क़ौम को वैसे भी शोभा नहीं देता। अगर आपके कुछ टॉमी (गोरे सिपाही) यूनियन जैक (अंग्रेज़ी झंडा) लेकर कांग्रेस के मैदान में से गुज़रें और कांग्रेसी लोग उसे छीन कर फाड़ दें और टॉमियों की मरम्मत कर दें, तो आपको कैसा लगे? मेरी राय में शराफ़त का तक़ाज़ा है कि आप क्षमा याचना करें।" दोनों की तरफ़ से प्रान्तीय कांग्रेस के प्रधान के नाम लिखित माफ़ीनामा पहुंच गया। अंग्रेज स्वाभिमान की इस तरह कद्र करते थे!

बिजौलिया में फिर संकट

पुष्कर की परिषद हुई ही थी कि बिजौलिया में फिर सत्याग्रह छिड़ गया।

पथिकजी से दस्तबर्दारी लेकर सेठ जमनालालजी ने उसकी बागडोर संभाली। सर सुखदेवप्रसाद मेवाड़ के प्रधानमंत्री थे। ठिकाने के साथ रियासत की शक्ति ने मिल कर किसानो का दमन आरम्भ किया। माणिक्यलालजी पकड़े गए। हरिभाऊजी एक आपरेशन के लिए बंबई चले गये और अन्त तक घटना स्थल पर न पहुंच सके। हां, कुछ स्वयंसेवक अजमेर से बिजौलिया जरूर गए। उनके साथ ठिकाने की पुलिस ने बड़ा जलील व्यवहार किया। सेठ जमनालालजी ने बीच मे पड कर अपने प्रभाव से प्रजा-पक्ष की रक्षा करने की कोशिश की लेकिन जब इस समझौते की शर्तें किसानो को समझाने के लिए शोभालालजी सेठजी के प्रतिनिधि बन कर पहुंचे, तो एक उजड्ड कोतवाल ने उन्हे जूतों से पिटवा कर सामन्तशाही के जंगलीपन का परिचय दिया। बात महामना मालवीयजी तक पहुंची, तो सर सुखदेव गालियों पर उतर आये और हरिभाऊजी को "शैतान" (evil genius) शब्द से याद करके अपने दिल की जलन निकाली। सत्ताधारियों का स्वभाव है कि विरोधी बनते ही "शरीफ़" उनकी नजर मे "नीच" हो जाते है। आखिर दस बारह बरस की दाद फ़रियाद के बाद किसानों को अपनी जमीने मिली। मगर उपाध्यायजी को रियासत से जो निकाला गया, तो सन् ४६ तक वह आज्ञा रद्द नही हुई। हा, उन्हे साहित्य सम्मेलन के अवसर पर उदयपुर जाने की शर्त बन्द इजाजत बीच से मिल गई थी।

देश का गुप्त दौरा

सन् १६३२ मे जब दुबारा सत्याग्रह छिड़ा तो और नेता जल्दी ही गिरफ़्तार हो गए, मगर सेठ जमनालालजी मुक्त थे। वे बड़े संगठनकर्त्ता और देशव्यापी प्रभाव रखने वाले व्यक्ति थे। मेरी इच्छा युद्ध मे भाग न लेकर अपने पुराने निश्चय के अनुसार देशी राज्यों की सेवा करने की ही थी। सेठजी ने राय दी कि खादी कार्य द्वारा यह सेवा उत्तम हो सकेगी। अतः फ़ैसला हुआ कि महाराष्ट्र चर्खा संघ में कुछ समय काम करके आवश्यक अनुभव प्राप्त कर लूं। परन्तु इससे पहले सेठजी ने मुझे एक विशिष्ट काम सौंप दिया। वह यह कि अखिल भारतीय कांग्रेस के डिक्टेटरों की एक नामावली तैयार करली जाय ताकि एक के बाद दूसरा श्रृंखलाबद्ध रूप मे मैदान में आता चला जाय। इसके लिए मुझे देश भर का दौरा करना था। मैं बंगाल, बिहार, यू० पी० और पंजाब में घूम भी आया। लौटा तब तक सेठजी जेल मे पहुंच चुके थे।

चर्खा संघ का अनुभव

मैं महाराष्ट्र चर्खा संघ में काम सीखने लगा। इसकी प्रगति देख कर सानन्द आश्चर्य हुआ। इस सफलता का श्रेय सर्वश्री जाजूजी, राधाकृष्ण बजाज,

कृष्णदास गांधी और द्वारकानाथ लेले को मुख्यतः देना पड़ेगा। कृष्णदास भाई की एकनिष्ठा और महाराष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं की परिश्रमशीलता व मितव्ययिता अनुकरणीय मालूम हुई। इसी सिलसिले में मुझे निजाम राज्य के मेटपल्ली उत्पत्ति केन्द्र में रहने का मौका मिला। रियासत की साम्प्रदायिक नीति और आतंकपूर्ण व्यवस्था के प्रत्यक्ष परिणाम देखे। मेटपल्ली के इस प्रवास में ही यह विश्वास स्थिर और असंदिग्ध हुआ कि भारत के दरिद्रनारायण के लिये खादी एक वरदान है। लौटते वक्त हैदराबाद में श्री रामकृष्णजी धूत से परिचय हुआ। वे एक होनहार सुधारक और सेवक प्रतीत हुए।

कांग्रेस का प्रधान मंत्री पद

वर्धा पहुंचा तो गांधी सेवा संघ की मारफत यह तजवीज आई कि कांग्रेस महासमिति के महामन्त्री के रिक्त स्थान की पूर्ति करूं। इस आन्दोलन में गुप्तता का दौर दौरा था। महासमिति का दफ्तर भी छिप कर काम करता था। मुझे रचनात्मक कार्य की धुन ने इस प्रलोभन से तो परे रखा, लेकिन राजस्थान की पुकार के आगे मेरी यह तटस्थता नहीं टिकी और मैं अजमेर पहुंच गया। हटूंडी आश्रम ज़ब्त हो गया था। हमारे बाल बच्चे जयपुर में एक जगह रहते थे। मैंने एक दो साथियों सहित रामगंज में डेरा लगाया। वहां मधुकरी जीवन का अच्छा आनन्द रहा। इस आन्दोलन में राजस्थान ने १९३० से भी शानदार भाग लिया। प्रान्त के कोने-कोने से कार्यकर्त्ता शरीक हुए। कोई चार सौ सत्याग्रही जेल में पहुंचे।

बहनों का शानदार भाग

स्त्रियों की संख्या तो यहां दूसरे किसी भी प्रान्त से अधिक रही। मुझे यह स्मरण करते हुए गर्व होता है कि सभी निकटस्थ साथियों और उनके परिवारों ने भाग लिया। भाई शोभालालजी और उनकी वीर पत्नी विजया बहन, अंजनादेवी, दुर्गाप्रसाद और विमला देवी, चन्द्रभानुजी और दुर्गा बहन, हरिभाऊजी और भागीरथी बहन, बैजनाथजी महोदय और तुलसी बहन, पं० लादूरामजी और रमा बहन, नीमच के धनीरामजी सगर और उनकी पत्नी, कृष्णगोपालजी गर्ग की पत्नी शकुन्तला बहन, सुमनजी की पत्नी सीता बहन, कृष्णादेवी, इन्दौर की रुक्मिणी बहन और दूसरी कई वीरांगनाओं ने इस राष्ट्रीय युद्ध में शरीक होकर प्रान्त का गौरव बढ़ाया। अंजनादेवी आदि जिन महिलाओं को 'ए' क्लास में रखा गया उनमें से अधिकांश ने अपनी 'सी' क्लास की साथिनियों की खातिर उच्चवर्ग की सुविधाओं को अस्वीकार कर दिया और काली दाल-रोटी खाना पसंद किया। उन्होंने यहां भी साबित कर दिया कि त्यागमय स्त्री पुरुष से सदा आगे रही है।

कारावास की यातनाएं

जेल मे पुरुष सत्याग्रहियो के साथ इस बार खास तौर पर सख्ती की गई। जिन प्रमुख और उच्चशिक्षित कार्यकर्त्ताओं को सन् १९३० में विशेष वर्ग में रखा गया था उनमे से अधिकाश को 'सी' क्लास दिया गया। काम भी चक्की पीसने, पानी भरने और दूसरे कठोर परिश्रम के दिये गये। एक दिन बालासहाय आदि कुछ तरुण सत्याग्रहियो को श्री जवाहरलाल रावत की अदालत से मिली सजा पर बेत लगा दिये गये। इस पर राजनैतिक और साधारण कैदियों तक ने मिल कर रात भर नारे लगाये। फिर तो देशभक्तों को काफ़ी कष्ट दिये गये मगर आयंदा किसी सत्याग्रही को अदालत से बेत की सजा नही दी गई। सन् १९३२ से १९३४ के इस आन्दोलन ने अजमेर को एक नया कार्यकर्त्ता दिया। ये थे श्री विश्वम्भरनाथ भार्गव। जिले के ये दूसरे वकील थे जिन्होंने सारा या अधिकाश समय लगा कर कांग्रेस का काम किया। इन्होने तीन बार जेल यात्रा की।

सस्ता मंडल गया

एक हानि भी हुई। सस्ता साहित्य मंडल से राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं को काम और सार्वजनिक जीवन को बल मिलता था। प्रान्तीय सरकार की उस पर कड़ी नजर रहने लगी। उसके कुछ प्रकाशन वर्जित करार दिये गये और एक बार तलाशी भी हुई। बिड़लाजी मंडल को राजनीति से अलग रखना चाहते थे। इन घटनाओ के कारण उन्होंने मंडल को अजमेर से उठवा कर अपनी सीधी देखरेख मे दिल्ली मंगवा लिया।

तेरह अस्पृश्यता निवारण यज्ञ

गांधी युग आरम्भ होने के साथ ही कांग्रेस के कार्यक्रम में अस्पृश्यता निवारण एक अविभाज्य अंग बन गया था। सुधारक आन्दोलनों और संस्थाओं के प्रयत्नों के फलस्वरूप हिन्दुओं के प्रगतिशील हल्कों में अछूतपन बुरी चीज माना जाने लगा था। मगर साधारण हिन्दू समाज के शरीर में यह रोग अभी तक गहरा पैठा हुआ था। इधर रेम्जे मेक्डॉनल्ड की ब्रिटिश सरकार ने मुसलमानों की तरह अछूतों का भी एक अलग वर्ग कायम करके राष्ट्र को दो से बढ़ा कर तीन टुकड़ों में बांट देने का निर्णय किया। गांधीजी गोलमेज परिषद में ही यह चेतावनी दे चुके थे कि ऐसी कोई योजना अमल में आई तो उसके विरोध में मैं अपनी जान लड़ा दूंगा। सन् १९३२ में जब ब्रिटिश हुकूमत का साम्प्रदायिक निर्णय प्रकाशित हुआ और अछूत जातियों के लिये पृथक् निर्वाचन की पद्धति कायम कर दी गई, तो गांधीजी ने यरवडा मन्दिर से ही घोषणा कर दी कि यदि हिन्दू नेताओं ने हिन्दू धर्म के शिर से अस्पृश्यता का पाप धो डालने और ब्रिटिश-सरकार ने हिन्दू जाति के टुकड़े करने वाले निर्णय को बदल देने का आश्वासन नहीं दिया तो वे आमरण अनशन करेंगे। यह व्रत शुरू भी हो गया। देश में एक सिरे से दूसरे सिरे तक हाहाकार मच गया। असंख्य नर-नारियों ने हड़ताल, उपवास, सभाओं और जुलूसों द्वारा अपने अवतारस्वरूप महापुरुष के प्रति सहानुभूति और श्रद्धा व्यक्त की और यह सिद्ध कर दिया कि भले ही लाखों मनुष्य पुराने विचारों के कारण गांधीजी से किसी प्रश्न पर सहमत न हों फिर भी वे उन्हें भारत की दिव्यतम विभूति, महान से महान हस्ती और हिन्दुत्व के प्राण समझते हैं और उन्हें किसी तरह भी खोना सहन नहीं करेंगे। फल यह हुआ कि हिन्दू नेताओं और ब्रिटिश सत्ताधारियों को गांधीजी की मांग स्वीकार करनी पड़ी और उनका उपवास नाजुक स्थिति में पहुंच कर समाप्त हुआ। देश में आनन्द और उत्साह की लहर फैल गई। गांधीजी ने भी इस परिस्थिति का पूरा सदुपयोग किया। एक तरफ़ अछूतपन के खिलाफ़ प्रचार करने और दलित जातियों के उत्थान के लिए सतत कार्य करने वाली एक अखिल भारतीय संस्था की स्थापना की गई। दूसरी ओर उन्होंने जेल में बैठकर इस उद्देश्य की सफलता के लिए उद्योग करने की सरकार से सुविधाएं प्राप्त की। एक कैदी को इस तरह की स्वतन्त्रता मिलना ब्रिटिश साम्राज्य और शायद संसार के किसी भी राज्य के इतिहास में अभूतपूर्व

घटना थी। यह सत्याग्रह का ही चमत्कार था। लेकिन गांधीजी को अराजनैतिक मुलाकातें, प्रकाशन और पत्र व्यवहार करने की जो गैर मामूली आजादी मिली उसका प्रयोग भी उन्होंने इस तरह किया जिससे विरोधियों को भी कोई शंका या शिकायत न हो।

हरिजन सेवक संघ

हरिजन सेवक संघ स्थापित हुआ। उसका एक प्रभावशाली संचालक मंडल बना। अध्यक्ष सेठ घनश्यामदास बिड़ला, महामंत्री श्री० अमृतलाल ठक्कर और सहायक मंत्री प्रोफ़ेसर नारायणदास मलकानी हुए। बिड़लाजी की अतुल सम्पत्ति, ठक्कर बापा की दीर्घकालीन भीलसेवा, त्यागमय जिन्दगी और पीड़ितों के साथ अगाध सहानुभूति तथा मलकानीजी की विद्वत्ता और कुर्बानियां देखते हुए इससे अच्छा चुनाव नही हो सकता था। अनुभव ने भी इस निर्वाचन को उत्तमता बाद मे सिद्ध कर दी। बापा के कठोर अनुशासन, असाधारण परिश्रमशीलता और स्निग्ध खानगी व्यवहार ने अनेक काम के आदमियों को भक्त बना दिया। संघ का प्रधान कार्यालय दिल्ली में कायम हुआ। वही से हिन्दी में 'हरिजन सेवक', पूना से अंग्रेजी 'हरिजन' और बंबई से गुजराती 'हरिजन बन्धु' इस संघ के तीन साप्ताहिक मुखपत्र निकलने शुरू हुए। उनके संपादक क्रमश: सर्वश्री वियोगी हरि, महादेव भाई देसाई और चन्द्रशंकर पंड्या हुए। मार्ग दर्शन तो संघ की तरह इन पत्रो के लिए भी गांधीजी का ही रहा।

संगठन की रचना

केन्द्रीय व्यवस्था ठीक करके ठक्कर बापा प्रान्तीय शाखाओं का संगठन करने निकल पड़े। संघ की रचना इस तरह थी कि केन्द्रीय संघ का अध्यक्ष अपने संचालक मंडल के सदस्यो और प्रान्तीय अध्यक्षों को मनोनीत और प्रान्तीय मंत्री को नियुक्त करता था। प्रान्तीय मंत्री सारा समय लगाकर काम करने वाले होते थे। एक तरह से यही इस विशाल संगठन के प्राण थे। संघ के वैतनिक कार्यकर्त्ताओं के लिये सत्याग्रह से अलग रहना जरूरी था। यह सावधानी इसलिये भी जरूरी थी कि उस वक्त सत्याग्रह जारी था और उसमें भाग लेकर हरिजन सेवा यथेष्ट रूप मे कर सकना बहुत कठिन था। गुजरात का संगठन करके बापा अजमेर आये। श्री हरबिलासजी शारदा को बिड़लाजी ने राजपूताना शाखा का अध्यक्ष नामजद किया। मन्त्रिपद के लिये मेरी तजवीज हुई। मैं गांधी सेवा संघ का सदस्य था। उसके अध्यक्ष सेठ जमनालालजी जेल में थे। वे मुझसे राजपूताना के खादी कार्य का संचालन कराना चाहते थे। उसके लिये

तालीम भी ली जा चुकी थी। मैं धर्मसंकट में पड़ा। लेकिन बापा ने जमनालालजी की मंजूरी दिलाने का जिम्मा लिया। मैं उनके आग्रह के आगे झुक गया और इस नये भार को स्वीकार कर लिया। राजनीति और राजनैतिक आन्दोलन काफ़ी देख चुका था। उसके झगड़े-टंटों से अरुचि हो चुकी थी। साहसी तबियत आत्मविश्वास के साथ इस क्षेत्र में आगे बढ़ी क्योंकि प्यारे राजस्थान के निम्नतम दलित वर्गों की प्रत्यक्ष सेवा का अवसर मिल रहा था।

मार्ग की कठिनाइयां

लेकिन हमारे नेता राजपूताने के काम के विषय में बहुत आशावादी नहीं थे। उनकी आशंका निराधार भी नहीं थी। यह प्रान्त राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक कट्टरता का गढ़ ठहरा। जात्याभिमान यहां नंगा नाच करता था। जीवन के हर क्षेत्र में ऊंच-नीच की भावना का बोलबाला था। शासन सत्ताएं निरंकुश थी। वह प्रजा में जीवन और बल पैदा करने वाली हर योजना को संदेह की नजर से देखती थी। सत्याग्रह आन्दोलन जारी था। उसके कारण सरकारी हल्क़ों में काफ़ी चौकन्नेपन का वातावरण था। अंग्रेज़ भी हमारे राजाओं को बराबर पट्टी पढ़ा रहे थे कि कांग्रेस वाले हरिजन सेवा की आड़ में राजनैतिक बदअमनी फैलाना चाहते है, उनसे खबरदार रहना चाहिये। मेरी ख्याति प्रान्त में एक प्रमुख राजनैतिक पुरुष की थी। इधर सेवा कार्यों से सहानुभूति रखने वाले धनिक और शिक्षित वर्गों में अजमेर आपसी लड़ाई झगड़ों के लिये बदनाम था। इन सब कारणों से परिस्थिति काफ़ी प्रतिकूल थी। यही वजह थी कि जब मैंने प्रान्तीय संघ के बजट में ११ स्थानीय शाखाओं की गुंजाइश रखी तो हमारे दिल्ली के मुख्य दफ़तर में कुछ आश्चर्य और परिहास हुए बिना नहीं रहा'।

कार्य की प्रगति

इसलिये मुझे भी क़दम फूंक-फूंक कर चलना पड़ा। सन् १९२९ में गांधीजी ने 'राजा-प्रजा सेवक समिति' नामक जिस प्रस्तावित संस्था का विधान तैयार किया था उसमें देशी राज्यों के लिये नम्रता, कुशलता और सचाई की त्रिविध कार्यनीति स्थिर की थी। मैंने उसी के प्रकाश में काम करना शुरू किया। प्रान्तीय संघ के विधान में केन्द्रीय संघ से एक क़दम आगे बढ़ कर यह नियम बनाया गया कि उसके वैतनिक कार्यकर्ता सत्याग्रह में ही नहीं, राजनीति मात्र में भाग न लें। बूंदी, मेवाड़ और जयपुर के सिवाय जहां मेरा दाखिला बन्द था मैंने राजपूताने की प्रायः सभी रियासतों का दौरा किया। जिन इलाकों में सार्वजनिक प्रवृत्तियों का अभाव था उन पर खास ध्यान दिया गया। मैं जहां

जाता वहा के दीवान और पुलिस सुपरइन्ट को अपने आने की पहले सूचना देता। उसी मे यह आश्वासन भी दे देता कि संघ अधिकारियों की सहानुभूति के साथ ही काम करना चाहता है, जिन प्रवृत्तियों पर राज्य को आपत्ति होगी वे वहा शुरू नही की जायेगी और अगर उन्हें मेरा आना नापसंद होगा तो मैं नही आऊंगा। मुझे यह देख कर आश्चर्य हुआ कि एक के सिवा और किसी रियासत ने मेरे आने पर आपत्ति नही की। वह घटना भी दिलचस्प थी। मैं बांसवाडा जाने के लिये रतलाम से लॉरी में सवार हो ही रहा था कि बांसवाडा दीवान साहब का एक तार मुझे दिखाया गया। उन्होंने मुझे सीधा जवाब न देकर अपने रतलाम के एजेन्ट द्वारा यह सूचना दी कि मैं बांसवाडा न जाऊं। मैं तुरन्त लौट पड़ा और उत्तर भेज दिया कि "आपकी सूचना के लिये तो धन्यवाद, लेकिन अगर वह अजमेर मे मिल जाती तो थोड़े सार्वजनिक समय और धन की बचत हो जाती।" संयोगवश थोड़े ही दिन बाद जब मैं डूंगरपुर के सरकारी अतिथि भवन में ठहरा हुआ था तो वही बांसवाड़ा के दीवान साहब भी किसी काम से आ पहुंचे। बातचीत हुई और उनका समाधान हो गया। तीसरे ही दिन बांसवाड़ा से उनका बुलावा आ गया। मैं जिस रियासत मे पहुंचता सबसे पहले दीवान और पुलिस एवं दूसरे महकमों के उच्चाधिकारियो से मिलकर उनका शंका समाधान करता। अपनी तरफ़ से तो राजा से भी भेंट करने का प्रस्ताव करता लेकिन इसमे दो से अधिक जगह सफलता नही मिली। अधिकाश राजाओ को मिलने मे भारत सरकार के पोलिटिकल विभाग का डर ही मुख्यतः बाधक था। दीवानों मे प्रतापगढ़ के शाह साहब ने, मुझे याद है, इस सत्य को स्पष्ट स्वीकार किया कि हरिजन सेवक संघ वही कार्य कर रहा है जो राज्य को करना चाहिये, लेकिन चूंकि मौजूदा अवस्था मे सरकारी प्रयत्नों पर प्रजा का विश्वास नही है, इसलिये ग़ैर सरकारी संस्थाओ के काम मे ही राज्य को अधिक से अधिक मदद देनी चाहिये। शाह साहब ने मदद दी भी। इसी तरह दूसरे कई राज्यों ने भी सहानुभूति दिखाई और सहायता दी। किसी भी राज्य ने बाधा दी हो, ऐसा मुझे याद नही पडता। सहायता डूंगरपुर राज्य की ओर से सबसे अधिक मिली और काम सबसे आगे बढ़ कर झालावाड़ के महाराव साहब ने किया। मैं जहां जाता वहां के सनातनी नेताओं से भी मिलकर उनका समाधान करने की कोशिश करता। सुधारकों और हरिजनों से तो काम था ही। हर जगह दो चार हरिजन सेवक और एकाध कार्यकर्त्ता भी मिल जाते। इस प्रकार गांधीजी के पुण्य प्रताप मे अच्छी सफलता मिली। राजस्थान के हरिजनों के दिन अच्छे थे। केन्द्रीय मंडल का रुख उदार था। काम बढ़ता चला गया।

एक अभूतपूर्व घटना

उन्ही दिनो अजमेर के सामाजिक इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना हुई। किसी विशेष दिवस मनाने के सिलसिले में सवर्णों का एक जुलूस नये बाजार की चौपड़ से शुरू हुआ। सभ्य, शिक्षित और उच्च कहलाने वाले वर्ग के लोगों के हाथों मे झाड़ू और टोकरियां शोभायमान थी। आगे-आगे स्व० गौरीशंकरजी बैरिस्टर और पीछे पीछे सैकड़ो लोग हरिजन सेवा के नारे लगाते और गीत गाते चल रहे थे। जब यह क़तारबद्ध समूह कट्टरपंथी गलियो मे होकर गुजरा तो लोगों के आश्चर्य का पार न रहा और माताएं व बहने छतो से विस्मयपूर्ण दृष्टि से देखने लगी। हरिजनों के मुहल्ले मे पहुंच कर जब बाबू लोग सफ़ाई करने लगे तो वे भी चकित हो गये।

हरिजन यात्रा में

सन् १६३४ में गांधीजी ने हरिजन कार्य के लिये देश भर का दौरा किया। मुझे भी इस प्रवास मे एक महीने के करीब उनके साथ रहने का सौभाग्य मिला। यात्रा आन्ध्र व तमिलनाड जैसे कट्टर प्रान्तो से शुरू की गई। चौबीसों घण्टे साथ रह कर गांधीजी का दैनिक जीवन और सार्वजनिक प्रवृत्तिया निकट से अध्ययन करने का मौका मिला। अक्सर महापुरुषों के लिये कहा जाता है कि उनमे दूर से जितना आकर्षण होता है उतना नजदीक जाने पर नही होता। मगर गांधीजी में मैंने उल्टी बात पाई। कई लोगों को भय था कि हिन्दू समाज की कट्टरता गांधीजी के इस क्रान्तिकारी सामाजिक आन्दोलन को बरदाश्त न कर सकेगी, उनकी लोकप्रियता घट जायगी और उनके राजनैतिक सामर्थ्य को गहरा आघात पहुंचेगा। ब्रिटिश सरकार भी शायद ऐसे परिणामों की आशा मे ही उन्हे छोडने और अबाधित रूप में काम करने देने को राजी हुई थी। लेकिन मैंने आखो देखा कि जहां कही वे गये अपार भीड़ ने उनका स्वागत किया, उनकी हरिजन सेवार्थ फैली हुई दान की झोली भर दी और इक्के-दुक्के लोगों को छोडकर सर्वसाधारण ने उनके कार्य का समर्थन किया। गांधीजी का उत्कट राष्ट्रभाषा प्रेम मैंने इसी दौरे में देखा। जिन प्रान्तों की भाषा हिन्दी नहीं थी वहां भी वे अंग्रेजी के बजाय हिन्दुस्तानी में ही मुख्यतः बोलते थे। विरोधियों के दृष्टिकोण को समझने, सार्वजनिक आदेश से उनकी रक्षा करने, हरिजन मोहल्ले देखने और स्त्रियों तथा कार्यकर्त्ताओं से वार्तालाप करने का मौका वे नही चूकते थे। इतने गुंथे हुए कार्यक्रम में भी वे सुख की नींद सोते, सब काम समय पर कर लेते और अपना स्वास्थ्य अच्छा रख पाते थे। इतना गज़ब का उनका मनोबल था।

कुछ संस्मरण

इस यात्रा के कुछ संस्मरण उल्लेखनीय हैं। गांधीजी हजारों दर्शनार्थियों से तो हाथ फैला कर हरिजन कार्य के लिये चन्दा ले ही लेते थे, जो युवक युवतियां बड़े आदमियों के हस्ताक्षर लेने के आजकल के फ़ैशन के अनुसार गांधीजी के पास आते थे उनसे भी यह काठियावाड़ी बनिया प्रत्येक हस्ताक्षर की पांच रुपये फ़ीस लेकर अच्छा व्यापार कर लेता था।

मुलाक़ातों और पत्र-व्यवहार के मामले मे बापूजी क्रमशः स्त्रियों, बच्चों, हरिजनों, विद्यार्थियो, कार्यकर्त्ताओं, अल्पसंख्यकों और विदेशियो को प्राथमिकता देते थे और अक्सर उन्हे अपने हाथ से ही पत्र लिखते थे। अक्षरों की सुन्दरता पर उनका बड़ा आग्रह रहता था और पोस्टकार्ड से काम चल सकता हो तो कभी लिफ़ाफ़ा इस्तेमाल नही करते थे। पत्रो को दुबारा पढ़े बिना नही भेजते थे और कभी इतना समय न मिलता तो पत्र के कोने पर लिख देते थे कि दुबारा नही पढ़ा।

Brother ass (गधा भाई) शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ मे बापूजी करते थे। इससे उनका मतलब शरीर से होता था। काम भी उससे वैसा ही लेते थे मगर उसे परमात्मा का दिया हुआ सेवा का साधन समझ कर और उसका पूरा सदुपयोग करने के लिये वे उसे उचित पथ्य, नियम, व्यायाम, सफ़ाई और आराम से संभाल कर रखने के पक्ष में भी थे।

वचन पालन को वे अत्यन्त महत्व देते थे। इस यात्रा मे बातों ही बातों में मेरे मुंह से निकल गया कि राजपूताना हरिजन सेवक संघ के अध्यक्ष दीवान बहादुर हरबिलास शारदा ने चंदा लिख तो दिया मगर चुकाया नही। बापूजी तुरन्त बोले, "उनसे कह दो कि या तो तीन दिन मे वायदा पूरा करें या अस्तीफ़ा दे दें।" मैंने वैसा ही किया और चन्दा जमा हो गया।

मानपत्रों की व्याख्या

मानपत्रों की बापू की अनोखी व्याख्या भी मैंने इसी प्रवास मे सुनी। मद्रास में वहां के राजस्थानियों और गुजरातियों ने बापू को अभिनन्दन पत्र और हरिजन कार्य के लिये थैलियां भेट की। उत्तर मे बापू ने कहा, "मानपत्रों में व्यक्ति की तारीफ़ो के पुल नही बांधने चाहिये, उसकी सेवाओं का उल्लेख करके उनका अनुकरण करने का इरादा ज़ाहिर किया जा सकता है परन्तु मुख्यतः संबंधित संस्था या समाज की आवश्यकताओं, समस्याओं और सुधार योजनाओं पर ही

प्रकाश डालना चाहिये। साथ ही जो जातियां दूसरे प्रान्तों में जाकर धन कमाती हैं उन्हें अपने मूल प्रदेशों की सेवा का ख्याल गौण और वर्तमान क्षेत्रों की भलाई का ध्यान अधिक होना चाहिये।

मुंजे-बापू वार्ता

लेकिन इस यात्रा की सबसे अधिक स्मरणीय घटना तो डाक्टर मुंजे के साथ हुई बातचीत थी। नागपुर से वर्धा तक गांधीजी के साथ सफ़र करते हुए डाक्टरजी ने बापूजी को उलहना दिया, "मुसलमानों को खुश करने की आप की नीति के कारण मुसलमान हिन्दू स्त्रियों को भगा ले जाते हैं, मन्दिरों को भ्रष्ट करते हैं और तरह-तरह के अत्याचार करते हैं।" बापू ने उत्तर दिया, "मैं अपने अहिंसात्मक ढंग से इन सब बुराइयों का प्रतिकार करने की कोशिश करता हूं और इसके लिये अपनी आहुति देने को तैयार रहता हूं। आपका रास्ता दूसरा है। उसे गलत मानते हुए भी मैं आपसे पूछता हूं कि आप स्त्री जाति के सतीत्व और हिन्दू धर्म की रक्षा के लिये तलवार उठाना जरूरी समझते हैं तो उसे म्यान में क्यों रख छोड़ा है?" डाक्टर साहब निरुत्तर हो गये।

कार्य का विस्तार

इस प्रवास से लौट कर मैंने राजपूताना के काम को फैलाने और मजबूत करने का उपक्रम किया। सौभाग्य से चन्द्रभानुजी जैसे मिलनसार प्रचारक व संगठनकर्त्ता, शोभालालजी जैसे जिम्मेदार और विवेकशील मंत्री, रामसिंह भाटी जैसे व्यवस्थापक और अयोध्याप्रसादजी दफ़्तरी सहायक प्राप्त थे। साल भर में ही प्रान्त में हरिजन सेवक समितियों का जाल बिछ गया। पचासों नवयुवक सेवाक्षेत्र में नये आ गए और कई ऐसे केन्द्र पैदा हो गये जहां पहले कोई सार्वजनिक कार्य नहीं हुआ था। अपने उत्कर्ष काल में राजपूताना हरिजन सेवक संघ की रात और दिन की पाठशालाओं की संख्या सवा सौ तक, छात्र छात्राओं की तादाद तीन हजार के लगभग और शाखा समितियों का नम्बर पचास से ऊपर पहुंच गया था। हजारों हरिजनों ने शराब पीना छोड़ दिया था और मुर्दा मांस न खाने की प्रतिज्ञाएं ले ली थीं और अनेक जलाशय उनके लिए बने और बन रहे थे।

प्रशि

इस बढ़ते हुए [illegible] से [illegible] जागृति में उसमें यथेष्ट परिणाम निका[illegible] [illegible] तोमुखी प्रतिभा पैदा करने के लिए एक [illegible] को [illegible] जा सके।

नामक एक छोटे से गांव में सेवा आश्रम खोला गया। प्रान्तीय संघ के आधीन जितने शिक्षक और कार्यकर्त्ता थे उनके लिए यहां आकर छ महीने तक रहना अनिवार्य किया गया। उनके लिए जरूरी था कि खादी पहनें, कातना सीखें और शिक्षण और गांधी साहित्य का अध्ययन करें। वे मलमूत्र की सफ़ाई करते, गांव के गंदे मुहल्लों में झाड़ू लगाते, मिट्टी खोदते, भोजन बनाते और अपना सब काम अपने हाथों से करते थे। यह सब वे खुशी से न करते यदि उनमें एक प्रकार की मिशनरी भावना काम न कर रही होती। इसी भावना के कारण सारे आग्रहों और पूर्वग्रहों की उपेक्षा करके वे राजनैतिक हेतुओं और झगड़ों से अलग रहे, छूत-अछूत बिना किसी भेदभाव के खानपान और रहन सहन में एक साथ रहे और जलवायु, रुपया पैसा और कौटुम्बिक व सामाजिक विरोध संबंधी कठिनाइयों की परवाह न करके भी अपना कर्तव्य पालन करते रहे। हरिजन सेवक संघ के इतिहास में कार्यकर्ताओं का पहला ट्रेनिंग कैम्प राजपूताना शाखा ने ही खोला था और उसी ने पहले पहल हरिजनों से भी अधिक दरिद्र भीलों की सेवा का आयोजन किया था। नारेली में कोई सौ कार्यकर्त्ता ट्रेनिंग पाकर बाहर निकले। आगे चलकर भी इनमें से अधिकांश लोग हरिजन सेवा, खादी या प्रजामंडल संबंधी किसी न किसी कार्य में लगे रहे।

कुछ योग्य कार्यकर्त्ता

लेकिन राजपूताना हरिजन सेवक संघ को सफलता हरगिज नहीं मिलती अगर उसे कुछ योग्य कार्यकर्ताओं की सेवाएं प्राप्त न होतीं। अजमेर के श्री बालकृष्ण गर्ग और करोली के श्री चिरंजीव शर्मा की विविध विकासशील शक्तियां, दोसा के श्री कल्याण शर्मा की ग्रामीण जनता में घुसने की क्षमता, इंदौर के श्री मदनसिंह तोमर की शिक्षणकला, बांसवाड़ा के श्री गौरीशंकर उपाध्याय की नम्रता, अलवर के श्री रामावतार की श्रद्धा, भरतपुर के श्री गोकुलजी वर्मा की अखंड सेवापरायणता और अमरसर जयपुर के श्री गौरीशंकरसिंहजी का हरिजन प्रेम विशेष उल्लेखनीय है। सूरजगढ के श्री मूलचन्द, जयपुर के स्वामी मुनीश्वरानन्द, झालरापाटण के एकमात्र हरिजन एजेंट, मास्टर रामचन्द्रजी और अमरसर जयपुर के बालासहाय, नरसिंहदास आदि हरिजन कार्यकर्ताओं ने भी अपनी जाति की सेवा में अच्छा सहयोग दिया। अवैतनिक कार्यकर्ताओं में जयपुर में श्री कपूरचन्द पाटणी, बीकानेर में श्री मुक्ताप्रसादजी वकील और आर्य समाज के मंत्री श्री लालसिंह, प्रतापगढ़ में पं० बैजनाथ शर्मा, राजगढ़ (अलवर) में श्री जमनालाल गुप्त, रामगढ़ (जयपुर) में श्री महादेव चौधरी, पिलानी में श्री घनश्याम शर्मा, गंगापुर में पं० सुन्दरलालजी, चिड़ावा में श्रीकृष्ण शर्मा, फतेहपुर

में श्री भीमराजजी दूगड़, चौमू में पं० युधिष्ठिरजी शर्मा, रींगस में श्री रामेश्वरजी अग्रवाल और झालावाड़ में पं० रामनिवासजी शर्मा ने अपनी अपनी शाखाओं का कार्य संचालन अच्छी तरह किया। यह सब इन्हीं लोगों के परिश्रम का नतीजा था कि राजपूताने का काम हरिजन संघ की प्रथम श्रेणी की शाखाओं में शुमार हुआ। इस कार्य में शेखावाटी के धनिकों की उदारता और चर्खा संघ की दिलचस्पी हरिजन संघ से पहले और बाद में भी बराबर काम करती रही।

बाबू हुक्मीचन्दजी

यदि मैं दो केन्द्रो का वर्णन जरा विस्तार से न करूं तो यह वृत्तान्त अधुरा ही रहेगा। बाबू हुक्मीचन्दजी सुगणा मेवाड़ के एक सत्पुरुष थे जिन्हें सेवा की खातिर काम धन्धा छोड़े अर्सा हो गया था। उनकी बुजुर्गी, दानाई और अमनपसन्दी ने उन्हे जैन समुदाय मे ही नही, जो भी उनके सम्पर्क में आये उन्हीं के दिलों मे आदर का स्थान दिला दिया था। उन्होने मांडलगढ़ (मेवाड़) के परगने में श्री मनोहरसिंह मेहता आदि कुछ युवकों को लेकर सेवा संघ नामक एक संस्था खोली। हरिजन सेवक संघ की सहायता से इस मंडली ने अपने छोटे से दायरे में कई पाठशालाएं चलाई और ग्राम सुधार का अच्छा काम किया।

डूंगरपुर बांसवाड़ा क्षेत्र

लेकिन यहा से कही बडा और सुन्दर काम बागड़ मे हुआ। यह डूंगरपुर और बासवाड़ा के इलाका का सम्मिलित नाम है। दरिद्रता, कट्टरता और अंधकार की दृष्टि से यह प्रदेश शायद राजपूताना में सबसे नमूनेदार था। ऐसे प्रतिकूल क्षेत्र में जो अद्भुत कार्य हुआ उसका श्रेय मुख्यतः बाबा लक्ष्मणदासजी और भोगीलालजी पंड्या को था। सचमुच बाबाजी ने प्रतिकूल मौसम, बीहड़ भूमि, कमजोर स्वास्थ्य और दूसरी अनेक कठिनाइयों के होते हुए हरिजन कार्य का बीज न बोया होता और पंड्याजी ने अपनी सेवा भावना, कार्यदक्षता और परिश्रमशीलता से उसे न सींचा होता तो हरिजन सेवा का प्रान्त भर में जो आदर्श कार्य डूंगरपुर में हुआ वह संभव नही था। राजगुरु महंत सरयूदासजी ने एक कट्टर वैष्णव होते हुए भी हरिजन सेवक समिति का अध्यक्ष पद स्वीकार किया और साहस व लगन के साथ उस पद की जिम्मेदारी को निभाया। इतना ही नहीं, उन्होने अपना मंदिर भी हरिजनों के लिये खोल दिया था। इसी तरह रामसनेही साधु लच्छीरामजी ने भी बासवाड़ा के हरिजन कार्य मे अच्छी आर्थिक और नैतिक सहायता दी। इस काम में डूंगरपुर के महारावल साहब ने दिल खोल कर मदद दी। फलस्वरूप सारी रियासत के हरिजनों ने शराब पीना और मुर्दा मास खाना छोड़

दिया, उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ और सामाजिक कुरीतियों मे काफ़ी कमी हुई। इस संबंध में श्री मदनसिंह तोमर और उनकी धर्मपत्नी की सेवाएं प्रशंसनीय रहीं। लेकिन बागड़ प्रदेश मे ही नही, शायद सारे राजस्थान में जो साधुता, विनम्रता और पद व नाम के प्रति उदासीनता मैंने परतापुर के जगन्नाथजी कंसारा में पाई वह किसी दूसरे सेवक में नही देखी। वे कई हरिजन व भील पाठशालाएं, एक पुस्तकालय और वाचनालय और कष्ट निवारण की दूसरी प्रवृतिया बराबर चुपचाप और ख़ूबी के साथ चलाते रहे। जगन्नाथ भाई को इस काम मे अपने शरीफ़ अध्यक्ष गढ़ी के श्री चन्दूलालजी सोनी से अच्छी सहायता मिलती रही।

विप्लववाद का विपर्यास

हरिजन कार्य के सिलसिले में दो दुःखद घटनाएं भी उल्लेखनीय हैं। अजमेर में कुछ उग्र विचार के युवक भी हरिजन सेवा मे प्रवृत्त हुए। उन पर मैंने विश्वास किया, परन्तु पता नही, विप्लववाद या साम्यवाद के विचारो के किस विपर्यास का भूत उन पर सवार हुआ कि उन्होने हरिजन सेवक संघ को एक पूंजीपति संस्था समझा, विश्वास से मिली हुई सुविधाओ का दुरुपयोग करके वे रात को दफ़्तर मे घुस गये और मेज़ का ताला तोड़ कर लगभग ५००) रुपया चुरा ले गये। स्वयं क्रान्तिकारियों मे रह कर मैने उनके बारे में काफ़ी जाना और पढ़ा था। उनके शुद्ध जीवन और साहसी कार्यक्रम में ऐसे कायर कुकृत्य की मुझे कही गुंजाइश दिखाई नहीं दी थी, इस नकली विप्लववाद ने मेरे दिल पर बड़ी बुरी प्रतिक्रिया की।

लालनाथ पर प्रहार

दूसरी अप्रिय घटना यह हुई कि गांधीजी के अजमेर आगमन के समय सनातनियों का एक विरोधी दल यहां भी आ पहुंचा। यह मंडली स्वामी लालनाथ नाम के संन्यासी के नेतृत्व मे गांधीजी के साथ-साथ घूमती और हरिजन आन्दोलन को धर्म विरुद्ध बता कर उसके ख़िलाफ़ प्रचार करती थी। दुर्भाग्यवश अनेक सावधानियां रखते हुए भी उनकी कुछ असावधानी के कारण उनके साथ अजमेर में मारपीट हो गई। इस पर गांधीजी को ७ दिन का उपवास करना पड़ा। बाद में मालूम हुआ कि यह काम स्थानीय आर्य समाज के झगड़ों से सम्बन्ध रखने वाले कुछ युवकों का योजनापूर्वक किया गया काम था।

बापू को अद्भुत भेंट

परन्तु सबसे अधिक कटु अनुभव तो हरिजन कार्य के सिलसिले में हरिजनों की अवस्था का हुआ था। शायद मार्च १६३३ की बात है। मैं बापू

से मरवड़ा मन्दिर में मिलने गया था। वहां मैंने उन्हें 'राजस्थान का हरिजन' शीर्षक से प्रान्त के हरिजनों की स्थिति का चित्र भेंट किया जो यह था:—

"पता नहीं मनुष्य किस तरह इतना विवेकभ्रष्ट और हृदयहीन बन सका होगा और हिन्दू जैसे दयाप्रधान धर्म में यह अमानुषिकता क्योंकर घुसी होगी कि इन्सान को हैवान से भी बदतर समझने लगा। 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' का नित्य पाठ करने वाले लोग अपने ही समाज के एक समूचे अंग को अछूत और अदृश्य तक मानने लगे, उनसे गंदे से गंदा काम लेने लगे, उन्हें कम से कम और खराब से खराब अन्नवस्त्र देने लगे और ऊपर से तिरस्कार व ताड़ना का दंड भुगताने लगे। शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक सारी उन्नति के द्वार इन अभागों के लिये बन्द कर दिये गये। उनको छूना पाप, देखना पाप, उनकी छाया तक पड़ना पाप गिना जाने लगा। यहां तक कि देव दर्शन भी उनके लिये निषिद्ध हो गया। ऐसी दशा में बेचारे हरिजन क्या तो पढ़ें लिखें, क्या व्यवसाय उद्योग करें, क्या समाज और देश की उन्नति में भाग लें और क्या ईश्वरप्रदत्त शक्तियों का विकास करें? पानी के लिये तरसते रहें, मगर कुंए बावड़ी पर पैर नहीं रख सकते। शिक्षा के लिये उत्सुक हैं, पर स्कूल में भर्ती नहीं हो सकते। भूख लगी है, मगर पैसा देकर भी होटल ढाबे में नहीं खा सकते। हृदय हरिदर्शन को आतुर है, मगर मन्दिर की देहली नहीं लांघ सकते। चमड़ा ये कमाते, कूड़ा करकट ये उठाते, टट्टी-पेशाब ये साफ़ करते—गरज यह कि वे सब काम करते जो माता करती है और जिनके बिना समाज दो दिन ज़िन्दा नहीं रह सकता। मगर हिन्दू समाज है कि आत्माभिमान मे अंधा होकर इतनी बहुमूल्य सेवाओं का घृणा, ज़ुल्म और शोषण से अच्छे और किसी रूप में बदला देना ही नहीं जानता। अजमेर के मलूसर मुहल्ले मे मैला स्टेशन देखा और मनुष्यों को मलमूत्र के कुंड में काम करते पाया तो दिल ग्लानि के मारे भर गया। जब मालवा का हाल सुना कि वहां सवर्ण लोग हरिजन स्त्रियों के सिरों पर मैले के घड़े फोड़ कर और उनके साथ खुले रूप मे कुत्सित व्यवहार करके उत्सव मनाते हैं तो ऐसा लगा कि मानवता हिन्दू समाज को छोड़कर रसातल चली गई और दंडस्वरूप उसके गले में गुलामी का तौक डाल गई है। हरिजनों की दुःख गाथा यहीं समाप्त नहीं होती। सवर्ण गेहूं और शक्कर खाते हैं तो हरिजनों को जौ, बाजरे और गुड़ से ही मौसर और ब्याह करने चाहियें। 'ऊंची' जाति के मन्दिर पर सोने का कलश चढ़े तो 'नीचों' के भगवान का घर बिना कलश के ही रहना चाहिये। हरिजन अपने दूल्हे को घोड़े पर चढ़ा कर लें जायगा तो सवर्ण वरराज के लिये हर जगह

हाथी कहा से आयेगा ? साइकिल पर बैठने की मनाई। द्विज के सामने मजाल है जो अछूत खाट पर बैठ जाय ने लगा कर हुक्का पी ले या स्त्री जूता पहन कर निकल जाय। यह अभिशाप सवर्णों में भी आपस में मौजूद था। किसी राजपूत गाव मे बनियों और शूद्रों को राजपूतों के सामने इसी तरह अपमानित होना पड़ता था। बदले मे ठाकुर साहब को सेठजी के आगे कमर बांधे सलाम झुकाते हर किसी मिल के दरवाज़े पर देखा जा सकता था। झालावाड़ राज्य में एक लखपति हरिजन के सामने ब्राह्मण देवता को हाथ बाधे भीख मागते भी पाया गया। रेल्वे और सरकारी विभागों में अछूत हाकिमों की खुशामद करते हुए रात दिन ठाकुर साहब, पण्डितजी और सेठजी सभी देखे जाते थे। फिर भी भले ही कुत्ते बिल्ली छू जायें, मन्दिर में चले जायं और घर भर में चक्कर लगाते रहें, मगर हरिजन का कहीं गुजर नहीं। उनके मकान देखे तो अंधेरे, तंग और फूस मिट्टी के ढेर जहां हवा, रोशनी और कुशादगी का नाम नहीं। खाना जूठा और सड़ा बासी और कपड़ा उतरा हुआ मिले मगर काम करना पड़े कड़ी से कड़ी मेहनत का। न सर्दी का लिहाज, न धूप और वर्षा का खयाल। डाट-डपट और गाली-गलौज ऊपर से। ऐसी नारकीय यातनाओ को कहा तक सहा जाय ? ऐसी हालत में क्या आश्चर्य यदि लाखों विधर्मी हो जायं और अनेकों धर्म और जाति के कट्टर दुश्मन बन जायं ?"

महानतम कार्य

सचमुच गांधीजी ने अपने ऐतिहासिक उपवास से सदियों के सोये हुए हिन्दू अन्तःकरण को जगा कर और उसे हरिजन सेवा के महान् प्रायश्चित्त में लगाकर मानवता, हिन्दू धर्म और भारतवर्ष की अपूर्व सेवा की। वे और कुछ भी न करते तो अकेले इस अलौकिक कार्य के लिये भी इतिहास में अमर हो जाते। मुझे यह सोच कर संतोष होता है कि इस विशाल यज्ञ में हमारे प्रान्त का हिस्सा तुच्छ नहीं था। अस्तु, बापू ने मेरी इस भेंट को महत्व दिया और राजगोपालाचार्यजी से उस पर चर्चा की, यह महादेव भाई की डायरी से बाद में मालूम हुआ।

नेहरू - बापू वार्तालाप

हरिजन सेवा के इस काल में एक ऐसे नौजवान के विचारों और व्यवहार से जिसे मैंने पढ़ा लिखा कर योग्य बनाया था मेरे दिल पर चोट लगी थी। प्रसंगवश

बापू से ज़िक्र आ गया तो मेरी आंखें भर आईं। बापू द्रवित होकर बोले, "ऐसा अनुभव सभी को होता है। देखो, उस दिन जवाहरलाल आये थे। उनकी लेखमाला पढ़ कर मैंने उन्हें चर्चा के लिये बुला लिया था। जब बात हुई तो बच्चों की तरह रोने लगे। कहते थे, 'बापू, मेरा दिल तो आपकी तरफ़ दौड़ता है मगर दिमाग़ दूसरी ही दिशा में जाता है। बताइये क्या करूं?' मैंने उन्हें साफ़ कह दिया, 'अभी हृदय को ताक में रख दो और जो बुद्धि कहे वही करो।' मुझे पहली बार पता लगा कि जो लोग गांधीजी पर अंधानुयायी बनाने का आरोप लगाते हैं वे कितनी ग़लती करते हैं।

एक धोती पर झगड़ा

इसी दिन कि बात है। बापू के पोते कान्तिभाई भी सेवाग्राम आये हुए थे। दोनों के बीच यह विवाद चल रहा था कि कान्तिभाई एक धोती अधिक चाहते थे और बापू उसकी ज़रूरत नहीं समझते थे। कोई आध घंटे की बहस के बाद भी बापू ने मंज़ूरी नहीं दी सो नहीं दी। कान्तिभाई के चले जाने के बाद मैं बापू से पूछ बैठा, "आपका समय इतना कीमती है और बात इतनी छोटी सी थी....।" मैं इतना ही कह पाया था कि बापू बीच मे बोल उठे, "प्रश्न छोटी बड़ी बात का नहीं, एक सिद्धान्त का है। हम दरिद्र-नारायण के सेवक हैं। हमें जनता से अपने लिये कम से कम लेकर उसे अधिक से अधिक देना चाहिये। ज़रूरत हो तो मनुष्य को बचाने के लिये हज़ार रुपये भी कोई चीज नहीं। तुम देखते नहीं, बालकोबा के इलाज के लिये मैं कैसे पानी की तरह पैसा बहा रहा हूं।"

व्यावहारिक आदर्शवाद

थोड़े अर्से बाद वर्धा मे गांधी सेवा संघ का सम्मेलन हुआ। मैं मांसाहारियों को सदस्य बनाने के विरुद्ध था। इस अवसर पर बापू ने जो कुछ कहा उसका सार यह था: "जो लोग पीढ़ियों अथवा लम्बे अभ्यास के कारण मांसाहार के आदी हैं उनके संस्कार को अनिवार्य हिंसा मान कर सहन करना होगा। इसी तरह समुद्र तट पर रहने वाले जिन ग़रीबों को दूध, घी आदि कुछ नहीं मिलता उन्हें भी मछलियां खाने से रोकना एक प्रकार से हिंसा होगी।" बापू सचमुच व्यावहारिक आदर्शवादी थे।

राजस्थान के नौ हिटलर

हटूंडी में राजपूताना और मध्य भारत के प्रमुख कार्यकर्ताओं का सम्मेलन

हुआ। उद्देश्य यह था कि सेठ जमनालालजी के नेतृत्व में राजस्थान के सारे राष्ट्रीय कार्यों का संचालन करने के लिये एक नेता मंडल बनाया जाय। इस आयोजन के संयोजक थे हरिभाऊजी और [illegible]। उनमें पिछले तीन साल में एक से अधिक बार चुनाव युद्ध हो चुके थे और [illegible] स्थायी हो गई थी। मारपीट की नौबत आते आते बची थी और एक बार तो क्रान्तिकारियों की नौजवान सेना और दूसरे पक्ष के हिमायतियों की [illegible] की खोज में जंग होते होते रह गई। इस तरह [illegible] आन्दोलन पर सन्देह की दृष्टि से देखा गया। लेकिन सम्मेलन के पूरे अधिवेशन में भिन्न भिन्न कार्यकर्ताओं ने जिस जोर से प्रस्तावित योजना का विरोध किया उसकी आशा किसी को भी नहीं थी। इसे ६ हिटलरों की मंडली के नाम से पुकारा गया। आयोजन बुरी तरह असफल रहा।

चौदह राजस्थान सेवक मण्डल

हरिजन सेवक संघ का काम बढ़ रहा था। माणिक्यलालजी मेवाड़ के एकान्त कौने कुंभलगढ़ में सपरिवार नजरबन्द थे। उनकी बीमारी की खबर पाकर हम लोग चिंतित हुए और शोभालालजी उन्हे देखने भेजे गये। थोड़े अर्से बाद वे रिहा होकर अजमेर आ गये। इन दोनों को केवल हरिजन कार्य जैसे सामाजिक कार्य से सन्तोष नही था। मुझे इस कार्य को मजबूत और व्यवस्थित करना था और हम सबको एक सूत्र मे बंधे रहना था। इसलिये एक ऐसी संस्था बनाने का निश्चय हुआ जिसके हम सब पुराने साथी सदस्य हों, और जिसका कार्यक्रम रचनात्मक हो लेकिन राजनैतिक प्रवृत्तियों की जिसमे गुंजाइश हो। गांधीजी ने १६२६ मे देशी राज्यों मे राजनैतिक कार्य संबंधी जो विधान बनाया था हमने उसे ज्यों का त्यों ले लिया। उसमें सत्य और अहिंसा के मूल भूत सिद्धान्तों के साथ साथ ये मर्यादाएं भी स्वीकार की गई कि राज्य विशेष में वहां के राजा को आपत्ति न हो तो प्रजा के कष्टों को दूर कराने की कोशिश की जाय, एक राज्य की टीका दूसरे राज्य मे बैठ कर न हो और ब्रिटिश सरकार का हस्तक्षेप न चाहा जाय। सार यह है कि राजाओं को नि.शंक रखने के लिए अधिक से अधिक सावधान रहने की नीति अख्तियार की गई। संस्था का नाम 'राजस्थान सेवक मंडल' रखा गया, मुझे अध्यक्ष और शोभालालजी को मंत्री चुना गया और हमारे सिवाय चन्द्रभानुजी, माणिक्यलालजी, नयनूरामजी शर्मा, रामसिंह, हुकमीचन्दजी, दुर्गाप्रसाद और जयसिंह भी शरीक हो गये। इस प्रकार हरिजी और पथिकजी को छोड़कर बाकी सब पुराने मुख्य साथी और कुछ नये सहयोगी फिर एकत्र हो गये। मुख्यतः सभी हरिजन कार्य मे लग गये। १६३५ में नारेली में पक्के मकानात बनवा लिये गये और डूंगरपुर राज्य के सागवाड़ा स्थान पर भील सेवा आश्रम स्थापित कर दिया गया। एक साल बाद अजमेर मे 'आदर्श प्रेस' नामक एक बड़ा छापाखाना खरीद लिया गया और 'नवज्योति' नामक हिन्दी राष्ट्रीय साप्ताहिक जारी कर दिया गया।

भीलों की दशा

दक्षिण राजस्थान में मेवाड़ का दक्षिणी भाग और बांसवाड़ा तथा डूंगरपुर राज्यों का इलाका एक ऐसा प्रदेश है, जहा की आबादी लगभग ७५ फ़ीसदी भीलों की है। जहा तक मैं जानता हूं यह जाति हिन्दुस्तान की सबसे गरीब जाति है। अज्ञान, अंधविश्वास तथा शोषण का ऐसा दृश्य शायद और कहीं नहीं मिल

सकता। सामन्तवादी राज्य सत्ता और सूदखोर महाजनों के मारे ये भोले भाले प्राणी प्रायः निस्सहाय अवस्था में थे। उनकी खेती का ढंग बिल्कुल प्रारम्भिक, जमीन और औजार घटिया, सिंचाई के स्थायी प्रबन्ध का अभाव और बैल दुबले और घटिया। इसी तरह उनके स्वास्थ्य की तरफ़ भी किसी का ध्यान नहीं। बीमारी में उन्हें दवा मिलना मुश्किल और यदि कोई संक्रामक रोग फैल गया तो सैकड़ों की संख्या में कीड़े मकोड़ों की तरह मर जाते थे। मकान उनके खपरैल, बांस व मिट्टी के बने हुए, तंग, नीचे और अंधेरे जिनमें एक ही जगह खाने, सोने और पशुओं के रहने का स्थान होता था। खुली हवा और धूप आदि प्रकृति की देन, भीलों की अपनी नैतिक वृत्ति और कठोर परिश्रमशीलता के कारण वे बेचारे किसी तरह ज़िन्दा रहते थे। अन्यथा उन्हे तन ढकने को कपड़ा और खाने को पूरा अन्न भी मयस्सर नहीं होता था। आधे पेट खाना, अर्ध नग्न रहना और जाड़ों में आग के सहारे रात बिताना, यह उनका साधारण जीवन-क्रम था। शिक्षा के लिए राज्यों की तरफ़ से नहीं के बराबर व्यवस्था थी। बेगार की मार और सूदखोरी की लूट के आगे वे हमेशा तंग रहते थे। सामाजिक दृष्टि से भी उनके साथ लगभग अछूतों का सा व्यवहार होता था।

बागड़ सेवा मन्दिर

मैंने अपनी दूसरी यात्रा में ही यह सब स्थिति देख ली और निश्चय कर लिया कि दरिद्रनारायण सचमुच भीलों में निवास करता है और उसकी सेवा में अपनी और अपने साथियों की काफ़ी शक्ति लगनी चाहिए। राजस्थान सेवक मंडल में विचार होकर शीघ्र ही बागड़ सेवा मन्दिर नामक संस्था स्थापित की गई और मंडल की शाखा के रूप में डूंगरपुर राज्य को केन्द्र बनाकर बागड़ के भीलों में काम करने लगी। पहले माणिक्यलालजी और बाद में दुर्गाप्रसाद भील क्षेत्र में पहुंच गए। वे खड़लाई पाल मे कुटिया बनाकर रहने लगे। एक पाठशाला के साथ काम शुरू किया गया।

डूंगरपुर का सहयोग

यह काम शुरू होने से पहले मैंने महारावल साहब लक्ष्मणसिंहजी की भील सेवा कार्य के प्रति सहानुभूति प्राप्त करली थी। उनके प्रगतिशील विचारों और उदारवृत्ति का प्रमाण तो उनके हरिजन सेवा कार्य के सिलसिले मे मिल ही चुका था। लेकिन उनके देश प्रेम में अपनी राजनैतिक मर्यादाओं का हमेशा खयाल रहता था। हम भी उनकी कठिनाइयों का लिहाज करते थे। अब तक हमने जहां जहां भी काम किया था उसमें या तो बिजोलिया आदि की तरह राजाओं और जागीरदारों से लड़कर जनता को राहत दिलाई या हरिजन सेवा की तरह स्वतंत्र

चौदह राजस्थान सेवक मण्डल

हरिजन सेवक संघ का काम बढ़ रहा था। माणिक्यलालजी मेवाड़ के एकान्त कोने कुंभलगढ़ में सपरिवार नजरबन्द थे। उनकी बीमारी की खबर पाकर हम लोग चिंतित हुए और शोभालालजी उन्हें देखने भेजे गये। थोड़े अर्से बाद वे रिहा होकर अजमेर आ गये। इन दोनों को केवल हरिजन कार्य जैसे सामाजिक कार्य से सन्तोष नहीं था। मुझे इस कार्य को मजबूत और व्यवस्थित करना था और हम सबको एक सूत्र में बंधे रहना था। इसलिये एक ऐसी संस्था बनाने का निश्चय हुआ जिसके हम सब पुराने साथी सदस्य हों, और जिसका कार्यक्रम रचनात्मक हो लेकिन राजनैतिक प्रवृत्तियों की जिसमें गुंजाइश हो। गांधीजी ने १९२९ में देशी राज्यों में राजनैतिक कार्य संबंधी जो विधान बनाया था हमने उसे ज्यों का त्यों ले लिया। उसमें सत्य और अहिंसा के मूल भूत सिद्धान्तों के साथ साथ ये मर्यादाएं भी स्वीकार की गईं कि राज्य विशेष में वहां के राजा की आपत्ति न हो तो प्रजा के कष्टों को दूर कराने की कोशिश की जाय, एक राज्य की टीका दूसरे राज्य में बैठ कर न हो और ब्रिटिश सरकार का हस्तक्षेप न चाहा जाय। सार यह है कि राजाओं को निःशंक रखने के लिए अधिक से अधिक सावधान रहने की नीति अख्तियार की गई। संस्था का नाम 'राजस्थान सेवक मंडल' रखा गया, मुझे अध्यक्ष और शोभालालजी को मंत्री चुना गया और हमारे सिवाय चन्द्रभानुजी, माणिक्यलालजी, नयनूरामजी शर्मा, रामसिंह, हुकमीचन्दजी, दुर्गाप्रसाद और जयसिंह भी शरीक हो गये। इस प्रकार हरिजी और पथिकजी को छोड़कर बाकी सब पुराने मुख्य साथी और कुछ नये सहयोगी फिर एकत्र हो गये। मुख्यतः सभी हरिजन कार्य में लग गये। १९३५ में नारेली में पक्के मकानात बनवा लिये गये और डूंगरपुर राज्य के सागवाड़ा स्थान पर भील सेवा आश्रम स्थापित कर दिया गया। एक साल बाद अजमेर में 'आदर्श प्रेस' नामक एक बड़ा छापाखाना खरीद लिया गया और 'नवज्योति' नामक हिन्दी राष्ट्रीय साप्ताहिक जारी कर दिया गया।

भीलों की दशा

दक्षिण राजस्थान में मेवाड़ का दक्षिणी भाग और बांसवाड़ा तथा डूंगरपुर राज्यों का इलाका एक ऐसा प्रदेश है, जहां की आबादी लगभग ७५ फ़ीसदी भीलों की है। जहां तक मैं जानता हूं यह जाति हिन्दुस्तान की सबसे ग़रीब जाति है। अज्ञान, अंधविश्वास तथा शोषण का ऐसा दृश्य शायद और कहीं नहीं मिल

सकता। सामन्तवादी राज्य सत्ता और सूदखोर महाजनों के मारे ये भोले भाले प्राणी प्रायः निस्सहाय अवस्था में थे। उनकी खेती का ढंग बिल्कुल प्रारम्भिक, जमीन और औजार घटिया, सिंचाई के स्थायी प्रबन्ध का अभाव और बैल दुबले और घटिया। इसी तरह उनके स्वास्थ्य की तरफ़ भी किसी का ध्यान नही। बीमारी मे उन्हे दवा मिलना मुश्किल और यदि कोई संक्रामक रोग फैल गया तो सैकड़ों की संख्या में कोड़े मकोडो की तरह मर जाते थे। मकान उनके खपरैल, बास व मिट्टी के बने हुए, तंग, नीचे और अंधेरे जिनमें एक ही जगह खाने, सोने और पशुओं के रहने का स्थान होता था। खुली हवा और धूप आदि प्रकृति की देन, भीलों की अपनी नैतिक वृत्ति और कठोर परिश्रमशीलता के कारण वे बेचारे किसी तरह ज़िन्दा रहते थे। अन्यथा उन्हें तन ढकने को कपड़ा और खाने को पूरा अन्न भी मयस्सर नही होता था। आधे पेट खाना, अर्ध नग्न रहना और जाडो मे आग के सहारे रात बिताना, यह उनका साधारण जीवन-क्रम था। शिक्षा के लिए राज्यों की तरफ़ से नहीं के बराबर व्यवस्था थी। बेगार की मार और सूदखोरी की लूट के आगे वे हमेशा तंग रहते थे। सामाजिक दृष्टि से भी उनके साथ लगभग अछूतो का सा व्यवहार होता था।

बागड़ सेवा मन्दिर

मैंने अपनी दूसरी यात्रा में ही यह सब स्थिति देख ली और निश्चय कर लिया कि दरिद्रनारायण सचमुच भीलो मे निवास करता है और उसकी सेवा में अपनी और अपने साथियो की काफ़ी शक्ति लगनी चाहिए। राजस्थान सेवक मंडल मे विचार होकर शीघ्र ही बागड़ सेवा मन्दिर नामक संस्था स्थापित की गई और मंडल की शाखा के रूप में डूंगरपुर राज्य को केन्द्र बनाकर बागड़ के भीलो में काम करने लगी। पहले माणिक्यलालजी और बाद में दुर्गाप्रसाद भील क्षेत्र में पहुंच गए। वे खड़लाई पाल में कुटिया बनाकर रहने लगे। एक पाठशाला के साथ काम शुरू किया गया।

डूंगरपुर का सहयोग

यह काम शुरू होने से पहले मैंने महारावल साहब लक्ष्मणसिंहजी की भील सेवा कार्य के प्रति सहानुभूति प्राप्त करली थी। उनके प्रगतिशील विचारों और उदारवृत्ति का प्रमाण तो उनके हरिजन सेवा कार्य के सिलसिले में मिल ही चुका था। लेकिन उनके देश प्रेम में अपनी राजनैतिक मर्यादाओं का हमेशा ख़याल रहता था। हम भी उनकी कठिनाइयों का लिहाज़ करते थे। अब तक हमने जहां जहा भी काम किया था उसमे या तो बिजोलिया आदि की तरह राजाओं और जागीरदारों से लड़कर जनता को राहत दिलाई या हरिजन सेवा की तरह स्वतंत्र

रचनात्मक कार्यों द्वारा पीड़ितों की सेवा की थी। डूंगरपुर के भील सेवा कार्य में राज्य के सहयोग से प्रजा के उत्थान का प्रयोग शुरू किया गया। चूंकि दोनों तरफ़ से सद्‌भाव और सचाई रही, इसलिए परिणाम भी दोनों के लिए संतोषप्रद रहा। न हमारे कार्यकर्त्ताओं में प्रजा को भीतर से भड़का कर किसी छिपे हुए राजनैतिक उद्देश्य को पूरा करने की नीयत थी और न राज्य भीलों के शांतिपूर्ण विकास में बाधा डालना चाहता था। छोटे मोटे राज कर्मचारियों की तरफ़ से कभी कभी दिक्कतें ज़रूर पेश आईं, लेकिन ऊपर से कोई प्रोत्साहन न मिलने और कार्यकर्त्ताओं की शिकायतों पर उचित ध्यान दिए जाने के कारण काम सहूलियत और गति के साथ बढ़ता चला गया। महारावल साहब और उनके भाई व राज्य के प्रधान मंत्री महाराज वीरभद्रसिंहजी दोनों का ही व्यवहार कार्यकर्त्ताओं के साथ सम्मानपूर्ण होने और कार्यकर्त्ताओं में कर्मचारियों के विरुद्ध व्यक्तिगत रागद्वेष न रहने के कारण हमारे भील सेवकों का राजा और प्रजा दोनों में आदर हो गया।

होनहार श्रीगणेश

लेकिन भीलों के लिए तो सेवक वर्ग का पहला ही परिचय था। अब तक जितने सफ़ेदपोश उनमें पहुंचे थे वे सरकारी कर्मचारी या व्यवसायी साहूकार लोग थे। इनका काम शोषण का था। इसलिए पढ़े लिखों के लिए भीलों के मन में घृणा और शंका के भाव थे। राजस्थान सेवक मंडल के कार्यकर्त्ताओं के सादा, खुले, कष्टसहिष्णु और सेवामय जीवन और उनके भीलों में ओतप्रोत हो जाने के कारण कार्यकर्त्ताओं पर उनका शीघ्र ही विश्वास कायम हो गया। आगे चलकर यही भाव श्रद्धा के रूप में परिणत हो गया। भीलों ने कार्यकर्त्ताओं के लिए सब सामग्री और परिश्रम जुटा कर अपनी ही तरह के कच्चे मकानात खड़े कर दिए। फ़र्क इतना ही था कि कार्यकर्त्ताओं ने अपनी कुटियाएं हवादार, प्रकाशमय और कुशादा बनवाईं। उनमें जानवरों के लिए अलग गुंजायश रखी गई। उनके रहन सहन और खाने पीने में भी स्वच्छता रहती थी और शारीरिक शौच भी उनका अच्छा था। देखा देखी और सतत प्रचार के परिणाम स्वरूप भीलों में भी स्वच्छता और स्वास्थ्य सम्बन्धी उपयोगी बातों का काफ़ी प्रसार हुआ।

शिक्षा प्रसार पर ज़ोर

सबसे अधिक आवश्यकता भीलों की शिक्षा की प्रतीत हुई। सदियों के उत्पीड़न और शोषण ने उन्हें सिखा दिया था कि जब तक ज्ञान का दीपक उनके मस्तिष्कों में रोशन नहीं होगा तब तक वे सभ्य चोरों और डाकुओं से अपनी रक्षा नहीं कर सकेंगे। इसलिए शिक्षा प्रचार से ही शुरुआत की गई और उसी पर

सबसे अधिक ज़ोर दिया गया। खड़लाई में माणिक्यलालजी व पांतरी में कल्याण शर्मा के द्वारा दो पाठशालाएं खोली गईं। बाद में तो यह संस्था काफ़ी बढ़ी। इन पाठशालाओं में दिन को लड़के और लड़कियां और रात को युवक और प्रौढ़ लोग पढ़ाये जाते थे। अक्षर ज्ञान के साथ साथ छात्रों के लिए नहाना धोना आदि शरीर की सफ़ाई का और सामान्य ज्ञान भी दिया जाता था।

दूसरा कार्य औषधि वितरण का किया गया। इस सम्बन्ध मे हर पाठशाला के अध्यापक के पास कुछ जरूरी औषधियां रखी जाती थी और उसी के द्वारा वितरण की जाती थी। लेकिन ज्यादा जोर स्वच्छता आदि प्राकृतिक नियमों के पालन पर दिया जाता था।

खेती व वस्त्र स्वावलम्बन

तीसरा काम खेती और पशुपालन के सुधार का किया गया। भील पशुओ से मिलने वाले खाद को अज्ञान और लापरवाही के कारण धूप में सूखने और इधर उधर पड़ा रहते देखकर बहुत कुछ बर्बाद करते थे। सेवकों के प्रचार से वे खाद को गड्ढ़ो मे भरकर उसकी रक्षा करने लग गए। इसी तरह पशुओ को आदमियों के रहने के घर मे न रख कर अलग रखने, उन्हे अच्छी तरह खिलाने पिलाने और ज़रूरत के मुआफ़िक थोड़े किन्तु अच्छे जानवर पालने के लाभ समझाने पर इस दिशा में भी उन्होने कुछ प्रगति की। लेकिन खेती के सम्बन्ध में भीलो की सबसे बड़ी त्रुटि यह थी कि वे केवल दैव पर निर्भर रहकर वर्ष भर में केवल एक फ़सल और वह भी मक्की और कूर बट्टी आदि घटिया अन्न की ही बोते थे। इससे न उनके शरीर को पूरा पोषण मिलता था, न लगान और क़र्ज़ चुकाने को पैसा। हमारे कार्यकर्त्ताओ ने उन्हे कुए खोदकर गेहूं, कपास और तिल वगैरा भी बोने की प्रेरणा दी। इन बातों के लिए राज्य अर्से से कोशिश करता आ रहा था लेकिन वह भीलों का विश्वास सम्पादन नही कर सका था। कार्यकर्त्ताओं की नसीहत पर भीलों ने यह काम उत्साह के साथ किया। कपड़ा भीलों के शोषण का एक मुख्य कारण था। उन्हे पहनने और शादी-ब्याह के सारे वस्त्र व्यापारियों से खरीदने पड़ते थे। ये लोग उनके अज्ञान और दारिद्रय का अनुचित लाभ उठाकर उन्हें पूरी तरह लूटते थे। फलतः उन्हें कपड़ा भी नाकाफ़ी मिलता था और दाम भी कई गुने देने पड़ते थे। हमारे कार्यकर्त्ताओं के अनुरोध से उन्होंने पहले पहल कपास बोया। कपास तैयार होते ही वस्त्र स्वावलम्बन कार्य शुरु कर दिया गया। भाई दुर्गाप्रसाद की देखरेख मे एक बुनाई की पाठशाला खोल दी गई और बिजौलिया के एक अनुभवी खादी शिक्षक श्री हेमराज कुछ होनहार विद्यार्थियों को कताई, पिंजाई और बुनाई की बाक़ायदा

शिक्षा देने लगे। इधर श्रीमती नारायणी देवी और विमलादेवी स्त्रियों को चर्खा सिखाने लगी। राज्य ने चर्खों के लिए जंगल से मुफ़्त लकड़ी लाने की सुविधा दे दी। खड़लाई और पांतली दोनों पालो में प्राय सभी घरों मे चर्खा चलने लगा। पुरुष लोग भी अवकाश के समय तकली कातने लगे। प्रत्यक्ष लाभ होने पर यह कार्य स्वाभाविक गति से अपने आप बढ़ गया।

शराब बन्दी

इसके बाद ही शराब बन्दी का आन्दोलन शुरू किया गया। इस काम में अधिक कठिनाई नहीं हुई। इसका मुख्य कारण भीलो का दृढ़ पंचायती संगठन था। दोनों पालो की पंचायत का निश्चय होते ही शराब पीना बंद कर दिया गया।

इस सारे काम का प्रत्यक्ष संचालन माणिक्यलालजी करते थे। उनकी देखरेख में मेलों और मौसरो में गायनों, व्याख्यानों और प्रदर्शनियो द्वारा प्रचार कार्य होता रहता था।

अकाल निवारण

सन् १९३६ में अकाल पड़ा। दुबली और दो असाढ़ वाली कहावत चरितार्थ हुई। ग़रीब भीलो मे हा हा कार मच गया। इस समय राजस्थान सेवक मंडल के कार्यकर्त्ताओं ने तो दिल खोलकर काम किया ही, राज्य ने भी उदारतापूर्वक अपना फ़र्ज़ अदा किया। दोनों के सहयोग से अकाल सहायक समिति नामक कष्ट निवारिणी संस्था कायम हुई। स्वयं महाराज वीरभद्रसिंह इसके अध्यक्ष हुए। भोगीलालजी बाहर सहायता एकत्र करने निकले और माणिक्यलालजी व दुर्गाप्रसाद के साथ सर्वश्री कल्याण शर्मा, गौरीशंकर उपाध्याय, चन्दूलाल गुप्त, मदनसिंह तोमर, रेवाशंकर पांड्या, हेमराज धाकड़, गोवर्धनलाल और भैरूलाल आदि कार्यकर्त्ताओं ने रियासत का दौरा शुरू कर दिया। इन लोगों ने पैदल और साइकलो पर पहाड़ो और जंगलो में, धूप देखी न छांव, और भूख देखी न प्यास, सारी रियासत को छान मारा। थोड़े अर्से मे ये लोग अकाल की स्थिति के बारे में बहुमूल्य सामग्री प्राप्त कर लाये। साथ ही जनता के दूसरे हालात के बारे में भी काफ़ी जानकारी हासिल करली। इसके अलावा ये लोग जहां जाते शिक्षा, खादी, स्वच्छता, सदाचार, निर्व्यसनता और कृषि सुधार सम्बन्धी प्रचार कार्य भी सतत करते थे।

दापा और सागड़ी

इस दौरे में भीलों की सबसे बड़ी कुरीति के दुष्परिणाम देखने मे आये। इसे दापा कहते थे। शादी के मौक़े पर वर पक्ष वालों को वर-वधू और सम्बन्धियों

के लिए कपड़ा खरीदना पड़ता था और ८०) रुपये वधु के पिता के हाथों भेंट करने पड़ते थे। भीलों जैसे ग़रीब लोगों के लिए यह भार बहुत भारी होता था। इसके लिए उन्हें महाजनों का कर्ज़दार होना पड़ता था और उस कर्ज़ को चुकाने के लिए परिवार के एक नौजवान को साहूकार के यहां 'सागड़ी' बन कर रहना पड़ता था। सागड़ी वह प्रथा थी जिसके अनुसार भील युवक को साहूकार के यहां भोजन मात्र पर चौबीस घंटे का नौकर रहना पड़ता था। उसे कोई वेतन या मज़दूरी नहीं मिलती और ग़ुलामी तब तक करनी पड़ती थी जब तक युवक के परिवार वाले स्वतन्त्र रूप से साहूकार का ऋण न उतार दें। इन दोनों कुप्रथाओं को बन्द कराने के लिए सब पालों की पंचायतों से निश्चय करवाये गये और राज्य से उन निश्चयों के आधार पर दरख्वास्त की गई कि इस प्रथा को क़ानूनन बन्द करदे। राज्य ने इस मांग को बहुत कुछ स्वीकार करके क़ानून बना दिया।

कूप निर्माण

अकाल निवारण का सबसे महत्वपूर्ण काम यह हुआ कि भीलो में लगभग ५०० नये और पुराने कुएं तैयार हुए। अकाल सहायक समिति ने कुएं खोदने के औज़ार खरीद कर लोगों में बांट दिए और उन्होंने अपने परिश्रम से जलाशय बना लिए। ये उनके लिए अकाल निवारण के स्थायी साधन तो बन ही गए, प्रस्तुत अकाल में भी इनके द्वारा सिंचाई करके भीलो ने थोड़ी २ फ़सलें पैदा करली। इधर राज्य ने भी तकावी बांटी और कुछ बंध बंधवाकर काफ़ी संख्या मे लोगों को मज़दूरी के रूप में अन्न दिया। राज्य की ओर से उदार सहायता अकाल के समय लगान मे भारी कमी करना थी। डूंगरपुर मे एक अन्न क्षेत्र भी खोला गया। इन सब उपायों का नतीजा यह हुआ कि दुर्भिक्ष के समय होने वाली लूट मार बिलकुल न हुई, लोग भूखो न मरे, कोई बीमारी न फैली और किसी को विधर्मी न बनना पड़ा। साथ ही जो रचनात्मक कार्यक्रम केवल दो पालो में सीमित था वह सभी पालो मे फैल गया।

अकाल के खतम होते ही वर्षा आरम्भ होने पर समिति की तरफ़ से फ़सल बोने के लिए बीज बांटा गया, लेकिन दुर्दैव से अति वृष्टि हुई। उससे होने वाली हानि और कष्ट में सहायता पहुंचाई गई और मलेरिया का प्रकोप होने पर औषधि वितरण का काम किया गया।

बापा की उदारता

इस संकट के समय ठक्कर बापा ने डूंगरपुर राज्य का दौरा किया और भीलो में होने वाले सेवा कार्य को देख कर पूर्ण संतोष प्रकट किया। इस भील

सेवा कार्य में श्री घनश्यामदासजी बिड़ला ने आर्थिक सहायता दी और मेरे कलकत्ते जाने पर श्री भागीरथजी कानोड़िया ने चन्दा कराया। मैंने देखा कि कलकत्ते में कानोड़ियाजी और उनके साथी श्री बसंतलालजी मुरारका और सीतारामजी सेखसरिया आदि ने एक अच्छा सुधारक दल बना रक्खा था, जो राष्ट्रीय कार्य, समाज सुधार और रचनात्मक सेवा की प्रवृत्तियों में अच्छा भाग लेता रहता और सहायता करता रहता था। ठक्कर बापा का भीलों के प्रति पक्षपात प्रसिद्ध ही था। उन्होंने भील सेवा के कार्य को हरिजन सेवा के कार्य में शुमार करके डूंगरपुर के काम में हरिजन सेवक संघ से उदार सहायता दिलवाई।

बेगार बन्द

मंडल और राज्य के सहयोग का एक महत्वपूर्ण सुफल यह निकला कि किसी प्रकार का संघर्ष और कटुता आये बिना ही बेगार प्रथा बन्द हो गई। राज्य ने कानून बनाकर उसको ऐसा स्वरूप दे दिया जिससे ग़रीबों से मुफ़्त काम न लिया जा सके और हर कोई उन्हें तंग न कर सके।

'तुभ्यमेव समर्पयेत्'

सन् १९३७ के अन्त में राजस्थान सेवक मंडल यह सब काम श्री भोगीलालजी पांड्या और उनके साथियों की इच्छानुसार उनको सौंप कर चला आया। जहां तक मैं जानता हूं इस तरह का सुन्दर और ठोस रचनात्मक कार्य इतने थोड़े समय और खर्च में राजपूताने में तो और कहीं नहीं हुआ। संतोष की बात है कि डूंगरपुर सेवा संघ ने उसे सुचारु रूप से जारी रक्खा। मगर दुर्दैव से बाद मे राज्य और सेवकों में सहयोग न रहा।

राजस्थान संघ

इसी बीच में मेरे, हरिभाऊजी के और हीरालालजी शास्त्री के बीच यह विचार हुआ कि राजस्थान में सारा समय लगाकर काम करने वाले सभी सेवकों को एक झंडे के नीचे लाया जाय। आपस में और दूसरे साथियों से लम्बी चर्चाएं होकर निश्चय हुआ कि राजस्थान संघ नामक संस्था स्थापित की जाय जिसके हम तीनों संचालक हों। शास्त्रीजी से इसी काल में विशेष परिचय हुआ। उनकी वनस्थली की एकान्त सेवा की तारीफ़ सुन चुका था। इस वक्त वे प्रजामंडल की राजनीति में सामने आ गये। उनकी रुचियों, शक्तियों और आकृति को देख कर मैंने विनोद में कहा कि ये जयपुर के लिए वैसे ही साबित होंगे, जैसे मेवाड़ के लिये पथिकजी। अनुभव ने बता दिया कि यह अनुमान ग़लत न था।

एक विक्षेप

इस प्रकार हरिजन कार्य उत्कर्ष पर पहुंच रहा था, राजस्थान सेवक मंडल बन रहा था और एक प्रान्त व्यापी संगठन कायम होने को ही था कि कुछ विशेष कारणो से मैं सभी सार्वजनिक जिम्मेदारियों से अलग हो गया, हरिजन कार्य के संचालन का भार कलकत्ते के मित्रों के कंधो पर चला गया और राजस्थान संघ मेरे बिना ही बना। व्यक्ति की हैसियत समष्टि मे बहुत छोटी होने पर भी उतनी तो होती ही है कि किसी चीज को बनाने मे भले ही सौ के हाथ लगें, परन्तु उसके बिगड़ने के लिये एक का निमित्त भी काफ़ी हो जाता है। तदनुसार हरिजन संघ और सेवक मंडल को जो क्षति पहुँची वह पूरी ही नही हुई। दोनों संस्थाएं फिर न पनप सकी। इस काल में कई मीठे और कड़वे अनुभव हुए। नवलगढ के सेठ मोतीलालजी चौखानी ने जो आदर सत्कार किया और डूंगरपुर के महारावल साहब ने जिस आत्मीयता से काम लिया वह मैं नही भुला सकता। पं० जियालालजी ने एक सच्चे मित्र की भांति साथ दिया। दोस्त के, कमजोर के और संकट ग्रस्त के काम आने मे मैंने इस आदमी को जिस तरह जोखिम उठाते देखा वैसा और किसी को शायद ही देखा हो। यही मुख्य कारण है कि अनेक प्रतिकूलताओ के बावजूद वे अपने क्षेत्र की जनता के प्रिय रहे और उसमें सफलतापूर्वक काम करते रहे। इनके साथी पं० कन्हैयालालजी की मुस्तैदी, बा० विद्यारामजी की वफ़ादारी और इनके धर्मपुत्र श्री दत्तात्रेय बाव्ले की योग्यता का अधिक परिचय भी इसी अर्से मे मिला।

'अखंड भारत' में

श्री जयनारायणजी व्यास के और मेरे सार्वजनिक सम्बन्ध अच्छे नही थे। फिर भी उन्होंने मतभेद भूल कर मुझे बम्बई आने का निमंत्रण दिया और एक तरह से शिर पर बिठा कर रखा। उन दिनो वे दैनिक 'अखंड भारत' चला रहे थे। धनवानों के साथ स्वाभिमान कायम रखते हुये, दिनरात काम करते हुये और घोर आर्थिक कष्ट सहते हुये भी वे कैसे प्रसन्न रहते थे, सचमुच उनकी मस्ती ग़ज़ब की थी! राजस्थान के प्रथम श्रेणी के सेवको मे बहुत ही थोड़े ऐसे हुये हैं जिनमें जन-नायक होने के बहुत से गुण एक जगह पाये जाते है। व्यास जी उन्हीं थोड़े से कार्यकर्त्ताओं मे थे।

सन् १६३८ में अजमेर कांग्रेस संगठन में फिर तीव्र झगड़े हुये और कांग्रेस वर्किंग कमेटी के सदस्य श्री शंकरराव देव को अजमेर आना पड़ा। उन्होंने सार्वजनिक जीवन में होने वाले व्यक्तिगत आक्षेपों की खुली निन्दा की और उसका

आश्रय लेने वालों का मुंह बन्द किया। गांधीजी की राय के फलस्वरूप पं० हरिभाऊजी और उनके साथी कांग्रेस से अलग हुए। थोड़े अर्से बाद सेठ जमनालालजी की सलाह और बढ़ती हुई आर्थिक जिम्मेदारी को पूरा कर सकने की संचालकों की असमर्थता के कारण राजस्थान संघ भी टूट गया। सन् १९३८ में मैं गांधीजी के आदेशानुसार काम करने के लिये सेवाग्राम चला गया।

सम्पादन कार्य

पौने दो साल के इस बीच के अर्से में मेरा मुख्य कार्यक्रम स्थानीय कांग्रेस का मार्गदर्शन करना, कुछ प्रजा मंडलों और कार्यकर्त्ताओं को सलाह मश्वरा देना, 'नवज्योति' का संचालन करना और अजमेर के रेल्वे कर्मचारियों की शिकायतों में दिलचस्पी लेना रहा। मेरे लिये शान्तिकाल में कांग्रेस के कामों में सीधी जिम्मेदारी और क्रियात्मक दिलचस्पी लेने का यह पहला मौका था। इस अवसर पर सबसे कटु अनुभव तब हुआ जब कि प्रान्त की एकमात्र महिला अध्यक्षा श्रीमती गोमतीदेवी भार्गव को पदच्युत करने में उचित अनुचित सभी साधनों को काम में लेकर प्रांत का नाम कलंकित किया गया। राजस्थान सेवक मंडल ने प्रस्ताव करके 'आदर्श प्रेस' और 'नवज्योति' को मेरे सुपुर्द कर दिया था। पत्र सम्पादन के सम्बन्ध में मेरा अर्से से यह खयाल रहा है कि एक ओर सम्पादक का फ़र्ज़ है कि वह अपने सम्वाददाताओं को तालीम देकर अधिक से अधिक उपयोगी बनाता रहे और पीड़ित पक्ष की सहायता करना अपना सर्वोपरि ध्येय रक्खे और साथ ही यह भी ध्यान रक्खे कि जिन लोगों के खिलाफ़ शिकायतें आवें उनके प्रति अन्याय न हो। इसलिये जहां मैं अपने संवाददाताओं से सच्ची, सप्रमाण और लोकहितकारी सामग्री ही भेजने का आग्रह रखता था और उन्हें लिखने के ढंग पर भी सूचनायें दिया करता था, वहां अधिकारियों और अभियुक्त पक्ष के लोगों से भी यह जान लेने की कोशिश करता था कि उन पर लगाये गये आरोपों के बारे में उनका क्या कहना है। उत्तर के लिये काफ़ी समय देता था। जो शिकायतें सिर्फ़ खानगी जीवन से सम्बन्ध रखती थीं उन्हें केवल भेज देता था, छपाता नहीं था। फल यह होता था कि संवाददाता बहुधा निराधार या प्रमाणहीन शिकायतें या तो भेजते ही न थे या उन्हें वापिस ले लेते या सुधार लेते थे और अधिकारी अक्सर शिकायतें दूर कर देते थे और प्रकाशन की नौबत ही नहीं आती थी। इस प्रकार दोनों ओर एक स्वास्थ्य-प्रद वृत्ति पैदा होती थी। जहां तक मुझे याद है, मेरे प्रकाशित सम्वादों का खंडन होने या उन पर खेद प्रकट करने के बहुत ही थोड़े अवसर आये। अवश्य ही संपादक का धर्म है कि कोई बात गलत छप जाय तो सच्चाई मालूम होते ही खुले दिल से माफ़ी मांगले। इसी में शौर्य भी

है। कायरता और बुराई तो इसमें है कि चुपचाप क्षमायाचना करने या भविष्य मे कर्तव्य पालन पर कोई प्रतिबन्ध स्वीकार किया जाय। जहां तक अजमेर मेरवाड़ा सरकार की आलोचना का सम्बन्ध है मेरे अखबारो को यह फ़ख्र हासिल रहा कि उन्होने निडर होकर यहां की निरंकुश हकूमत की बेजाब्तगियों, ज्यादतियो और कुचक्रों पर प्रकाश डाला, टीका की और जनता की आवाज व राष्ट्र की भावना और पीड़ितों की पुकार को प्रतिध्वनित किया। इसका पुरस्कार भी ब्रिटिश सत्ता ने अच्छा दिया। उसकी तरफ़ से अनेक बार चेतावनियां मिली, तलाशियां ली गईं और ७ साल के अर्से में प्रेस और पत्र से कई बार जमानतें तलब की गईं। हैलोज साहब जिले के कमिश्नर थे। वे अपने अंधे कांग्रेस विरोध के कारण काफ़ी बदनाम थे। उन्होने यह हिदायत जारी करवादी थी कि मेरे अखबार और प्रेस को म्यूनिसिपलटियों, सरकारी महकमो और सहायता प्राप्त संस्थाओं से कोई काम न दिया जाय। ईश्वर का धन्यवाद है कि इन चट्टानों से टकरा कर भी यह नाव नहीं टूटी। इस नाव को खेने मे मुझे प्रारम्भ में श्री दीनदयाल दिनेश और स्व० सुन्दरलाल जी गर्ग से अच्छी मदद मिली।

सिरोही की अध्ययन-यात्रा

सिरोही से शासन सम्बन्धी गम्भीर शिकायतें आ रही थी। जयपुर के पूर्व परिचित कवेन्ट्री साहब यूं तो वहां के पुलिस अधिकारी थे लेकिन उनका असर शासन की सभी दिशाओं में था। परिपाटी के अनुसार मैंने उन्हे शिकायतें लिख भेजीं। उन्होने रिवाज के मुताबिक शिकायतों को तो ग़लत ही बताया, लेकिन वहां जाकर प्रत्यक्ष देख आने का निमंत्रण भी दे दिया। सन् १९३९ के शुरू मे मैं सिरोही पहुंचा। मेरे विद्यार्थी काल में सिरोही के कुछ युवक जयपुर मे पढ़ा करते थे। उन्हीं में से एक श्री ताराचन्द जी डोसी वहां मिल गये। मैंने उनसे और दो चार शिक्षित कार्यकर्ताओं से प्रजा पक्ष की मोटी मोटी बातें जानली। दीवान एक रिटायर्ड अंग्रेज थे। मुझे कहा गया कि उन्हें मिलने का अवकाश नहीं है और महारावल साहब को कष्ट देना उचित नहीं होगा। इसलिये मुझे शिक्षा, माल, पुलिस, न्याय और जंगलात महकमों के अफ़सरों से मुलाकात करके ही संतोष करना पड़ा। खुद इन्हीं के मुंह से प्रजा की बहुत सी शिकायतों का समर्थन हो गया। सारा शासन सड़ा हुआ था। एक नौजवान थानेदार ने खुद अपनी और पुलिस के दूसरे कर्मचारियों की गम्भीर ज्यादतियों का इकबाल किया। कार्यकर्ताओं ने इच्छा प्रकट की कि राजा प्रजा के कर्तव्य पर मेरा वहां भाषण हो, लेकिन रियासत ने अपने एक अतिथि

को भी यह अवसर देने का साहस नहीं किया। मैंने जो जानकारी प्राप्त की थी उसे एक आलोचनात्मक लेखमाला के रूप में प्रकाशित किया।

अलवर का समझौता

अलवर के साथ मेरा और भी घनिष्ट सम्बन्ध हुआ। वास्तव में अलवर के नव-जागरण में हमारे अखबार का एक विशेष हिस्सा रहा। वहा के प्रमुख सेवकों के निमंत्रण पर मैं कई बार अलवर गया। वहा के दो अंग्रेज दीवानों से भी मिला। हार्वे साहब के समय में एक खास घटना हुई। अधिकारी और कार्यकर्त्ता आये दिन की तनातनी से ऊब रहे थे और चाहते थे कि कोई बीच का रास्ता निकल आये। प्रजामंडल के ध्येय के बारे में और रियासतों की तरह वहां भी राज्य और प्रजा पक्ष में मतभेद था। मैंने दोनों को समझाया कि यह अखिल भारतीय रियासती प्रश्न है और उसका निर्णय भी दोनो तरफ़ के अखिल भारतीय नेता ही कर सकते हैं। इसलिये इस बारे में मतभेद क़ायम रहने दिया जाय लेकिन रोज़मर्रा के मामलों में यह समझौता कर लिया जाय कि राज्य वैध आन्दोलनों में कोई दखल न दे और किसी सार्वजनिक भाषण या कार्य पर उसे आपत्ति हो तो सम्बंधित कार्यकर्त्ता से रूबरू बात समझे बिना पुलिस की इकतरफ़ा रिपोर्ट पर कोई कार्रवाई न की जाय। दूसरी ओर प्रजासेवक किसी सरकारी कर्मचारी पर व्यक्तिगत आक्षेप न करें। यह शर्तें दोनों पक्षों को मंजूर हुई और जहां तक मुझे मालूम है उस पर दोनों तरफ़ से ही अमल हुआ। इस समझोते का लाभ प्रजामंडल को ही अधिक हुआ। बार बार की छोटी विफल मुठभेड़ों से उसका बल क्षीण होने से बच गया। इस अनुकूलता का कार्यकर्त्ताओं ने उपयोग भी अच्छा किया। कांग्रेस व प्रजामंडल की तरफ़ से अलवर मे म्यूनिसिपल चुनाव लड़ा गया और उसमें अच्छी सफलता मिली। प्रजामंडल के प्रचार और संगठन का प्रयत्न भी किया गया। जागीरी इलाकों की जनता के कष्ट निवारण के बारे में राज्य से और अखबारों द्वारा प्रयत्न किये गये। बाद में खादी भंडार और दूसरी रचनात्मक प्रवृत्तियां भी जारी की गईं। अलवर की आधुनिक जागृति मृत महाराजा के निर्वासन काल से शुरू हुई थी। जनता की उदारता देखिये कि जिस शासक ने अपने उत्कर्ष काल में उसे बुरी तरह दबा कर रक्खा उसी का विपत्ति काल में साथ दिया। एक मुसलमान डाक्टर और एक हिन्दू नाज़िम इस सिलसिले में जेल गये। बाद में कांग्रेस और प्रजामंडल के बाक़ायदा आन्दोलन हुये। इसमें सर्वश्री हरनारायण शर्मा, कुंजबिहारीलाल मोदी, श्री जमाली, मोदी नत्थूलाल, लक्ष्मण स्वरूप त्रिपाठी आदि कार्यकर्त्ताओं को

जेल की यातनाएं भुगतनी पड़ीं। श्री भोलानाथ मास्टर और श्रीमती सुशीला देवी त्रिपाठी ने भी काफ़ी काम किया। श्री० जयनारायणजी व्यास के विरुद्ध निर्वासन आज्ञा निकाली गई। दूसरी भी दमन की कार्यवाहियां हुईं।

ब्यावर का सम्मेलन

सन् १९३८ के शुरू में श्री० भूलाभाई देसाई के सभापतित्व में ब्यावर में राजनैतिक कांग्रेस हुई। इसमें मुख्य प्रस्ताव यह पास हुआ कि अजमेर मेरवाड़ा को यू० पी० में मिला दिया जाय ताकि इस जिले को प्रान्तीय स्वशासन आदि राजनैतिक सुधारों से वंचित न रहना पड़े। इस निश्चय में राजनैतिक बुद्धि और दूरदर्शिता का अभाव तो था ही, उस पर जब केन्द्रीय असेम्बली में चर्चा हुई तो सरकार की तरफ़ से कहा गया कि उसे ऐसे किसी निश्चय की खबर नहीं है। इससे पता चल सकता है कि उस समय प्रान्त की राष्ट्रीय आवाज कितनी कमजोर थी और उसके निश्चयों के पीछे कितना थोड़ा कार्य बल रह गया था।

हरिपुरा की ऐतिहासिक कांग्रेस

हरिपुरा कांग्रेस अभी हुई ही थी। यह अधिवेशन देशी राज्यों की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण था। इसमें कांग्रेस ने रियासती प्रजा की दायित्वपूर्ण शासन की मांग को उचित मान कर उसके साथ सहानुभूति प्रकट की। साथ ही साथ प्रजा को यह भी सलाह दी कि वह कांग्रेस पर निर्भर न रह कर अपने पैरों पर खड़ा रहना सीखे। उस समय एक दल को यह नीति बला टालने वाली दिखाई दी और बुरी लगी। मैं शुरू से ही देशी राज्यों में जैसे ब्रिटिश सरकार का हस्तक्षेप नापसंद करता था वैसे ही कांग्रेस का दखल देना भी अवांछनीय मानता था। रियासती मामलों में कांग्रेस के प्रत्यक्ष भाग लेने से ब्रिटिश सरकार को भी बीच में पड़ने का एक नया बहाना मिलता। कांग्रेस के साथ राजाओं के रूप में एक और बलशाली वर्ग से सीधी शत्रुता होती और प्रजा में स्वावलम्बन की भावना पैदा न होकर परमुखापेक्षी वृत्ति बढ़ती। इन सब बातों को देखते हुये हरिपुरा के निश्चय से मुझे बड़ा संतोष हुआ। परिणाम भी तत्काल और सुन्दर हुआ। देश भर की रियासती प्रजा मे एक अभूत-पूर्व जागृति हुई। जहा प्रजा का राजनैतिक संगठन नही था वहा कायम हो गया और जहां था उसमें जान आगई। देखते-देखते प्रजा मंडलों का एक तांता सा बंध गया। कांग्रेस के बड़े-बड़े नेता जो अब तक रियासती संगठन से उदासीन थे उसके कर्णधार हो गये। पं० जवाहरलाल नेहरू अखिल भारतीय लोक परिषद के अध्यक्ष थे और डॉ० पट्टाभि

सीतारमैया उपाध्यक्ष। सेठ जमनालाल जी ने जयपुर प्रजामंडल के सभापति का आसन ग्रहण किया। सरदार वल्लभभाई पटेल ने गुजरात व काठियावाड़ की ओर श्री शंकररावदेव ने महाराष्ट्र की रियासती प्रजा की बागडोर सम्भाली। राजस्थान में जयपुर, जोधपुर और अलवर आदि में प्रजामंडल पहिले से ही थे, अब मेवाड़, भरतपुर, कोटा, बूंदी, शाहपुरा, सिरोही, करौली, बीकानेर, किशनगढ़ वग़ैरा में भी ये संस्थाएं खड़ी हो गईं और न्यूनाधिक जोर पकड़ गईं। कई जगह सत्याग्रह हुये जहां पुरुष और स्त्रियां तक काफ़ी संख्या में जेल गये, मार खाई और जुर्माने, निष्कासन और नजरबन्दियां सहीं, हर जगह प्रजा की आवाज़ बुलन्द करने वाला एक स्थायी संगठन बन गया, उसके सुख-दुख में काम आने वाला एक सेवक-समूह पैदा हो गया और प्रजा में अपने अधिकारों की चाह उत्पन्न हो गई। थोड़े समय में इतनी जाग्रति हो गई कि अब किसी को यह कहने का साहस नहीं हो सकता था कि प्रजा निरंकुश शासन से संतुष्ट है, वह अपना कोई हक या फ़र्ज नहीं समझती अथवा उसका प्रतिनिधित्व करने वाली कोई संस्था ही नहीं है। राजसत्ताओं ने इस प्रत्यक्ष सच्चाई से इन्कार करने और इसके असर को मिटाने की हज़ार कोशिशें की। पहले तो प्रजा के स्वशासन के अधिकार को ही नहीं माना गया, फिर माना गया तो बड़ी कंजूसी के साथ इतना ही कि वह राज्य संचालन में हिस्सेदार हो सकती है। कुछ भी हो, इतना तो हुआ कि सरकारी संस्थाओं में निर्वाचन पद्धति दाखिल हुई। म्यूनिसिपल कमेटियों में चुने हुये प्रजा प्रतिनिधि लिये जाने लगे, झूंठी सच्ची असेम्बलियां क़ायम होना शुरू हुईं और राजकाज में कार्यकर्ताओं की पूछ होने लगी।

बीकानेर षड़यंत्र केस

बीकानेर के परलोकवासी महाराजा गंगासिंहजी ने इस युग में भी अपनी पुरानी दंड व भेद नीति से ही काम लिया। सन् १६३२ में सर्वश्री खूबरामजी व सत्यनारायण सर्राफ़, श्री चंदनमलजी और स्वामी गोपालदास आदि संभ्रान्त नागरिकों पर षड़यन्त्र का जो अभियोग चलाया गया था वह पुलिस की अमानुषिक यंत्रणाओं, न्याय विभाग की भ्रष्टता और रियासत की कुटिल नीति के लिये राजस्थान के अर्वाचीन इतिहास में अपनी मिसाल नहीं रखता। वस्तुतः परमात्मा ने गंगासिंहजी को जैसी असाधारण बुद्धि प्रदान की थी उसका उपयोग यदि वे प्रजा सेवा में करते तो बीकानेर का आधुनिक इतिहास शायद दूसरी तरह लिखा जाता। लेकिन ब्रिटिश छत्रछाया में हमारे राजाओं को जैसे संस्कार और शिक्षा दी गई उससे आमतौर पर यही परिणाम निकल सकता था कि वे अपनी अन्नदात्री प्रजा का दमन और शोषण करके अपने अहंकार का संतोष करें और भोग विलास

मे डूबे रहे। गंगासिहजी के जमाने में पुराने सेवकों की जायदादें जब्त हुई और उन्हें कठोर कारावास का दंड दिया गया और नये कार्यकर्त्ताओं को निर्वासित से और नवीन संगठन को वर्जित करार देकर दबाने की कोशिश की गई। बीकानेर की सार्वजनिक प्रवृत्तियों के साथ श्री मुक्ताप्रसादजी सक्सेना का अटूट सम्बन्ध रहा। ये यू० पी० के रहने वाले और बीकानेर में प्रमुख वकील थे। खूब कमाने पर भी उनका खाना पहनना बहुत सादा था। वे असहयोग काल से ही खादी पहनते थे। कांग्रेस का काम हो या सेवा संघ का, देशी राज्य प्रजा परिषद का प्रसंग हो या हरिजन सेवा का आयोजन हो, वे तन मन धन से सहायक होते थे। षड्यंत्र केस में वे देश भक्त अभियुक्तो के मुख्य कानूनी सलाहकार थे। इसी के पुरस्कार स्वरूप वे 'जंगलधर बादशाह' के कोप भाजन हुये। जिस मरुभूमि की उन्होने चिरकाल तक सेवा की थी वहां से बात की बात मे निकाल दिये गये। उनके जाने के बाद पं० नारायणदत्त और श्री रघुवरदयालजी वकील ने उनकी जगह ली तो उनके साथ भी 'बीकाणानाथ' का वैसा ही व्यवहार हुआ। महाराजा गंगासिहजी गंगा नहर बनाकर जरूर एक बड़ी रचनात्मक यादगार छोड़ गये।

प्रजा मंडल काल

इसे प्रजा मंडलों का काल कहा जा सकता है। इस काल में प्रान्त की राजनीति मे एक विशेष परिवर्तन हुआ। वह यह कि कार्यकर्त्ताओं की दृष्टि अपने अपने राज्यों की ओर लग गई। वहां के स्वाभाविक क्षेत्रों में उनके सेवा भाव को अधिक सन्तोष मिला और सीमित होने के कारण वे उन्हे अनुकूल भी पडे। इससे कांग्रेस का प्रान्तीय संगठन तो जरूर कमजोर हुआ और सार्वजनिक जीवन की प्रांतीय एक सूत्रता भी घटी, मगर स्थानीय जनता में जाग्रति बढ़ी और सब मिला कर राजस्थान का प्रजा-पक्ष सबल हुआ।

डोगरा-काण्ड

मेरे एकान्तवास का दुरुपयोग करके मेरे विरोधियों ने जब मुझ पर अनुचित आक्षेप करने वाले लेख अखबारों मे छापने शुरू किये तो मुझे मैदान में आना पड़ा। मैंने एक ओर 'नवज्योति' द्वारा उनके उत्तर देने का सिलसिला शुरू कर दिया और दूसरी ओर कांग्रेस के चुनावों मे उन्हे परास्त किया। इस प्रकार जब मैं १९३८ के आरम्भ मे अजमेर पहुंचा उससे पहले एक बड़ी घटना यह हो चुकी थी कि डोगरा नामक खुफ़िया पुलिस के डिप्टी सुपरडंट की हत्या का प्रयत्न हुआ। यह अफ़सर दिल्ली से राजस्थान के क्रांतिकारी दल को कुचलने के लिये भेजा गया था। उसी पर दल के कुछ युवको ने वार किया था। वह

मरा तो नहीं परन्तु सख्त घायल हुआ और खलील गौरी नामक एक स्थानीय अफ़सर भी चपेट में आये।

मीर मुम्ताज़ हुसैन

इस वारदात से ब्रिटिश सरकार की प्रतिष्ठा को बड़ी हानि पहुंची। इसलिये उसने डोगरा के बजाय मीर मुम्ताज़ हुसैन नामक एक ज्यादा होशियार डी. एस. पी. को भेजा। मीर साहब रंगीले आदमी थे, उनके खिलाफ़ चाल चलन के सिवाय रिश्वत की शिकायतें भी थीं। ये शिकायतें मेरे पत्र 'नवज्योति' में भी मेरे लौटने से पहले छपी थीं। मेरे अजमेर पहुंचने पर एक रोज़ रात को मीर साहब मेरे स्व० मित्र बैरिस्टर भगवानसिंहजी को लेकर आये और मुझसे 'नवज्योति' के लेखों की शिकायत की। मुझे इतना मालूम हो गया था कि मीर साहब ने ज़िले भर में बड़ा रुआब गांठ रखा था और अंग्रेज़ अफ़सरों के सिवाय बाक़ी सब उनके दरबार में हाज़िरी देते थे। मैंने उनसे सीधा ही प्रश्न पूछ लिया: 'मीर साहब, माफ़ कीजिये, क्या सचमुच आप में ये दोनों कमज़ोरियां नहीं हैं ?' वे और बैरिस्टर साहब शायद इस दु:साहस के लिये तैयार नहीं थे। मीर साहब यह कह कर चले गये: 'इसका जवाब अगली मुलाकात में दूंगा।' मैंने इधर उधर तलाश किया तो पता चला कि दोनों शिकायतों में सार है। अगली बार जब वे मिले तो बोले: 'आयन्दा आपको शिकायत का मौका नहीं मिलेगा।' मैंने इस आश्वासन से संतोष कर लिया। फिर तो मीर साहब का यह हाल रहा कि जब तक वे अजमेर में रहे मेरे सुझावों पर बराबर ध्यान देकर लोगों के कष्ट निवारण करते और कराते रहे और हमारे खिलाफ़ सरकार ज़मानत मांगने या गिरफ़्तार करने वग़ैरा की कोई कार्यवाही करती तो उसकी सूचना मुझे पहले ही भेज देते। एक बार तो यहां तक हुआ कि 'नवज्योति' से ३००० रुपये की ज़मानत मांगी गई तो उसका और कुछ प्रबन्ध न हो सकने पर वह भी मीर साहब ने ही किया।

विरोधी प्रयत्न विफल

एक और घटना में भी उनके मित्र भाव का प्रमाण मिला। मेरे विरोधियों ने मुझे अजमेर-मेरवाड़ा पुलिस से उलझाने की योजना बनाई। एक नामधारी संन्यासी से जो सरकार का गुप्तचर माना जाता था पुलिस के विरुद्ध एक कड़ा लेख लिखवाकर उसी गुट के एक मुसलमान वकील के हस्ताक्षरों से मेरे पास भिजवाया गया। मैंने लेखक को कहा कि अगर मेरे विरोधी यानी आपके हिमायती अपने अखबार में छापने से इन्कार कर देंगे तो मैं छाप दूंगा। ऐसा ही हुआ। मैंने लेख की नक़ल अंग्रेज़ पुलिस कप्तान को भेजकर उन्हें लिख दिया

कि अगर एक हफ़्ते में कोई जवाब नहीं आया तो लेख छाप दिया जायगा। अंग्रेज कहां परवाह करते ? मैंने एक सप्ताह बाद लेख बड़े-बड़े शीर्षकों से प्रकाशित कर दिया। कमिश्नर ने मुकद्दमा चलाने के लिये कानूनी सलाह मांगली। बीच में ही मीर साहब ने नोट भेज दिया कि चूंकी सम्पादक ने पहले हमें सफ़ाई का मौक़ा देकर सद्‌भाव प्रकट कर दिया है, इसलिये मान हानि का केस नही चल सकता। सरकारी वकील ने भी यही राय दी। मेरे विरोधियों की योजना मिट्टी में मिल गई और 'नवज्योति' की प्रतिष्ठा और बढ़ गई।

अंग्रेज़ों की रिश्वतख़ोरी

अजमेर के रेल्वे कारख़ाने मे रिश्वत की गंदगी भी ख़ूब पाई गई। मेरे पास सैकड़ों मामले ऐसे आये जिनसे मालूम होता था कि रियासतों की तरह यहा भी हर नियुक्ति, तरक्की और तब्दीली के लिये रिश्वत की रकमें बंधी हुई हैं। यह भारी भारी वेतन पाने वाले अधगोरे और गोरे अफ़सरों मे सब से अधिक देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। मैं उस समय के लोको एण्ड कैरेज सुपरडंट से कई बार मिला। उन्होंने सहानुभूति दिखाई। फिर तो जिन जिन अफ़सरों के खिलाफ विशेष रूप से शिकायतें थी उन सब से मुलाक़ात हुई। मुझे यह देख कर सानंद आश्चर्य हुआ कि अधिकांश ने अपना दोष स्वीकार किया और भविष्य के लिये शुद्ध रहने का वायदा किया। जिन दो आदमियों ने ऐसा नही किया उनमें एक वर्क्स मैनेजर को सप्ताह भर में नौकरी छोड़ कर विलायत जाना पड़ा और दूसरे का दर्जा घटा दिया गया। दुर्भाग्यवश इसी समय सुपरडंट साहब का तबादला हो गया और नये साहब ने नई नीति ग्रहण की।

एक अनोखी मिसाल

इन मामलों में एक असाधारण था। रेलवे कारखाने के उच्चाधिकारी के दफ्तर का बड़ा बाबू मि० बार्टलेट अंग्रेज था। उसने रिश्वत लेने का अनोखा ढंग निकाल रखा था। नौकरी के लिये जितने प्रार्थना पत्र आते उन सब से रुपये ले लेता और सारी अर्ज़ियां बड़े साहब के सामने रख देता। जो मंजूर हो जाती उनकी रकमे रख कर बाकी लौटा देता। इस तरह कोई भी सिफ़ारिश या कोशिश किये बिना उसे हज़ारों रुपये मासिक की आय हो जाती थी। मेरे पास शिकायत आई तो मैंने उससे लिखकर या मिलकर एक सप्ताह के भीतर सफ़ाई देने का अनुरोध किया। उसके बुलावे पर मैं उसके बंगले पर गया। वह जवान आदमी था। मैंने उसके कंधे पर हाथ रख कर कहा, 'आप ईसा के भक्त हैं, मैं गांधीजी का हूं। हम एक ही मार्ग के पथिक हैं। आपमे यह

मरा तो नहीं परन्तु सख्त घायल हुआ और खलील गौरी नामक एक स्थानीय अफ़सर भी चपेट में आये।

मीर मुम्ताज़ हुसैन

इस वारदात से ब्रिटिश सरकार की प्रतिष्ठा को बड़ी हानि पहुंची। इसलिये उसने डोगरा के बजाय मीर मुम्ताज़ हुसैन नामक एक ज्यादा होशियार डी. एस. पी. को भेजा। मीर साहब रंगीले आदमी थे, उनके खिलाफ़ चाल चलन के सिवाय रिश्वत की शिकायतें भी थीं। ये शिकायतें मेरे पत्र 'नवज्योति' में भी मेरे लौटने से पहले छपी थी। मेरे अजमेर पहुंचने पर एक रोज़ रात को मीर साहब मेरे स्व० मित्र बैरिस्टर भगवानसिंहजी को लेकर आये और मुझसे 'नवज्योति' के लेखों की शिकायत की। मुझे इतना मालूम हो गया था कि मीर साहब ने जिले भर में बड़ा दबाव गांठ रखा था और अंग्रेज अफ़सरों के सिवाय बाकी सब उनके दरबार मे हाजिरी देते थे। मैंने उनसे सीधा ही प्रश्न पूछ लिया: 'मीर साहब, माफ़ कीजिये, क्या सचमुच आप मे ये दोनों कमजोरियां नही हैं?' वे और बैरिस्टर साहब शायद इस दुःसाहस के लिये तैयार नहीं थे। मीर साहब यह कह कर चले गये: 'इसका जवाब अगली मुलाकात में दूंगा।' मैंने इधर उधर तलाश किया तो पता चला कि दोनों शिकायतों मे सार है। अगली बार जब वे मिले तो बोले: 'आयन्दा आपको शिकायत का मौका नही मिलेगा।' मैंने इस आश्वासन से संतोष कर लिया। फिर तो मीर साहब का यह हाल रहा कि जब तक वे अजमेर में रहे मेरे सुझावों पर बराबर ध्यान देकर लोगों के कष्ट निवारण करते और कराते रहे और हमारे खिलाफ़ सरकार जमानत मांगने या गिरफ़्तार करने वगैरा की कोई कार्यवाही करती तो उसकी सूचना मुझे पहले ही भेज देते। एक बार तो यहां तक हुआ कि 'नवज्योति' से ३००० रुपये की जमानत मांगी गई तो उसका और कुछ प्रबन्ध न हो सकने पर वह भी मीर साहब ने ही किया।

विरोधी प्रयत्न विफल

एक और घटना में भी उनके मित्र भाव का प्रमाण मिला। मेरे विरोधियों ने मुझे अजमेर-मेरवाड़ा पुलिस से उलझाने की योजना बनाई। एक नामधारी संन्यासी से जो सरकार का गुप्तचर माना जाता था पुलिस के विरुद्ध एक कड़ा लेख लिखवाकर उसी गुट के एक मुसलमान वकील के हस्ताक्षरों से मेरे पास भिजवाया गया। मैंने लेखक को कहा कि अगर मेरे विरोधी यानी आपके हिमायती अपने अखबार में छापने से इन्कार कर देंगे तो मैं छाप दूंगा। ऐसा ही हुआ। मैंने लेख की नक़ल अंग्रेज पुलिस कप्तान को भेजकर उन्हें लिख दिया

कि अगर एक हफ़्ते में कोई जवाब नहीं आया तो लेख छाप दिया जायगा। अंग्रेज कहां परवाह करते ? मैंने एक सप्ताह बाद लेख बड़े-बड़े शीर्षकों से प्रकाशित कर दिया। कमिश्नर ने मुकद्दमा चलाने के लिये कानूनी सलाह मांगली। बीच में ही मीर साहब ने नोट भेज दिया कि चूंकी सम्पादक ने पहले हमें सफ़ाई का मौका देकर सद्भाव प्रकट कर दिया है, इसलिये मान हानि का केस नहीं चल सकता। सरकारी वकील ने भी यही राय दी। मेरे विरोधियों की योजना मिट्टी में मिल गई और 'नवज्योति' की प्रतिष्ठा और बढ़ गई।

अंग्रेज़ों की रिश्वतखोरी

अजमेर के रेल्वे कारखाने में रिश्वत की गंदगी भी खूब पाई गई। मेरे पास सेंकड़ों मामले ऐसे आये जिनसे मालूम होता था कि रियासतों की तरह यहा भी हर नियुक्ति, तरक्क़ी और तब्दीली के लिये रिश्वत की रक़में बंधी हुई हैं। यह भारी भारी वेतन पाने वाले अधगोरे और गोरे अफ़सरों में सब से अधिक देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। मैं उस समय के लोको एण्ड कैरेज सुपरडंट से कई बार मिला। उन्होंने सहानुभूति दिखाई। फिर तो जिन जिन अफ़सरों के खिलाफ़ विशेष रूप से शिकायतें थी उन सब से मुलाक़ात हुई। मुझे यह देख कर सानंद आश्चर्य हुआ कि अधिकाश ने अपना दोष स्वीकार किया और भविष्य के लिये शुद्ध रहने का वायदा किया। जिन दो आदमियों ने ऐसा नहीं किया उनमे एक वर्क्स मैनेजर को सप्ताह भर मे नौकरी छोड़ कर विलायत जाना पड़ा और दूसरे का दर्जा घटा दिया गया। दुर्भाग्यवश इसी समय सुपरडंट साहब का तबादला हो गया और नये साहब ने नई नीति ग्रहण की।

एक अनोखी मिसाल

इन मामलों में एक असाधारण था। रेलवे कारखाने के उच्चाधिकारी के दफ़्तर का बड़ा बाबू मि० बार्टलेट अंग्रेज था। उसने रिश्वत लेने का अनोखा ढंग निकाल रखा था। नौकरी के लिये जितने प्रार्थना पत्र आते उन सब से रुपये ले लेता और सारी अर्जियां बड़े साहब के सामने रख देता। जो मंजूर हो जाती उनकी रक़में रख कर बाक़ी लौटा देता। इस तरह कोई भी सिफ़ारिश या कोशिश किये बिना उसे हजारों रुपये मासिक की आय हो जाती थी। मेरे पास शिकायत आई तो मैंने उससे लिखकर या मिलकर एक सप्ताह के भीतर सफ़ाई देने का अनुरोध किया। उसके बुलावे पर मैं उसके बंगले पर गया। वह जवान आदमी था। मैंने उसके कंधे पर हाथ रख कर कहा, 'आप ईसा के भक्त है, मैं गांधीजी का हूं। हम एक ही मार्ग के पथिक हैं। आपमें यह

कमजोरी हो तो मान लीजिये, आपकी हानि नहीं होगी।' इस पर उसकी आंखों से आंसू गिरने लगे। यह देख कर दरवाजे की आड़ में खड़ी उसकी पत्नी सामने आई और बोली : 'मि० चौधरी, मेरे पति जब भारत आये थे तब बहुत अच्छे आदमी थे, लेकिन आपके लोगों ने डालियों में नोट छुपाकर देने शुरू कर दिये और इन्हें बिगाड़ दिया। आप इनसे यह बुराई छुड़ा देंगे तो हम जीवनभर आपका अहसान मानेंगे।' दूसरे दिन उसका मेरे पास पत्र आया कि इस महीने में मैंने जितना रुपया रिश्वत का लिया था वह सब लौटा दिया है!

म्युनिसिपल चुनाव

कांग्रेस की प्रवृत्तियों में इस समय में प्रान्तीय कार्यालय तो क्रियाशील नहीं रहा, मगर नगर कमेटी ने प्रचार कार्य सुचारु रूप से किया। उस की तरफ से विशेष कार्य यह हुआ कि कांग्रेस के नाम पर अजमेर में म्युनिसिपल चुनाव लड़ा गया। उसमें सफलता भी खासी मिली। मुट्ठी भर आदमियों ने अच्छा काम किया और नाम कमाया। कांग्रेस म्युनिसिपल दल के प्रमुख तो श्री कृष्णगोपाल गर्ग थे, मगर उसके नेता पं० दयाशंकर भार्गव के सौजन्य की, मास्टर चन्द्रगुप्तजी की शिक्षण-विशेषज्ञता की और श्री दत्तात्रेय वाब्ले की वक्तृत्व-शक्ति की छाप भी अच्छी पड़ी। इस अर्से में अजमेर की राजनीति में कुछ नये तत्वों का प्रवेश हुआ। श्री मूलचन्द असावा तीसरे स्थानीय वकील निकले जिन्होंने राष्ट्रीय संग्राम में भाग लिया। वे मेवाड़ प्रजा मंडल के सत्याग्रह में, अजमेर के युद्ध विरोधी व्यक्तिगत सत्याग्रह में और फिर नजरबन्दी काल में कैद हुये। वे अंग्रेजी के अच्छे लेखक हैं। मौलवी अब्दुल शकूर मौलाना मुईनुद्दीन साहब के शागिर्दों में हैं। साफ दिल के आदमी और जोरदार वक्ता हैं। डा० मुकर्जी भावुक बंगाली ठहरे। उन्होंने देश सेवा की शुरुआत काफी जोश के साथ की और समय व धन भी काफी लगाया। लेकिन नेतृत्व के गुण श्री ज्वालाप्रसाद शर्मा में अधिक थे। वे लम्बी नजरबन्दी भुगत कर आये। इनकी लगन और संगठन-शक्ति का पता उस समय लगा जब १९४१ में इन्होंने स्थानीय रेल्वे कर्मचारियों की प्रभावशाली यूनियन कायम की।

ब्रिटेन की हठधर्मी

सन् १९३९ के सितम्बर की शुरुआत में दूसरा महायुद्ध छिड़ गया। ब्रिटिश सरकार ने यह दावा किया कि वह संसार की स्वतंत्रता के लिये लड़ रही है। कांग्रेस ने इस दावे को कसौटी पर कसा और मांग की कि ब्रिटेन हिन्दुस्तान को आजादी देकर अपनी नेकनीयती साबित करे। ब्रिटिश सरकार इस परीक्षा में फेल हुई। कांग्रेस ने उसे काफी मौका देकर पहले कदम के तौर पर अपने सारे

प्रान्तीय मंत्रिमंडलों से त्याग पत्र दिलवाये। इस पर भी अंग्रेजों के स्वार्थ ने उनके विवेक को जागृत नही होने दिया। अन्त मे महात्माजी के नेतृत्व में कांग्रेस की तरफ़ से देशव्यापी व्यक्तिगत सत्याग्रह जारी किया गया। उस समय हमारे प्रान्त की कांग्रेसी राजनीति की यह स्थिति थी कि 'राजस्थान' पत्र अजमेर से उठ कर अहमदाबाद चला गया था, सर्वश्री कृष्णगोपाल गर्ग, बाबा नृसिंहदास और जयनारायणजी व्यास या तो उदासीन होकर या कार्यक्षेत्र बदल कर अन्यत्र चले गये थे, शंकरलालजी वर्मा और शोभालालजी गुप्त दिल्ली में पत्रकार हो गये थे। कोई आश्चर्य नही कि व्यक्तिगत सत्याग्रह में प्रमुख आदमियों मे से भी थोडो ने ही भाग लिया और उसका क्रम जारी रखने के लिये एक दो के सिवाय कोई भी दुबारा सामने नही आया।

सत्वहीन नेतृत्व

हालांकि जिन लोगों को कांग्रेस कार्य मे बाधक होने के दोषी ठहराने की कुछ हल्कों में प्रथा सी पड़ गई थी, वे सब के सब अजमेर मेरवाड़े की राजनीति और भौगोलिक सीमा के बाहर चले गये थे, फिर भी न कोई खास काम हुआ, न आपसी कलह ही मिटी। गरज यह कि अगस्त १९४२ का अन्तिम स्वाधीनता संग्राम छिड़ने से पहले इस प्रान्त का कांग्रेस संगठन अत्यन्त दुर्बल हो चुका था। होता भी क्यों नही ? उसके तत्कालीन कर्णधारों की शक्ति आपसी संघर्ष से क्षीण हो गई थी। पथिकजी अपनी सेवाभूमि राजस्थान से निराश होकर अपनी जन्मस्थली यू०पी० मे चले गये थे। सेठ जमनालालजी स्वर्गवासी हो चुके थे। उनका सेवामय जीवन जितना सफल, सम्पन्न और गौरवशाली रहा था उनका निधन उतना ही आकस्मिक, दुखदाई और देश के लिये आघात रूप हुआ था। पं० अर्जुनलालजी सेठी अज्ञात अवस्था में ही चल बसे थे। सार्वजनिक जीवन के कटु अनुभवों ने उनके उग्र स्वभाव पर इतना जबर्दस्त आघात किया था कि उनके व्यवहार से वे पहचाने भी नही जा सकते थे कि वे राजस्थान की राष्ट्रीयता के जनक थे। जिन्दगी के आखिरी दिनों में वो धर्म, कर्म और विचार से वे सूफ़ी बन गये थे। जो लोग बाकी रहे उनमें से अधिकाश कोरी चर्चाएं करने, कानूनी बारीकियां निकालने और आपस में रूठे हुओ को मनाने मे अधिक दिलचस्पी लेते रहे। सरकार से लड़ने के लिये या जनता की सेवा के लिये सार्वजनिक शक्तियों को संगठित करने की उनमें या तो रुचि कम हो गई थी या क्षमता ही बहुत थोड़ी रह गई थी।

पन्द्रह सेवा ग्राम आश्रम में

शायद अक्टूबर १९३९ में मैं फिर सपरिवार सेवाग्राम चला गया और फ़रवरी १९४२ तक बापू के सान्निध्य में रहा। इस अवधि में अनेक प्रकार के अनुभव हैं। उनमें से कुछ विशेष उल्लेखनीय हैं।

व्यक्तिगत जीवन की शुद्धि

एक रोज सैर के समय मैंने बापू से पूछा, "आप छोटे कार्यकर्ताओं के साथ तो इतनी कठोरता से पेश आते हैं परन्तु बड़े लोगों के प्रति बहुत उदार क्यों रहते हैं? उदाहरणार्थ, अजमेर मेरवाड़ा में कुछ अर्सा हुआ एक राजनैतिक सम्मेलन का सभापतित्व करने ''''''आये थे। वे उस मौके पर भी शराब पीते देखे गये। फिर भी आप उन्हें कांग्रेस की कार्य समिति के सदस्य बनाये हुए हैं।" गांधीजी ने दुःखी होकर कहा, "'''''' तो मद्यपान ही नहीं करते, दुश्चरित्र भी हैं। मैंने राजनीति में निजी जीवन की शुद्धता लाने की कोशिश की मगर हमारे यहां भी पश्चिम की हवा फैल रही है और व्यक्तिगत जीवन और सार्वजनिक जीवन को अलग अलग मानने की परिपाटी पड़ रही है। इसलिये जवाहरलाल जैसे बड़े-बड़े कार्यकर्ता भी इस मामले में मेरा कड़ा विरोध करते हैं। बम्बई के एक बड़े नेता शाम को शराब की बोतल और वेश्या को लेकर बग्घी में सैर को निकलते थे। मगर किसी की हिम्मत नहीं होती थी कि उन्हें कुछ भी कहे, क्योंकि वे दबंग आदमी तो थे ही, उस समय जनता के प्रमुख सेवक भी थे। पुरानी बातों को छोड़ दो। उस दिन व्यक्तिगत सत्याग्रह के लिये मैंने विनोबा को प्रथम सैनिक चुना और उनके परिचय में लिखा कि उन्होंने कभी किसी स्त्री को छुआ तक नहीं है तो मुझे यह वाक्य निकाल देना पड़ा क्योंकि जवाहरलाल ने विरोध किया!"

माणिक्यलालजी की रिहाई

एक रात को १० बजे डाक्टर सुशीला नय्यर ने मुझे जगा कर कहा, 'बापू याद कर रहे हैं।' मैं पहुंचा तो एक तार हाथ में देकर पूछा, 'इन्हें जानते हो? इस मामले में पड़ूं?' तार माणिक्यलालजी वर्मा की पत्नी नारायणी बहन का था। वे उन दिनों मेवाड़ राज्य के कैदी और बीमार थे। तार में बापू से दखल देने को कहा गया था। मैंने कहा, 'माणिक्यलालजी अर्से तक मेरे साथी रहे हैं। पथिकजी के शिष्य और मुख्य सहायक थे। किसानों और ग़रीबों के

सच्चे सेवक हैं। आपको जरूर मदद देनी चाहिये।" दूसरे दिन गांधीजी ने मेवाड़ के दीवान को तार दिया कि माणिक्यलाल को छोड़ देने की मेरी सलाह है। एक सप्ताह के भीतर वे रिहा कर दिये गये।

बड़ों के छोटे दिल

अमृतलाल भाई सेठ जापान से लौट कर गांधीजी से मिलने आये थे। मुझसे भी मिले। बापूजी को पता लगा तो उन्होंने मुझसे कहा कि इस आदमी से सम्बन्ध रखना अच्छा नहीं। मैंने उत्तर दिया, 'देशी राज्यों के आन्दोलन में हम निकट के साथी रहे हैं।' तब बापू ने मुझे सरदार पटेल से परिचय करा कर अमृतलाल भाई के बारे में बात करने को कहा। स्व० महादेव भाई देसाई के मकान में मेरी सरदार से भेंट हुई। महादेव भाई और आचार्य कृपलानी भी मौजूद थे। सरदार ने और महादेव भाई ने भी जिन हल्के शब्दों में अमृतलाल भाई और उनके साथी कक्कल भाई कोठारी को याद किया वह मुझे अच्छा नहीं लगा और मैंने कह दिया कि 'मैं अमृतलाल भाई वगैरा से स्नेह संबंध नहीं तोड़ सकता।' इस पर कृपलानीजी ने मेरे बारे में महादेव भाई से पूछा, 'यह कौन आदमी है?' यह मुझसे सहन नहीं हुआ और मैंने भी महादेव भाई से कृपलानीजी के लिये यही प्रश्न पूछ लिया।

गरीबों का दर्द

व्यक्तिगत सत्याग्रह छिड़ने से पहले बापू को वायसराय का बुलावा आया था। प्रस्ताव यह था कि गांधीजी हवाई जहाज या स्पेशल ट्रेन से पहुचें। बापू मामूली रेलगाड़ी से गये थे। उस समय उन्होंने ये उद्गार प्रकट किये थे, "हवाई जहाज या विशेष रेलगाड़ी के खर्च का भार तो गरीबों पर ही पड़ेगा। मैं एक दिन देर से पहुचा तो कोई प्रलय नहीं हो जायगा। कालचक्र तो चलता ही रहेगा और गति बढ़ जाने से संसार का कोई-भला नहीं हुआ है। फिर क्यों एक नई व्याधि मोल लूं?"

हिंसा का अवतार

बापू का जन्म दिन था। महिला आश्रम की छात्राएं मिलने आई थीं। उनमें प्रवचन करते हुए बापू ने कहा, "मुझे अहिंसा की शक्ति में अटूट श्रद्धा है और विश्वास है कि सत्याग्रह किसी दिन जरूर अंग्रेजों का हृदय परिवर्तन कर देगा। राजाओं का तो करेगा ही। मगर जिन्नाह साहब तो हिंसा की मूर्ति हैं। उनका दिल बदलने की आशा नहीं होती।" यह सुनकर सबका जी दहल गया। बाद के हालात ने साबित कर दिया कि गांधीजी मानव-चरित्र को कितना अच्छी तरह पहचानते थे।

मीरां-पृथ्वीसिंह प्रकरण

प्रसिद्ध क्रान्तिकारी पृथ्वीसिंहजी के अद्भुत इतिहास और वीरोचित गुणों पर मुग्ध होकर मीरां बहन उनसे शादी करने पर तुल गईं। बापू को यह प्रस्ताव अच्छा नहीं लगा। मीरां बहन को इससे आघात पहुंचा और उन्होंने खाना पीना छोड़ कर रुदन का आश्रय लिया। मैं मीरा बहन को हिन्दी पढाता था और उनसे घनिष्ठता भी थी। उन्होंने अपनी सारी बात मुझे सुनाई तो मैंने बापू के सामने उनकी वकालत करनी चाही। बापू बोले, "यह प्रेम नही विकार है। मीरा को इस मूर्च्छा मे इतना भी भान नही है कि पृथ्वीसिंह खुद मीरा से विवाह करने को राजी नही है।" बापू की बात सही थी और इसी कारण यह काण्ड वही समाप्त हो गया।

बापू-जयनारायण भेंट

स्वर्गीय जयनारायणजी व्यास जोधपुर राज्य के तत्कालीन मुख्यमंत्री कर्नल फ़ील्ड के सताये हुए थे। जब बहुत तंग आ गये तो बापू का मार्गदर्शन लेने के लिये आना चाहते थे। बापू से उनका परिचय नही था, इसलिये मुलाकात मुझे तय करनी पडी। व्यासजी सेवाग्राम आये और एक दो दिन रह कर बापू से परामर्श करके चले गये। विदाई भेंट के तौर पर उन्होने एक कविता बनाकर मेरे द्वारा बापू तक पहुंचाई। बापू ने पढ कर कहा: "कविता तो अच्छी है, मगर दरिद्रनारायण की भूख इससे नही मिटेगी। मुझे तो जयनारायण एक घुण्डी सूत कात कर देते तो अच्छा लगता।"

'तुम्हारे लिये भी' ?

बापू और बा सेवाग्राम मे अलग अलग झोंपड़ियों मे रहते थे। एक बार बा बीमार हुईं तो बापू नियमित रूप से दोनो समय उन्हें देखने जाते थे। एक दिन किसी कारण शाम को नाग़ा हो गई। दूसरे दिन पहुचे तो मैं भी साथ था। बापू ने पूछा, "क्यों बा, क्या हाल है?" बा बोली, "आपकी बला से। आप तो महात्मा हैं। आपको दुनियां की चिन्ता है, मेरी क्या चिन्ता होगी?" बापू ने बा के सिर पर हाथ रख कर बालों में उंगलिया डाल कर कहा, "तुम्हारे लिये भी, बा, महात्मा हूं?"

महारावलजी का दुर्भाग्य

डूंगरपुर के महारावल लक्ष्मणसिंहजी से मेरे बड़े अच्छे संबंध रहे हैं। मैंने उन्हे एक बार औंध की सी मिसाल राजस्थान में भी क़ायम करने की बात कही

और बापू से मिलने का सुझाव दिया। उन्होंने स्वागत किया और मैंने बापू से उनकी भेंट की व्यवस्था करली। चादा (मध्यप्रदेश) के जंगलों में शिकार से लौटते हुए महारावल साहब का सेवाग्राम आना तय हुआ। मगर शिकार में बीकानेर के स्व० महाराजा गंगासिहजी को उनके इस इरादे का पता लग गया तो उन्होंने उल्टी सीधी पट्टी पढा कर उन्हें नही आने दिया। यह दुर्भाग्यपूर्ण घटना न होती तो राजस्थान मे आगे चल कर पैदा होने वाली कई उलझनें टल जाती।

पथिक-बापू पत्र व्यवहार

पथिकजी का बापू के साथ सम्पर्क बहुत अर्से से छूट गया था। वे उसे ताजा करना चाहते थे। सीधा लिखने में संकोच हुआ तो मुझे बापू से मिलने का समय तय करने को पथिकजी ने लिखा। लेकिन खुद पथिकजी ही किसी कारणवश न आ सके। तब बापूजी ने स्वयं पथिकजी को यह पत्र लिखा था:

भाई पथिकजी,

....मेरे भाव मे कुछ भी भेद नही हुआ है। होने से मैं छुपा नही सकता हूं। आप जब चाहे तब इधर आ सकते हैं!.......

आपका
मोहनदास

बारहठजी आकर्षित

ठाकुर केसरीसिहजी बारहठ को मेरे बापू के पास रहने का पता लगा तो उन्होंने बापू के निकट रह कर उनके आदेशानुसार सेवा करने मे बाकी उम्र बिताने की इच्छा प्रकट की। मैंने बापू से जिक्र किया तो बोले, "केसरीसिहजी आयेंगे तो मुझे खुशी होगी। उनके उत्कृष्ट जेल जीवन का मुझसे सर तेजबहादुर सप्रू ने जिक्र किया था। मगर यहां के दैनिक जीवन का पालन तो सभी के लिये आवश्यक है।" मैंने ठाकुर साहब को सूचना दी और उनका उत्तर भी आ गया कि वे आश्रम के सब नियमों की सहर्ष पाबन्दी करेंगे। परन्तु भगवान को कुछ और ही मंजूर था। ठाकुर साहब बीमार हो गये और थोड़े अर्से बाद चल बसे।

रोगी सेवा का आनन्द

परचुरे शास्त्री कुष्ठ रोग से पीड़ित होकर बापू के बुलावे पर सेवाग्राम में आश्रम से दूर एक कुटिया में रहते थे। बापू रोज उनके घाव अपने हाथ से धोते थे। एक दिन शास्त्रीजी को पंखा करने की बारी मेरी थी। दोपहर का वक्त और मई जून का महीना था। बापू खाना खाते ही आ पहुंचे। तब शास्त्रीजी ने हाथ

जोड़ कर कहा, "बापू, आपके दर्शन करने से ही मेरा दर्द दूर हो जाता है। आप ऐसे प्रतिकूल समय मे आने का कष्ट न किया कीजिये।" बापू बोले, "शास्त्रीजी, आप बड़े स्वार्थी हैं। मुझे आनंद नही लेने देंगे?" बापू को सचमुच रोगियों की सेवा मे जितना सुख अनुभव होता था शायद ही किसी और काम में होता हो।

सुभद्रा से एकान्त

बापू कई लोगों से एकान्त में बातें करते थे। एक दिन मेरी छः वर्ष की लड़की सुभद्रा को भी ऐसी ही मुलाक़ात की इच्छा हुई। बापू ने दूसरे दिन ४ बजे शाम का समय दे दिया। परन्तु उन्हे यह ध्यान नही रहा कि उस वक्त कांग्रेस कार्यसमिति की बैठकें चल रही थी। सुभद्रा ठीक समय पर बापू की कुटिया मे उनके सामने जा खड़ी हुई। मैं वहीं था। लड़की को यो अचानक वहा देखकर नेताओ को कुछ आश्चर्य हुआ। परन्तु बापू की नजर पड़ते ही वे बोले, "अरी सुभद्रा, मैं तो भूल ही गया था।" और उसे लेकर बाहर बरामदे में चले गये। दो चार मिनिट मे वापस आ गये और नेताओ से कहा, "वचन तो वचन ही है और बच्चा हो या छोटे से छोटा आदमी हो तो भी उसे उतना ही महत्व देना चाहिये जो बड़े आदमी को दिया जाता है, क्योंकि उसमें भी वही परमात्मा निवास करता है जो बड़े आदमी के हृदय में विराजमान है।"

बापू के गुरु

बापू के कमरे मे एक कागज़ के पुट्ठे पर यह आदर्श वाक्य लिखा हुआ था :

"Do not negotiate when you are weak; keep silence when you are in temper."

(जब तक कमजोर हो समझौते की बात न करो; जब तक गुस्सा है चुप रहो) एक दिन मैं तख्ते को बहुत ध्यान से पढ रहा था तो मुझ से बोले, "यह वाक्य जितना सार्थक है उतना ही सरल है। परन्तु मेरे गुरु को भी जानते हो?" मैंने जवाब दिया, "जी नही", तब अपनी डेस्क की तरफ़ इशारा करके बोले, "वे देखो, एक नहीं मेरे तीन गुरु हैं।" उनका मतलब बन्दरों की तीन चीनी की मूर्तियो से था। उनमें से एक के दोनों हाथ कानों पर रखे हुए थे, दूसरे की आंखो पर और तीसरे के मुंह पर। बापू ने क्रमशः यह अर्थ समझाया कि बुराई न सुनो, बुराई न देखो और बुराई न कहो।

दो बड़े प्रस्ताव

इसी दौरान में दो बड़े प्रस्ताव मेरे सामने आये। एक तो था स्व० रामेश्वरी देवी नेहरू का। वे चाहती थीं कि मैं हरिजन सेवक संघ का महामंत्री पद संभाल लूं।

दूसरा अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद के अध्यक्ष डॉ॰ पट्टाभि और महा मंत्री बलवंत राय मेहता का था। इन का सुझाव यह था कि चूंकि बलवन्तराय काठियावाड़ की राजनीति में जा रहे है, इसलिये मै उनका स्थान ले लूं। मैंने दोनों ही प्रस्तावो के बारे मे बापू के आदेश लेने को कहा। सेठ जमनालालजी भी पक्ष में थे। बापू के ध्यान में शायद गो सेवा संघ का काम था। वे सहमत नही हुए, मगर यह कहा "रामनारायण चाहे तो मैं नही रोकूंगा।" मैंने साफ़ उत्तर दे दिया कि मेरे चाहने का प्रश्न ही नही। मेरी स्थिति तो यह है: 'सुपुर्दम् बतो माय ए खेशरा। तु दानी हिसाबे कमो बेशरा' (मैंने तो अपनी पूंजी तुझे सौंप दी है, कम ज्यादा का हिसाब तू जाने।)

बिगड़ी नीयत

आखिर जिस भीषण संघर्ष को टालते टालते हमारे राष्ट्र के कर्णधारों का नाको दम आ गया था वह उनके न चाहने पर भी हमारे विदेशी शासकों ने शुरू कर ही दिया। क्रिप्स की यात्रा असफल हो चुकी थी। उसके बाद गांधीजी को दृढ़ विश्वास हो गया कि ब्रिटिश राजनीतिज्ञ अपनी स्वार्थपूर्ण सत्ता छोड़ने को तैयार नही हैं और इसलिये हमारी आपसी फूट की आड लेकर हमे गुलाम बनाये रखने पर कटिबद्ध हैं। उन्हे यहा तक कह दिया गया कि वे मुस्लिम लीग या और किसी भी प्रजा पक्ष के दल के हाथो भारत की बागडोर सौंप दें। परन्तु अंग्रेज़ों ने साफ़ जवाब दे दिया कि क्रिप्स के प्रस्तावो से आगे युद्ध के दौरान में सरकार हरगिज़ नही जाना चाहती। इस पर गाधीजी अपने अहिंसा के अमर सिद्धान्त पर कायम रहते हुये यहा तक तैयार हो गये कि सरकार भारत की आजादी की घोषणा करदे तो हम भारत और संसार की स्वतंत्रता की रक्षा में धुरी राष्ट्रों के खिलाफ़ मित्र राष्ट्रों का साथ पूरी नैतिक शक्ति से देने को तैयार हैं। मगर कवि ने ठीक कहा है।

बिगड़ती है जिस वक्त ज़ालिम की नीयत।
नहीं काम आती दलील और हुज्जत॥

'भारत छोड़ो' का नारा

सरकार अपनी बात से टस से मस नही हुई। होती भी कैसे? भारत जैसी सोने की चिड़िया छोड़ने के बाद ब्रिटेन की हैसियत ही क्या रह जाती है? इतना अतुल धन, इतने असंख्य सैनिक और इतने बड़े साम्राज्य से मिलने वाली प्रतिष्ठा फिर उसके पास कहा से आती? अन्त में मजबूर होकर गांधीजी को अंग्रेज़ो के सामने 'भारत छोड़ो' का नारा बुलन्द करना पड़ा और कांग्रेस की महासमिति को

८ अगस्त सन् १९४२ को बम्बई में तदनुसार प्रस्ताव पास करना पड़ा। इस प्रस्ताव में कांग्रेस ने युद्ध सम्बन्धी अपनी नीति स्पष्ट करते हुए ब्रिटेन और संयुक्त राष्ट्रों को अपनी सद्भावना का विश्वास दिलाया, भारत की अल्पसंख्यक जातियों को आश्वासन दिया और वायसराय से समझौते का द्वार खुला रखा। अवश्य ही समझौता न होने पर सार्वजनिक सविनय आज्ञा भंग करने का निश्चय भी प्रकट किया गया।

क्रांति की ज्वाला

सरकार तो पहले से ही दमन पर तुली बैठी थी। उसने राजबन्दियों को नज़रबन्दी के नियम अप्रेल में ही ठीक ठाक करके तैयार कर रखे थे। ९ अगस्त को सारे देश में कांग्रेस जनों की एक साथ सामूहिक गिरफ़्तारियां शुरू हो गईं। इससे कांग्रेस न तो कार्यक्रम तैयार कर सकी और न जनता को कोई सूचनाएँ ही दे सकी। फिर भी सेनानायक गांधी की ललकार भारतवासियों के कानों पर पड़ चुकी थी कि उनकी मरजी के खिलाफ़ अंग्रेजों को यहां शासन करने का या रहने का कोई अधिकार नहीं है। यदि वे हठधर्मी करते हैं तो उस हालत में हर हिन्दुस्तानी का हक और फ़र्ज है कि उनकी हकूमत को असंभव बना देने के लिये अपनी सारी ताक़त लगा दे। फल यह हुआ कि नेताओं की गिरफ़्तारी के विरोध में देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक विद्रोह का दावानल फैल गया। यह कोई साधारण आन्दोलन नहीं था। इसमें राष्ट्र की आवाज़ तो एक थी, मगर वह प्रकट हुई अलग अलग तरह से। जिस तरह किसी समूहगान में मोटे और बारीक स्वरों का सामंजस्य होता है उसी तरह आज़ादी की यह आखिरी लड़ाई लड़ने में अलग अलग विचार के लोग शामिल तो हो गये, मगर लड़े अपने अपने ढंग से। जिनका अहिंसा पर विश्वास था उन्होंने सभाओं, भाषणों, परचों, जुलूसों आदि आज्ञा-भंग के कार्यक्रम पर अमल किया। जो हिंसा को विहित समझते थे उन्होंने बम और तमंचा संभाला। जनता ने रेल, तार, डाक और सरकारी साधनों को नष्ट करके उन्हें सरकार के उपयोगी न रहने देने का काम अंगीकार किया। विद्यार्थी तो एक तरह से इस युद्ध के प्रधान सचालक ही बन गये। देश में इस बार जैसी ज़बरदस्त हड़तालें, सभाएं, जुलूस और दूसरे

भी दमन का नंगा नाच दिखाया। ऑर्डिनेंस पर ऑर्डिनेंस जारी होते गये। जनता पर जगह जगह बेतहाशा गोलीबार किया गया। गावों पर धड़ाधड़ सामूहिक जुर्माने हुए। अनेक स्थानों में फ़ौजी शासन कायम किया गया।

अजमेर में मुर्दनी

अजमेर-मेरवाडा मे प्रथम हिन्दुस्तानी चीफ़ कमिश्नर के शब्दों में 'कोई उपद्रव नही हुआ।' शुरू शुरू मे थोड़े से साधारण कार्यकर्त्ता ग़ैर क़ानूनी कार्रवाइयों के अपराध पर दंडित होकर जरूर जेल पहुंचे। परन्तु बाद मे एक कुत्ता भी नही भौंका। जिस समय देश भर मे आग सी लगी हुई थी उस समय विद्यार्थियों की थोड़े दिन की हड़ताल के सिवाय न कोई सार्वजनिक प्रदर्शन हुआ और न सत्याग्रह। वस्तुतः पिछले कुछ वर्षों से प्रान्त की राजनीति का संचालन इतना असमर्थ और कांग्रेस संगठन इतना दुर्बल हो गया था कि सरकार को अपने दमन के शस्त्रागार मे से एक के सिवाय कोई दूसरा हथियार निकालने की जरूरत ही नही पड़ी। वह हथियार था नज़रबन्दी का। इसका प्रयोग उसने खुले हाथों किया। जिन पर कांग्रेस का काम करने या उससे सहानुभूति रखने का भी शक हुआ उन्ही को पुलिस पकड़ लाई। इनमे से कुछ तो बिल्कुल निर्दोष थे। उन्होने पहले किसी राजनैतिक आन्दोलन मे भाग नही लिया था और इस बार भी उनका कुछ करने धरने का इरादा नही था। थोडे से ऐसे लोग भी आये जिनके साथ पुलिस-कर्मचारियों का व्यक्तिगत द्वेष बताया जाता था। कोई ८५ आदमी नजरबन्द या कैदी बनकर जेल पहुंचे। हमारी बेबसी और पुलिस का हौसला यहा तक बढ़ा हुआ था कि उसे हरिभाऊजी जैसे प्रमुख कांग्रेसी को हथकड़ी पहना कर डाले मे कुछ संकोच नही हुआ और न किसी ने उसके खिलाफ़ आवाज उठाई। लेकिन जब बहुत से नज़र बन्द अपमानजनक शर्तों पर छूटने लगे, तब संदेह होता था कि शायद पुलिस ने अपनी कारगुजारी दिखाने और प्रांतीय संगठन की कमज़ोरी साबित करने के लिये ही अनाप-शनाप गिरफ़्तारियां की होगी। इस बार राजस्थान के अधिकांश रियासती कार्यकर्त्ता तो प्रजामंडलों के सिलसिले में अपने अपने राज्यों मे गिरफ़्तार हो ही चुके थे, इसलिये अजमेर जेल मे जो लोग पहुंचे, ज़िले के हिसाब से उनकी संख्या बड़ी ही समझनी चाहिये। इन नज़रबन्दों में ऐसे लोग भी थे जिन्हे पुलिस दूसरे प्रान्तों से पकड़ लाई थी।

सोलह लम्बी नज़र बन्दी

हम सब लोग अजमेर सेंट्रल जेल में रखे गये। सरकार ने पहले ही से हमारे लिये नई नियमावली घड़ रखी थी। उसके अनुसार सुपरडंट जेल को हमारे साथ स्याह सफ़ेद करने का अधिकार था। हम लोग बिना मुकदमा चलाये अपनी आज़ादी से वंचित किये गये थे और वह भी इसलिये नहीं कि हमने कोई हिंसात्मक या अहिंसात्मक अपराध किया हो, बल्कि सिर्फ़ इस आशंका पर कि हम विदेशी सरकार के युद्ध प्रयत्नों में कहीं बाधक न हो जायें। इस प्रकार हम निर्दोष थे। फिर भी हमसे वे जर्मन और जापानी अधिक सौभाग्यशाली थे जिन्होंने अंग्रेज़ों के धन और जन की हानि करने में कोई कसर नहीं रखी थी और सशस्त्र मुक़ाबला करते हुए इनके हाथ पड़ गये थे। उनके लिये प्रति व्यक्ति पन्द्रह बीस रुपया रोज़ भोजन पर ख़र्च होता था, उनके रहने के स्थान सब प्रकार आरामदेह थे और उनके साथ व्यवहार आदरपूर्ण था। इधर हमको शुरू में नौ आने और बाद में दुगनी तिगुनी महंगाई होने पर १) रुपया खाने का भत्ता दिया जाता था। हमें मामूली चोर डाकुओं के रहने की गिराइयों में रखा जाता था और हमारे और विदेशी युद्ध कैदियों के साथ होने वाले व्यवहार में ज़मीन आसमान का अन्तर था।

नियमों में जो सुविधाएं हमारे लिये दर्ज थी उनमें से चीफ़ कमिश्नर ने मुलाक़ात करने व बाहर से रुपया और पुस्तकें वग़ैरा मंगाने की सुविधाएं छीन ली थीं। अख़बारों की जिस छोटी सी सूची में से चुनाव करने का हमें अधिकार दिया गया था, वह एक गुप्त आज्ञा द्वारा रद्द कर दिया गया था। हमें सिर्फ़ अंग्रेज़ी का कांग्रेस विरोधी ऐंग्लो इंडियन दैनिक 'स्टेट्समैन', हिन्दी का नरम दैनिक 'भारत' और उर्दू का मुस्लिम लीगी रोज़ाना 'हक़' दिया गया था। साधारण कैदियों को दिये जाने वाले मासिक पत्र भी बहुत अर्से तक हमसे दूर रखे जाते थे। जेल के पुस्तकालय में हिन्दी के उपन्यास अवश्य ही अच्छे थे परन्तु और पुस्तकें न बहुत उपयोगी और ऊंचे दर्जे की थी और न संख्या में ही काफ़ी थी। सप्ताह में हम दो पत्र लिख सकते थे और चार पा सकते थे। लेकिन उनमें साधारण घर गृहस्थी और व्यापार धन्धे के सिवाय और कोई समाचार नहीं लिखे जा सकते थे। सेंसर बहुत कड़ा और अक्सर अयोग्य और मनमाना होता था। व्यायाम के लिये वालीबाल और फ़ुटबाल का नियमों में उल्लेख ज़रूर था, लेकिन फ़ुटबाल के लिये तो कोई मैदान ही जेल में नहीं था, वॉलीबाल के लिये भी किसी तरह खैंच सांच

कर काम चलाना पड़ता था। न हमें जेल के बाहर घूमने जाने की इजाजत थी और न सख्त गर्मी में बाहर सोने की सुविधा थी, हालांकि दूसरे प्रान्तों में यह सहूलियत दी गई थी। हम शाम के आठ नौ बजे से सुबह के छः बजे तक गिराइयों मे बन्द रखे जाते थे। खाना बनाने के लिये हमें जेल के पुराने कैदी दिये जाते थे। कपड़ा नियमों मे "ब" वर्ग का दिया जाने की बात थी मगर कपड़े और धोतियों के अलावा बाकी सब वस्त्र वही जेल के बने हुए मोटे झोटे दिये गये।

जेल में बर्ताव

हमारे सुपरडंट कर्नल खरेघाट नामक पारसी थे। वे उन आदमियों में से थे जो दोस्त के साथ दोस्ती, दुश्मन के साथ दुश्मनी और निरपेक्षों के साथ उदासीनता रखने मे उद्देश्य का ही ख़याल करते हैं, साधन की परवाह नही करते। जेलर श्री पशुपति नारायण आंखों का लिहाज रखने और हवा का रुख देख कर चलने वाले एक स्थानीय कायस्थ थे। ब्रिटिश सरकार के कड़े रवैये के मारे दोनों परेशान थे। नतीजा यह हुआ कि कुछ यार दोस्तों को छोड़ कर जेल कर्मचारियों के व्यवहार से किसी राजबन्दी को सन्तोष नही रहा। जेल में काम के लिहाज से कर्मचारियों की तादाद पहले से ही कम थी। हम लोगों के पहुंचने से उनका काम और भी बढ़ गया। इसके सिवाय जो लोग चोर और डाकुओं का बन्दोबस्त करने के खास तरीकों के आदी हो जाते हैं उनमें सभ्य देशभक्तों की व्यवस्था करने की योग्यता नहीं हो सकती। मजबूरन बेचारों को लल्लोचप्पो और बहानेबाजी से काम लेना पड़ता था। सबसे ज्यादा शिकायत इस बारे मे रही कि नजरबन्दों के लिये जो सामान खरीद कर आता था वह अच्छा नही होता, पूरा नही आता था और बहुत महंगा पड़ता था। इस बारे में ठेकेदारी पद्धति और उसके साथ लगी हुई स्वार्थ की गंदगी की बहुत कुछ जिम्मेदारी थी। खुद देशभक्तों का व्यवहार भी निर्दोष नहीं था। अधिकारियों से मेल जोल रख कर सुविधाएं लेना, छोटी छोटी बातों पर आपस में लड़ बैठना, मारपीट और गाली गलोच तक से न चूकना, देशभक्तों में भीतरी संगठन और अनुशासन न होना, नाजायज तरीकों से बाहरी दुनिया के साथ संबंध रखने की कोशिशें करना ऐसी बातें थीं जिनसे कई बार क्लेश हो जाता था और कर्मचारियों को तंग और बदनाम करने का मौका मिल जाता था।

दो भूख हड़तालें

इस नजरबन्दी में दो भूख हड़तालें भी हुईं। पहली श्री रमेशचन्द्र व्यास की नजरबन्दों के सामूहिक हितों व अधिकारों के संबंध में हुई और इस सिलसिले

में मुझे भी एक सप्ताह की कालकोठरी भुगतनी पड़ी। दूसरी भूख हड़ताल श्री बालकृष्ण कौल की थी। इसका कारण तो सामूहिक नहीं था, मगर वह काफ़ी लम्बी थी। इससे भी ज्यादा सानंद आश्चर्य तब हुआ जब मुझे हृदय का दौरा होने पर कई रोज तक श्री कौल ने ऐसी शुश्रूषा की जैसी कोई निकट से निकट संबंधी या मित्र भी नहीं कर सकता। मनुष्य के ऊपर से दिखने वाले सुविधा प्रिय जीवन और आपे वाले स्वभाव की तह मे भी कितना सेवाभाव छिपा रह सकता है!

कुछ अच्छे कर्मचारी

ऐसी हालत में जिन लोगों को अन्याय या अव्यवस्था बरदाश्त नहीं होती उन्हें अकेले दम लड़ना पड़ता और परिणाम से अधिक त्याग और कष्ट सहन करना पड़ता। फिर भी एक दो कर्मचारियों के बारे मे नज़रबन्दों को परम सन्तोष रहा। डा० विश्वास एक सच्चे ईसाई और साधु आदमी थे। जैल के छलकपट और झूठ पाखंड से डाक्टर साहब को अरुचि हुई और आखिर बेचारे तबादला करा कर चले गये। कम्पाउण्डर रामस्वरूप को देशभक्तों के साथ सहानुभूति रखने के संदेह में तब्दील करके किसी एकांत जगह भेज दिया गया। डिप्टी दुर्गाप्रसाद नज़रबन्दों का लिहाज़ रखते थे तो उन्हें श्री० ज्वालाप्रसाद के जेल तोड़ कर भागने में मदद देने का बहाना बनाकर जबरन पेंशन दे दी गई।

नज़रबंदों का व्यवहार

इन सब प्रतिकूलताओं के बीच में भी आम तौर पर राजबन्दी लोग प्रेम और शान्ति से रहते थे। बहुतों ने व्यायाम, खेल कूद और मालिश के ज़रिये शरीर सम्पत्ति बढ़ाई। अनेकों ने भिन्न भिन्न भाषाओं और विषयों का ज्ञान प्राप्त किया। समय समय पर व्याख्यानों द्वारा नये लोगों को विचार दिए गए। कुछ लोग धार्मिक पुस्तकों के अध्ययन और चर्चा में बराबर रस लेते रहे और थोड़े से व्यक्तियों ने मौलिक और अनुवाद के रूप में लिख कर समय और शक्ति का अच्छा उपयोग किया। प्रार्थना और राष्ट्रीय गायन बहुत अर्से तक दोनों समय नियमित होता था और आज़ादी दिवस, तिलक पुण्य तिथि, गांधी जयन्ती और राष्ट्रीय सप्ताह आदि राष्ट्रीय पर्व मनाये जाते थे। इस नज़रबन्दी के ज़माने मे सबसे खटकने वाली बात यह थी कि बरसो से कार्य करने वालों में से भी कइयों ने कांग्रेस की प्रतिष्ठा संबंधी अज्ञान का परिचय दिया। मालूम होता है हमारे बहुत से कार्यकर्त्ता अभी तक इस प्रारम्भिक सत्य को भी नहीं समझ पाये थे कि एक पराधीन देश को आज़ाद करने के लिए जो लोग मैदान में आते हैं उनके लिए कुछ बातों की तैयारी अनिवार्य होती है। उनमें सबसे प्रथम यह कि शत्रु के पैरों में

किसी हालत में भी सिर नहीं रखा जाय। दूसरे, सम्पत्ति और परिवार का मोह कम किया जाय। तीसरे, शारीरिक कष्ट सहन करने की शक्ति बढ़ाई जाय। चौथे, अपने परिवार के लोगों मे इतना संस्कार जरूर पैदा किया जाय कि उनके साधारण सुख दुख, रीति रिवाज और माया ममता के कारण देश भक्ति की तपस्या भंग न हो और उसके काम में बाधा न पड़े। हमारे राजबन्दियों में बहुत लोगों के व्यवहार से ऐसा प्रतीत हुआ कि वे इस चतुर्मुख तय्यारी के प्रति उदासीन रहे थे। फल यह हुआ कि पेरोल अर्थात शर्तबन्द रिहाई पर जाने में तो अच्छे अच्छे कांग्रेस कार्यकर्ताओं को भी संकोच नहीं हुआ और थोड़े ही दिन बाद माफ़ी मांग कर छूटने का क्रम आरम्भ हो गया। अजमेर मेरवाड़े के शासन का रवैया भी इस मामले में इतना अपमानजनक रहा कि कई व्यक्तियों को उसने अत्यन्त कड़ी शर्तें लगाकर लम्बे अर्से की कोशिशों के बाद पूरी तरह ज़लील करके ही रिहा किया। फिर तो वायुमंडल इतना बिगड़ा कि रिहाई की आशाएं बांधना और दिन रात उसकी चर्चायें करना एक मामूली बात हो गई और माफ़ी मांगने की शर्म की तेज़ी भी जाती रही। इस बार प्रान्त का राष्ट्रीय नेतृत्व इतना निःसत्व साबित हुआ कि कांग्रेस के सैनिकों को आत्मसमर्पण के पतनकारी मार्ग से रोकने के लिए कोई खास प्रयत्न नहीं किया गया। बल्कि एक दो मामलों में तो प्रोत्साहन दिया गया। सूत्र संचालकों की कोई सुनता ही न था। इतना संतोष जरूर था कि वे लोग खुद अपनी अयोग्यता स्वीकार करने लगे थे। फलस्वरूप करीब २५ राजनैतिक क़ैदी माफ़ी मांग कर छूट गये जिनमें से कुछ तो प्रमुख व्यक्ति थे।

शर्तबन्द रिहाइयां

सन् १६४३ के मध्य में जब ऊंची अदालतों ने भारत रक्षा क़ानून की २६वीं धारा को अनियमित क़रार देकर उसके मातहत हुई नज़रबन्दियों को ग़ैरक़ानूनी घोषित कर दिया तो वायसराय ने उस मनमाने क़ानून के शाब्दिक दोष तुरन्त दूर कर दिये क्योंकि ब्रिटिश शासन कानून की बारीकियों और न्याय के सिद्धान्तों पर स्थापित न होकर छल और बल पर क़ायम था। फिर भी सरकार ने यही नीति बनाली कि जिन्हें वह कम खतरनाक समझती थी उन्हे छोड़ दिया जाय। छूटने पर इन लोगों पर इस तरह की पाबन्दियां लगाई गईं कि वे एक जगह से दूसरी जगह जाने पर पुलिस को सूचना देंगे, कांग्रेस के आदमियों से सम्पर्क नहीं रखेंगे और राजनैतिक कार्यों में भाग नहीं लेंगे। दो आदमियों के सिवाय किसी ने ये शर्तें भंग नहीं कीं।

खादी की अवहेलना

इससे कम दुःखद यह बातें भी न थीं कि न केवल कांग्रेस कमेटियों के पदाधिकारी ही, बल्कि गांधीजी के विचार और कार्यक्रम को मानने वाले अधिकांश

कार्यकर्ता तक सब प्रकार की सुविधा होते हुए भी खादी न पहन कर मिल का कपड़ा पहनते रहे। उनमें से अधिकांश को संस्थाओं से पर्याप्त खर्च मिलता था या उनकी निजी आर्थिक-स्थिति ठीक थी।

दो फ़रारियां

नज़रबन्दी के ज़माने में श्री० ज्वालाप्रसाद और रघुराजसिंह का जेल से भाग निकलना एक ग़ैरमामूली घटना थी। इसमें ज्वालाप्रसाद के साहस और सूझ का विलक्षण परिचय तो मिला लेकिन सत्याग्रह की दृष्टि से यह कार्यक्रम आपत्तिजनक ही था। इन दोनों नौजवानों ने थालीबाल के लोहे के डंडो व मेज़ों की टागों को धोतियो से बांध कर एक निहायत मज़बूत सीढ़ी तैयार की, गिराई की छत के सूराख का पत्थर हटा कर उसमें से बाहर निकले और सीढ़ी के ज़रिये जेल की तीन दीवारें फाद कर रातो रात अजमेर मेरवाड़े की हद पार करके जयपुर जा पहुंचे।

बापू को पत्र

नज़रबन्दी के अन्तिम दिनों मे तीन घटनाएं ऐसी हुईं जिनका उल्लेख करना ज़रूरी है। पहली तो यह थी कि मैंने यह समझा था कि बापू ने जेल जाने से पहले कोई ऐसा सन्देश राष्ट्र को दिया है जिसके अनुसार तोड फोड़ के कामों की छूट दी गई है। इस धारणा के अनुसार मैंने सेवाग्राम से अजमेर गिरफ़्तारी के लिये प्रस्थान करते समय बंगलौर के एक छात्र को हिंसात्मक कार्यक्रम बना कर भेजा और उस पर अमल करने कराने को लिखा। इस संबंध मे २६ जुलाई १९४४ को अजमेर जेल से मैंने बापू को यह पत्र लिखा :

"परम पूज्य बापूजी,

श्री चरणों मे सादर प्रणाम!

कल के 'स्टेट्समैन' में आपका वह वक्तव्य देखा जो आपने सिंध के गृहमंत्री गज़दर साहब के कथन का खंडन करते हुए दिया है। उसमे आपने कहा है कि 'मैं तोड़-फोड़ और इसी तरह के अन्य कामों के प्रति विरोध असंदिग्ध रूप से दोहराता हूं।' आपके इस बयान के कारण ही मैं यह पत्र लिख रहा हूं।

मैं १ अगस्त, १९४२ को बंगलौर से सेवाग्राम पहुंचा था। नियत अवधि से लगभग ३ सप्ताह पहले आ जाने का कारण यही था कि हो सके तो आपकी संभावित गिरफ़्तारी से पहले आपसे भेंट करलूं। मेरा विचार तो गो-सेवा के अंगीकृत कार्य में ही लगे रहने का था और जहांतक मुझे मालूम है आप भी यही चाहते थे। परन्तु सेवाग्राम में मुझे पता चला कि अजमेर-मेरवाड़ा की सरकार

ने मेरे नाम गिरफ़्तारी का हुक्म निकाल दिया है। इसलिये मैंने यही सोचा कि मैं खुद ही जाकर क्यों न पकड़ा जाऊं। तदनुसार मैं २२ अगस्त को परिवार सहित वर्धा से चल कर २४ अगस्त, १९४२ को रात के ६ बजे यहां पहुचा और रेल्वे स्टेशन पर ही गिरफ़्तार कर लिया गया। तभी से मैं अजमेर सेंट्रल जेल में नज़रबन्द हूं।

किन्तु वर्धा से रवाना होने के पहले एक खास घटना हुई। आपकी गिरफ़्तारी के बाद दो सप्ताह मुझे सेवाग्राम मे लगे। उस बीच में बम्बई से आने वाले अलग अलग लोगों से जो समाचार मिले, उनसे मैंने और दूसरों ने भी यह नतीजा निकाला कि जेल जाते समय आपने कोई सन्देश दिया है, जिसके अनुसार तोड़फोड़ आदि के कार्यक्रम को आपकी स्वीकृति प्राप्त है। इसी खयाल के आधार पर १७ अगस्त, १९४२ को मैंने बंगलौर के एक विद्यार्थी को आपके उस कथित सन्देश का हवाला देकर उक्त कार्यक्रम की प्रेरणा करते हुए एक पत्र लिख दिया।

इस पत्र के बारे मे ११-४-४४ को अजमेर के डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस मीर मुस्ताज हुसैन साहब और १५-४-४४ को सुपरिन्टेन्डेन्ट ग्रेबहम साहब मुझसे पूछताछ करने आये। मैंने तो उस वक्त इतना ही बताना मुनासिब समझा कि 'सरकार मुझ पर मुकदमा चलायेगी तो जो सही बात है वह अवश्य स्वीकार करूंगा। लेकिन अभी कुछ नही कहना चाहता।' उस वक्त मेरा यही विश्वास था कि आपके विचारों को मैंने ठीक तरह समझ रखा है और १७ अगस्त, १९४२ के पत्र में मैंने विद्यार्थी भाई को जो कुछ लिखा था वह भी ठीक था। परन्तु सन् १९४२-४३ के दंगों के बारे में सरकारी प्रकाशन का आपने जो उत्तर दिया है उसे ध्यान से पढ़ जाने पर मुझे शंका हुई कि मैंने कहीं आपको ग़लत तो नही समझा। अब कल गवर्नर साहब का आपने जो प्रतिवाद किया है उससे तो मुझे निश्चय हो गया कि मैंने आपके साथ अन्याय किया और उसके आधार पर जो कार्रवाई की वह भी अनुचित थी। इस पर मैं हृदय से खेद प्रकट करता हुआ आपसे क्षमा चाहता हूं। मेरी इच्छा यह भी है कि सरकार को सीधा भी कुछ लिखूं। मगर आप इससे सहमत हों तो कृपया लिखिये कि किस प्रकार क्षमा किया जाय। यह पत्र यहां के प्रमुख राजबन्दियों की सलाह से लिख रहा हूं। उत्तर चीफ़ कमिश्नर साहब, अजमेर मेरवाड़ा के मार्फ़त दीजिये।

मेरा स्वास्थ्य अच्छा है।

दोरू
रामनारायण

बापू का उत्तर

इस पत्र को सरकार ने बापूजी तक नहीं जाने दिया। तब मैंने मुलाकात में अंजनादेवी से कह कर श्री कृष्णदासजी जाजू की मार्फ़त बापू की सलाह मंगवाई। २२ फरवरी १६४५ को मुझे बापू की यह राय प्राप्त हुई :

'रामनारायण को जो कुछ हुआ है उसे अपने बारे मे लिखित रूप में स्वीकार कर लेना चाहिये। ऐसा करने से अधिक सजा भुगतनी पड़े तो भुगत ले। यही प्रायश्चित्त है। वह भी उसका हृदय और बुद्धि स्वीकार करे तो ही। इसके बावजूद यदि कुछ भी क़ानूनी ग़फ़लत रह गई हो और छुटकारा होता हो तो अवश्य छूट जाय। वक्तव्य में ही कह दे कि वक्तव्य शुद्धि के रूप में है। कानूनी गुंजाइश होगी तो उसका फ़ायदा उठा कर छूट हो जायगा। सरकार वक्तव्य का उल्टा अर्थ न करे।'

चीफ़ कमिश्नर को पत्र

उधर मैंने बीच मे ही पुलिस को लिखा कि मैं इस मामले की सब बातें सरकार को बता सकता हूं। इस पर सी० आई० डी० इन्स्पेक्टर गुलाम हुसेन मुझसे मिल गये और उन्हें मैंने सब बातें कह दीं। साथ ही बापू का उत्तर मालूम हो जाने पर २२ मार्च १६४५ को मैंने अजमेर मेरवाड़ा के चीफ़ कमिश्नर को यह पत्र लिखा :

"I am writing under the advice of Gandhiji. On August 17, 1942 I wrote a letter from Sevagram to a student in Bangalore advocating a programme of subversive activities.

On october 2, 1943 I finished writing a book of reminiscences in Hindi and at the close of my narrative alluded to the happenings of August 1942, with particular reference to Ajmer-Marwara, in a spirit of criticism of public apathy towards a campaign of defiance including sabotage.

Although the aforesaid letter was intercepted by the police during postal transmission and the book is still an unpublished manuscript and no harm could have ensued from either, yet I am convinced, as a votary of truth and non-violence and humble associate of Gandhiji, that I was wrong in holding and expressing views that I did in both

the documents, views which were based on a misunderstanding of the alleged parting message of Gandhiji on the eve of his arrest in August 1942. This realization of error was brought home to me by a statement issued by Mahatmaji on *the 25th July 1944 refuting certain charges against* Congress-men by the Home Minister of Sindh and reiterating his unequivocal opposition to acts of sabotage and the like.

I lost no time in endeavouring to make amends to Gandhiji whom I addressed a letter (copy attached) the very next day i. e. on the 26th July 1944. Unfortunately your predecessor, for reasons best known to him, turned down my request to allow the letter to reach its destination. I was consequently disabled at that time from obtaining Gandhiji's opinion about the necessity of my addressing Government directly on the subject. Only recently have I been able to know his mind and hence this confession.

In concluding I wish to make it clear that this communication is solely designed as a measure of self-purification and is not actuated by any desire for securing release."

(यह पत्र मैं गांधीजी की सलाह से लिख रहा हूं। १७ अगस्त, १९४२ को मैंने सेवाग्राम से एक विद्यार्थी को बंगलौर पत्र लिखा था, जिसमें तोड़फोड़ के कामों की हिमायत की थी।

२ अक्टूबर, १९४३ को मैंने हिन्दी मे एक संस्मरणो की पुस्तक लिखना समाप्त किया था और अपने वर्णन के अन्त में अगस्त १९४२ की घटनाओं का उल्लेख किया था जिसमें अजमेर-मेरवाड़े का जिक्र करते हुए विद्रोह और तोड़फोड़ के आन्दोलन के प्रति जनता की उदासीनता की आलोचना की थी।

यद्यपि यह पत्र पुलिस ने डाक में ही उड़ा लिया था और वह पुस्तक अभी तक एक अप्रकाशित पांडुलिपि मात्र है और दोनों से ही कोई हानि नहीं हो सकती थी, फिर भी सत्य और अहिंसा के हिमायती और गांधीजी के एक नम्र साथी के नाते मुझे प्रतीति हो गई है कि दोनों ही दस्तावेजों में व्यक्त किये गये विचार रख कर और प्रकट करके मैंने भूल की थी। उन विचारो का आधार एक ग़लत-

फ़हमी थी, जो मुझे अगस्त १९४२ में गांधीजी द्वारा अपनी गिरफ्तारी से पहले दिन दिये गये कथित सन्देश के बारे में हुई थी। इस गलती का ज्ञान मुझे उस बयान से हुआ जो गांधीजी ने २५ जुलाई, १९४४ को जारी किया और जिसमें उन्होंने सिंध के गृहमन्त्री द्वारा कांग्रेसजनों पर लगाये गये आरोपों का खण्डन किया था और तोड़फोड़ आदि की कार्रवाइयों के प्रति अपना असंदिग्ध विरोध दोहराया था।

मैंने गांधीजी से क्षमायाचना करने में कुछ भी देर नहीं लगाई और उन्हें दूसरे ही दिन अर्थात् २३ जुलाई, १९४४ को एक पत्र लिखा (नकल साथ है)। दुर्भाग्यवश आपके पूर्वाधिकारी ने, न जाने क्यों, मेरी प्रार्थना स्वीकार नहीं की और उस पत्र को ठिकाने नहीं पहुंचने दिया। इस कारण उस समय तो मैं गांधीजी की राय इस बारे में प्राप्त नहीं कर सका कि मुझे सरकार को सीधा लिखना चाहिये या नहीं। उनके विचार अभी हाल ही में जान पाया हूं और तदनुसार अपना दोष स्वीकार कर रहा हूं।

अन्त में मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि यह पत्र केवल आत्मशुद्धि के लिये लिखा गया है। रिहाई की किसी इच्छा से नहीं लिखा गया है।)

सरकार पर इस पत्र का यह असर जरूर हुआ कि उसने मुझ पर कोई केस नहीं चलाया और मुझे सबसे बाद में छोड़ कर ही संतोष कर लिया।

डिप्टी कमिश्नर को लताड़

दूसरी घटना थी अजमेर के अंग्रेज डिप्टी कमिश्नर और जेलखानों के बड़े अधिकारी मिस्टर डबल्यू. एच. प्रिडमोर का २ अप्रेल १९४५ को हमारे यहां आगमन। इस अवसर पर जो कुछ हुआ वह नीचे लिखे पत्र व्यवहार से अच्छी तरह प्रकट हो जाता है :

Mr. W.H Pridmore,
Deputy Commissioner,
Ajmer.

Dear Mr. Pridmore,

I feel I shall be failing in my duty to you and to me, if I allowed your parting gift of this morning to go unrequited. If I heard you aright, you greeted me with the words, 'You wrote that insolent letter?' and left with the message,

'If you wish to get away from this place within measurable time, you should learn to behave.' I have pondered over your remarks as coolly and charitably as possible and find myself unrepentent. On the other hand, a consideration of *all that passed between you and the* Security Prisoners today leads me in common with my colleagues to the conclusion that the advisory part of your observation could be addressed with greater appropriateness and advantage to the source than the aim.

For my part, I assure you that I would consider it a privilege to suffer for the cause of my Motherland as long as her interests needed the sacrifice and would rather die in prison than purchase my release by flattery. To one who like me has faith in a Higher Power as the ruler of human destiny the favours and frowns of mortals, whatever their mundane authority, is of little import. While I am humble enough to bow to the Divinity residing in the lowliest of beings and to own a mistake the moment it is realised or brought home even at the risk of being misunderstood, I see in me the courage to stand by that which I think is right, come what may.

This exactly is my position with regard to my letter to you dated the 21st March, 1945. I have no doubt that you acted arbitrarily in with-holding my communication to the Chief Commissioner dated the 10th March, 1945 and passing judgment thereon and that I was perfectly within my rights in questioning your status where none to my knowledge existed. As to insolence, only an impartial judge can decide where it really lay, whether in my request for enlightenment as to your power to deal with a document not meant for you or your characterising a simple query as 'insolent' and preaching homilies in common sense and *good*

behaviour to a man whose services alone to the nation are almost as old as you are.

I am prepared to make all allowances for your youth and consciousness of race and office. But your position as a responsible public servant entitles one at least to expect that in having to do with persons of culture and patriotism you will refrain from adopting an attitude of provocation and *ipse dixit*, particularly in the midst of a general political atmosphere fraught with immense possibilities and surcharged with the solution of big Indo-British problems. It will, I am sure, stand you in good stead, if you could meanwhile cultivate a spirit of restraint, if not humility, so essential to your calling and so conducive to the growth of friendly relations between the country that gave you birth and the land whose salt you eat.

In the end I appeal to you with the utmost goodwill to reflect dispassionately and make amends bravely for the discourtesy in which you have betrayed yourself

Yours Sincerely,
R. N. Chaudhary
Security Prisoner

Dated, Central Jail, Ajmer,
the 2nd April, 1945.

इसका हिन्दी अनुवाद यह है :

श्री डब्ल्यू॰ ऐच॰ प्रिडमोर,
डिप्टी कमिश्नर,
अजमेर

प्रिय श्री प्रिडमोर,

मैं महसूस करता हूं कि मैं आपके और अपने प्रति कर्त्तव्य मे चूकता हूं यदि मैं आपकी आज की विदाई भेंट का बदला न चुकाऊं। अगर मैंने आपकी बात ठीक तरह से सुनी है तो आपने मेरा अभिवादन इन शब्दों से किया : "आपने ही वह गुस्ताख खत लिखा है ?" और जाते-जाते यह सन्देश छोड़ गये : "अगर आप यहां से जल्दी ही छूटना चाहते हों तो आपको सीख लेना

चाहिये कि कैसे व्यवहार किया जाता है।" मैंने आपके उद्‌गारों पर यथासम्भव ठंडे दिमाग और उदार वृत्ति से विचार किया तो मुझे कोई पश्चात्ताप नही होता। उल्टे आज आपके और राजवन्दियों के बीच जो कुछ हुआ उसे सोचकर मैं और मेरे साथी इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि आपकी सलाह देने वाले पर अधिक लागू होती है, जिन्हे दी गई उन पर नही।

रही बात मेरी, सो आप विश्वास रखे कि मैं अपनी मातृभूमि की खातिर तब तक कष्ट सहन करना अपना सौभाग्य समझूंगा जब तक उसकी भलाई के लिये यह कुर्बानी जरूरी होगी और खुशामद करके रिहाई खरीदने से जेल में मरना पसन्द करूंगा। मेरे जैसे व्यक्ति के लिये जो इन्सान की किस्मत का मालिक किसी अलौकिक सत्ता को मानता है किसी भी दुनियावी ताकत की राजी नाराजगी का महत्व बहुत थोडा ही है। वैसे, मुझमे इतनी नम्रता तो है कि छोटे से छोटे प्राणियों मे भी रहने वाले भगवान के सामने झुक जाऊं और ज्यूं ही मुझे अपनी भूल महसूस हो जाय या समझा दी जाय त्यूं ही उसे मान लूं, भले ही गलतफहमी ही क्यो न हो, परन्तु मुझ मे यह साहस भी है कि जिसे मैं ठीक मानता हू उस पर डटा रहूं, फिर परिणाम चाहे कुछ भी हो।

आपके नाम मेरे २१ मार्च, १९४५ के पत्र के बारे में मेरी ठीक यही स्थिति है। मुझे कोई शक नहीं कि मेरे चीफ़ कमिश्नर के नाम १० मार्च १९४५ वाले पत्र को रोक कर और उस पर फ़ैसला देकर आपने मनमानी की है और जहां मेरी जानकारी मे आपकी कोई हैसियत नही थी वहां उस पर शंका करके मैंने पूरी तरह अपने अधिकार का ही उपयोग किया। रही बात गुस्ताखी की, सो इसका निर्णय तो कोई निष्पक्ष न्यायाधीश ही कर सकता है कि धृष्टता किसने की, जो काग़ज़ आपके लिये था ही नही उसे निपटाने का आपका अधिकार जानने का अनुरोध करके मैंने धृष्टता की या एक सीधी सादी जिज्ञासा को 'गुस्ताख' बता कर और ऐसे लोगों को जिनकी राष्ट्रसेवा ही आपकी आयु के बराबर है समझदारी और नेकचलनी का उपदेश देकर आपने गुस्ताखी की।

मैं आपकी कम उम्र और जाति तथा पद के अभिमान के लिये गुंजायश रखने को तैयार हूं। परन्तु चूंकि आप एक जिम्मेदार राजकर्मचारी हैं, इसलिये आपसे कम से कम यह आशा रखने का हरेक को हक है कि देशभक्त और सुसंस्कृत मनुष्यों से व्यवहार करने में आप उत्तेजनात्मक और स्वेच्छाचारपूर्ण रवैया अपनाने से परहेज़ करेंगे, विशेषतः ऐसे सामान्य राजनैतिक वातावरण में जो बड़ी बड़ी सम्भावनाओं से परिपूर्ण और भारत तथा ब्रिटेन की विशाल समस्याओं के हल से ओतप्रोत है। मुझे यकीन है कि अगर आप इस बीच में नम्रता न सही,

संयम की भावना भी अपने मे पैदा करलें तो वह आपके बहुत काम आयेगी क्योंकि जिस देश ने आपको जन्म दिया और जिस भूमि का आप नमक खा रहे है उन दोनों के बीच मैत्रीपूर्ण संबंधों के विकास के लिये वह भावना अति सहायक है और आपके पेशे के लिये अति आवश्यक है।

अन्त मे अत्यन्त सद्भावपूर्वक मेरी आपसे अपील है कि आप निर्विकार होकर सोचे और आपसे जो अशिष्टता हो गई है उसके लिये वीरतापूर्वक क्षतिपूर्ति करे।

आपका
सेन्ट्रल जेल, अजमेर, रामनारायण चौधरी
२ अप्रेल, १९४५ राजबन्दी

डिप्टी कमिश्नर का खेद प्रकाशन

मेरे इस पत्र का नीचे लिखा उत्तर आया :

Deputy Commissioner's House
Ajmer, the 6th April, 1945
D. O. No W. 2477/Cong 16

Dear Mr. Chaudhry,

Your letter of 2nd April. Since you appear to harbour an imaginary grievance against me, which I should be the last person to wish to perpetuate, and since I feel in conscience bound to respond to the appeal contained in the last para of your letter, I will point out to you the following facts :—

It is correct that I asked you whether you wrote that insolent letter. I still consider that it was impertinently worded and that you might have apologised gracefully when I referred to it in the jail, instead of arguing. As for the warning to improve behaviour, as far as I recollect, this was addressed to Mr. B.K. Kaul and not to you, since I have no complaint regarding your behaviour, apart from the above mentioned minor incident.

I am sorry to note that you ascribe to me arrogance of race and office. Perhaps you were hoping to see traces of such arrogance and therefore easily prone to imagine them. Confinement in jail naturally causes exaggeration of minor grievances, real or imaginary and this is a fact which deserves *sympathetic consideration But the jail staff also deserves* sympathetic consideration from the Security Prisoners, as their position is a delicate and difficult one. Hence my admonition to Mr. Kaul to observe correct behaviour. Any similar warning to you, which I do not actually recollect, may kindly be construed as friendly advice and I hope you will dismiss all ideas of deliberate discourtesy from your mind and consider me a well wisher of your country and a would-be promoter of good relations between India and Britain.

Mr. Chaudhary,
Security Prisoner,
Central Jail, Ajmer

Yours Sincerely,
W. H. Pridmore

इस पत्र का हिन्दी अनुवाद यह है .

डिप्टी कमिश्नर की कोठी,
अजमेर ६ अप्रेल १९४५
डी. ओ. नं. डब्ल्यू. २४७७/का

प्रिय श्री चौधरी,

आपका २ अप्रेल का पत्र मिला । चूंकि ऐसा मालूम होता है कि आपको मुझसे काल्पनिक शिकायत है जिसे कम से कम मैं बनी रहने देना नहीं चाहूंगा और चूंकि आपके पत्र के अंतिम अंश मे जो अपील की गई है उसका उत्तर देना मेरी अन्तरात्मा अपना धर्म समझती है, इसलिये मैं आपको नीचे लिखी बातें बताऊंगा:—

यह सही है कि मैंने आपसे पूछा था कि "क्या आपने ही वह गुस्ताखत पत्र लिखा था ?" मेरा अब भी यह विचार है कि उसकी भाषा धृष्टतापूर्ण थी और जब जेल में मैंने उसका जिक्र किया तब बहस करने के बजाय आप शालीनता के साथ क्षमा माग सकते थे ।

चलन सुधारने की चेतावनी के बाबत, जहा तक मुझे याद है, वह आपको नही, श्री बालकृष्ण कौल को दी गई थी, क्योंकि उपरोक्त छोटी सी घटना के सिवाय मेरे पास आपके व्यवहार की कोई शिकायत नही है।

मुझे यह देखकर दुःख होता है कि आप मुझ पर जाति और पद के घमंड का आरोप लगाते हैं। शायद आप इस घमंड के चिन्ह देखने की आशा लगाए हुए थे और इसलिये आसानी से उसकी कल्पना कर ली होगी। जेल में बन्द रहने से वास्तविक अथवा काल्पनिक छोटी छोटी तकलीफ़ों को बढा चढ़ा कर बड़ी बना लेना स्वाभाविक होता है और यह ऐसी हकीकत है जिस पर सहानुभूतिपूर्वक विचार होना चाहिये। परन्तु जेल कर्मचारी भी राजवन्दियों की तरफ़ से सहानुभूतिपूर्ण विचार के हकदार हैं, क्योंकि उनकी स्थिति कठिन और नाज़ुक होती है। इसलिये मैंने सम्यक् व्यवहार करने के बारे मे श्री कौल की भर्त्सना की थी। आपको कोई ऐसी चेतावनी देने की बात मुझे सचमुच याद तो नही आती, परन्तु उसे आप कृपा करके मित्रतापूर्ण सलाह समझें और मुझे आशा है कि आप अपने दिल से मेरे द्वारा जानबूझ कर अशिष्टता करने का खयाल बिल्कुल निकाल दें और मुझे आपके देश का एक हितैषी और भारत तथा ब्रिटेन के बीच भविष्य मे अच्छे सम्बन्ध बढाने वाला आदमी मानें।

श्री चौधरी,
राजबन्दी, केन्द्रीय जेल,
अजमेर

आपका
डब्ल्यू॰ ऐच॰ प्रिडमोर

पश्चात्ताप की अपील

इसका मैंने यह उत्तर भेजाः—

Central Jail,
Ajmer, April 9, 1945

Dear Mr. Pridmore,

I thank you for your prompt reply to my letter of 2nd April and accept your assurance that you meant 'no deliberate discourtesy' in what I had deemed was an insult and in what you now request 'may kindly be construed as friendly advice.' I must, however, confess that I still consider the use on your part of the epithet 'insolent', softly reiterated as 'impertinently worded' in your letter, to have been singularly thoughtless, if not calculatedly humiliating.

The burden of my charge is two-fold In the first instance, you arbitrarily deprived me of the facility of representation granted in the Security Prisoners' Order by standing between the Chief Commissioner and me and disposing of the case directly. I do maintain that as the Order recognises no agency intermediary between the detaining authority and the detainee other than the Superintendent of Jail, you had no right to treat my letter to the Chief Commissioner in the way you did. Of course, in conformity with any administrative arrangements with which I am not concerned, you might be free to make any forwarding remarks you liked to on my communication. But where is the power invested in you of interception and decision ? I am really at a loss to understand why you should continue to resent inquisitiveness about such power and fail to show the ordinary courtesy and perform the primary duty of a public servant to furnish the desired information. And why should one in this age of democracy when the highest functionaries and the greatest personalities are open to criticism, questioning and correction be so cocksure and touchy as to take offence at such an innocuous protest or comment as the term 'interfere' implies, if it does at all ?

In the second place, had there been anything objectionable in my language, which by the bye is not my mother tongue, the Superintendent, guided as he is by overalert subordinates, was there, as I told you and as he is entitled, to point out the flaw. The fact that no such suggestion was tendered proves that my composition was normally inoffensive.

I regret to note you have consistently evaded the main point at issue. The basic bone of contention between you and me is the act of your detaining and dismissing my letter to the Chief Commissioner. The controversy is whether

you possessed such powers. My conscience says that the man in you has realised the error, but the official is wanting in the courage to make a frank admission and unqualified amends. In all fairness here are two sportive offers. To use a Shakespearean phrase, an appeal may lie 'from Philip drunk to Philip sober' i.e. from the Deputy Commissioner to Mr. Pridmore to rise above all ideas of false prestige or modesty and rectify the mistake, if realised, wholeheartedly. As an alternative, the matter may be submitted informally for judicial arbitration, say to the Sessions Judge.

To a certain extent you are psychologically right when you say in effect that long and continued incarceration attended by repeated disappointments and conscious innocence produces a sense of discontent. But what may be true of persons of immature mind and weak ideas does not trouble a man of fifty and a seasoned jail bird like me. Besides, if only you were serious and prepared to devote the time required for a thorough enquiry, we are ready to prove that the complaints of the Security Prisoners are real, long standing and many. But belive me when I say that I have no personal grievance against any member of the Jail staff because an official under alien rule tends at worst to become a slave of the ignoble belly or at best the helpless instrument of a vicious system. But I have no doubt that the present incumbents are not equipped with the training and outlook necessary to deal with cultured and idealistic prisoners.

Before I conclude I wish you to disabuse your mind of any apprehension that the prospects of a political settlement are likely to impair in any way the self-restraint of Congressmen and the humility of Gandhites in detention or make them restive. It will likewise be futile to expect that any threat

couched either as a mild hint or veiled temptation will induce them to play the good boys of a foreign government's liking.

Yours sincerely,
R. N. Chaudhry

इस पत्र का हिन्दी अनुवाद यूं है:

सेंट्रल जेल, अजमेर,
६ अप्रेल, १९४४

प्रिय श्री प्रिडमोर,

मेरे २ अप्रेल के पत्र का तुरन्त उत्तर देने के लिये मैं आपका आभारी हूं और आपका यह आश्वासन मान लेता हूं कि जिसे मैंने अपमान समझा और आप अब 'कृपापूर्वक मित्रतापूर्ण सलाह मान लेने का' अनुरोध करते हैं उसमे 'जान बूझ कर अशिष्टता' करने का आपका इरादा नही था। परन्तु यह मुझे स्वीकार करना पड़ता है कि आपके पत्र में 'गुस्ताख' विशेषण इस्तेमाल करके—हालांकि आपने अब उसे कुछ नरम करके दोहराया है—आपने जानबूझ कर अपमान न भी किया हो तो निहायत नासमझी जरूर की है।

मेरे आरोप में दो बातों पर जोर दिया गया है। प्रथम तो आपने मेरे और चीफ़ कमिश्नर के बीच मे आकर और मामले को सीधा निपटा कर मुझे फ़रियाद करने की उस सुविधा से स्वेच्छाचारपूर्वक वंचित कर दिया जो राजवन्दी आदेश में दी गई है। मेरी जरूर यह राय है कि चूंकि इस आदेश में राजबन्दी बनाने वाली सत्ता और राजबन्दी के बीच सुपरडेंट के सिवाय और किसी बिचौलिये को नही माना गया है, इसलिये चीफ़ कमिश्नर के नाम मेरे पत्र को आपने जिस ढंग से निपटाया उसका आपको कोई अधिकार नही था। बेशक किसी प्रशासनिक व्यवस्था के अनुसार जिससे मेरा कोई वास्ता नहीं आप मेरे पत्र पर उसे आगे भेजते हुए कुछ भी उद्‌गार प्रकट करने को स्वतंत्र हो सकते हैं। परन्तु उसे बीच में ही रोक लेने या निपटा देने का अधिकार आपको कहां से मिल गया? सचमुच मेरी समझ में नही आ रहा कि ऐसे अधिकार के बारे मे जिज्ञासा पर क्यों आप बुरा मानते चले जा रहे हैं और क्यों वह साधारण शिष्टता दिखाने और प्राथमिक कर्तव्य पालन से चूके जिसके अनुसार एक राजकर्मचारी को वांछित जानकारी देनी चाहिये। और फिर लोकतंत्र के इस युग में जब ऊंचे से ऊंचे अधिकारी और बड़े से बड़े व्यक्ति की आलोचना हो सकती है, उससे पूछताछ की जा सकती है, कोई इतना अहंकारी और छुई मुई क्यों बन जाय कि

you possessed such powers. My conscience says that the man in you has realised the error, but the official is wanting in the courage to make a frank admission and unqualified amends. In all fairness here are two sportive offers. To use a Shakespearean phrase, an appeal may lie 'from Philip drunk to Philip sober' i.e. from the Deputy Commissioner to Mr. Pridmore to rise above all ideas of false prestige or modesty and rectify the mistake, if realised, wholeheartedly. As an alternative, the matter may be submitted informally for judicial arbitration, say to the Sessions Judge.

To a certain extent you are psychologically right when you say in effect that long and continued incarceration attended by repeated disappointments and conscious innocence produces a sense of discontent. But what may be true of persons of immature mind and weak ideas does not trouble a man of fifty and a seasoned jail bird like me. Besides, if only you were serious and prepared to devote the time required for a thorough enquiry, we are ready to prove that the complaints of the Security Prisoners are real, long standing and many. But belive me when I say that I have no personal grievance against any member of the Jail staff because an official under alien rule tends at worst to become a slave of the ignoble belly or at best the helpless instrument of a vicious system. But I have no doubt that the present incumbents are not equipped with the training and outlook necessary to deal with cultured and idealistic prisoners.

Before I conclude I wish you to disabuse your mind of any apprehension that the prospects of a political settlement are likely to impair in any way the self-restraint of Congressmen and the humility of Gandhites in detention or make them restive. It will likewise be futile to expect that any threat

couched either as a mild hint or veiled temptation will induce them to play the good boys of a foreign government's liking.

Yours sincerely,
R. N. Chaudhry

इस पत्र का हिन्दी अनुवाद यूं है:

सेंट्रल जेल, अजमेर,
६ अप्रेल, १६४४

प्रिय श्री प्रिडमोर,

मेरे २ अप्रेल के पत्र का तुरन्त उत्तर देने के लिये मैं आपका आभारी हूं और आपका यह आश्वासन मान लेता हूं कि जिसे मैंने अपमान समझा और आप अब 'कृपापूर्वक मित्रतापूर्ण सलाह मान लेने का' अनुरोध करते है उसमें 'जान बूझ कर अशिष्टता' करने का आपका इरादा नहीं था। परन्तु मह मुझे स्वीकार करना पड़ता है कि आपके पत्र मे 'गुस्ताख' विशेषण इस्तेमाल करके—हालांकि आपने अब उसे कुछ नरम करके दोहराया है—आपने जानबूझ कर अपमान न भी किया हो तो निहायत नासमझी ज़रूर की है।

मेरे आरोप में दो बातों पर ज़ोर दिया गया है। प्रथम तो आपने मेरे और चीफ़ कमिश्नर के बीच में आकर और मामले को सीधा निपटा कर मुझे फ़रियाद करने की उस सुविधा से स्वेच्छाचारपूर्वक वंचित कर दिया जो राजबन्दी आदेश में दी गई है। मेरी ज़रूर यह राय है कि चूंकि इस आदेश में राजबन्दी बनाने वाली सत्ता और राजबन्दी के बीच सुपरडेंट के सिवाय और किसी बिचौलिये को नही माना गया है, इसलिये चीफ़ कमिश्नर के नाम मेरे पत्र को आपने जिस ढंग से निपटाया उसका आपको कोई अधिकार नही था। बेशक किसी प्रशासनिक व्यवस्था के अनुसार जिससे मेरा कोई वास्ता नही आप मेरे पत्र पर उसे आगे भेजते हुए कुछ भी उद्‌गार प्रकट करने को स्वतंत्र हो सकते हैं। परन्तु उसे बीच में ही रोक लेने या निपटा देने का अधिकार आपको कहा से मिल गया? सचमुच मेरी समझ में नही आ रहा कि ऐसे अधिकार के बारे मे जिज्ञासा पर क्यों आप बुरा मानते चले जा रहे है और क्यों वह साधारण शिष्टता दिखाने और प्राथमिक कर्तव्य पालन से चूके जिसके अनुसार एक राजकर्मचारी को वांछित जानकारी देनी चाहिये। और फिर लोकतंत्र के इस युग में जब ऊंचे से ऊंचे अधिकारी और बड़े से बड़े व्यक्ति की आलोचना हो सकती है, उससे पूछताछ की जा सकती है, कोई इतना अहंकारी और छुई मुई क्यों बन जाए कि

'हस्तक्षेप' जैसे निर्दोष शब्द से व्यक्त होने वाले विरोध या आलोचना पर ही बुरा मान जाय ?

दूसरे, मेरी भाषा मे—हां, वह मेरी मादरी ज़बान नहीं है—कोई आपत्तिजनक बात होती तो सुपरडंट वह त्रुटि बता सकते थे और उन्हें न सूझती तो उनके मार्गदर्शन के लिये अत्यन्त जागरूक मातहत मौजूद थे। सुपरडंट को ऐसे दोषदर्शन का अधिकार भी था। चूंकि ऐसा कोई सुझाव नही दिया गया, इससे यह साबित होता है कि मेरे लिखने में सामान्यतः बुरा मानने की कोई बात नही थी।

मुझे यह देख कर अफ़सोस होता है कि आप असली मुद्दे को बराबर टाल रहे हैं। आपके और मेरे बीच विवाद की मूल बात यह है कि आपने चीफ़ कमिश्नर के नाम मेरे खत को रोक कर उसे खारिज कर दिया। मतभेद इस बारे मे है कि आपको ऐसा अधिकार था या नही। मेरी अन्तरात्मा कहती है कि प्रिडमोर ने यानी इन्सान ने भूल अनुभव कर ली है, परन्तु डिप्टी कमिश्नर मे अर्थात् राजकर्मचारी मे यह साहस नही है कि वह खुले दिल से उसे मान ले और बिना शर्त माफ़ी मांग ले। न्याय की दृष्टि से दो प्रस्ताव हो सकते है। एक तो यह कि शेक्सपियर की भाषा मे 'उन्मत्त फ़िलिप की अपील सयाने फ़िलिप' से की जाय अर्थात् मानव प्रिडमोर से सत्ताधारी प्रिडमोर को यह समझाने की प्रार्थना की जाय कि वह झूठी प्रतिष्ठा या लज्जा के सारे विचारों से ऊपर उठ कर पूरे दिल से भूल सुधार ले, यदि भूल महसूस हो गई हो। दूसरा विकल्प यह है कि मामले को सेशन जज के सुपुर्द करके बेज़ाब्ता तौर पर उनसे पंच फ़ैसला करा लिया जाय।

एक हद तक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आपका यह कहना सही है कि बहुत दिन जेल मे रहने, वहा बार बार निराशाएं होने और अपनी निर्दोषता का भान होने से असन्तोष की वृत्ति पैदा हो जाती है। परन्तु जो बात अपरिपक्व *मानस और दुर्बल आदर्श वाले व्यक्तियो के लिये सही हो सकती है वह* मेरे जैसे अनुभवी जेल यात्री पर लागू नहीं होती। साथ ही आप सचमुच चाहते हो और पूरी जाच के लिये समय लगाने को तैयार हो तो हम यह प्रमाणित करने को उद्यत हैं कि राजबन्दियों की शिकायतें वास्तविक, दीर्घकालीन और अनेक हैं। परन्तु यह बात मान लीजिये कि मुझे किसी जेल कर्मचारी से कोई व्यक्तिगत शिकायत नही है, क्योंकि विदेशी राज्य का देशी कर्मचारी बुरा हो तो पापी पेट का गुलाम बन जाता है और अच्छा हो तो एक बुरी प्रणाली का लाचार हथियार

हो जाता है। परन्तु मुझे कोई संदेह नहीं कि मौजूदा कर्मचारियों को न तो ऐसी तालीम मिली है और न उनकी दृष्टि ही ऐसी है कि वे सभ्य और आदर्शवादी क़ैदियों के साथ उचित व्यवहार कर सकें।

अन्त में मैं चाहता हूं कि आप अपने मन में ऐसी कोई शंका न रखें कि किसी राजनैतिक निपटारे की आशा में नजरबन्द कांग्रेसजनों के आत्मसंयम और गांधीवादी राजबन्दियों की विनम्रता में कोई कमी आ जायगी या वे उच्छृंखल हो जायेंगे। इसी तरह यह उम्मीद रखना भी बेकार होगा कि प्रलोभन के किसी हल्के संकेत या प्रच्छन्न धमकी से प्रभावित होकर वे एक विदेशी सरकार की पसन्द के दरबारी बन जायेंगे।

आपका
रामनारायण चौधरी

नारायणसिंह

तीसरी घटना यह थी कि जब मेरे छूटने के दिन नजदीक आये तब नारायण-सिंह नामक कैदी ने मुझसे एक अनोखी मांग की। सरकार ने उसे मेरे कामकाज के लिये रख दिया था और करीब पौने तीन साल तक उसने मेरी अच्छी सेवा की थी। उसी के पुरस्कार स्वरूप उसने मुझसे चाहा कि इस बार रिहा होने के बाद उसे फिर से जेल में न आना पड़े, ऐसा कोई उपाय मैं करूं। मेरे पूछने पर उसने बयान किया : "मेरे पिता अजमेर म्यूनिसिपल्टी के दफ़तर में सुपरडण्ट थे। इसमें उन्होने खूब पैसा कमाया। मैं इकलौता बेटा था। मैट्रिक पास कर लिया था लेकिन काम कुछ नहीं करता था। एक दिन पिताजी ने कुछ डाटा तो राजपूती खून और लाड़लेपन ने उत्तेजित कर दिया। मैं थैला उठाकर बम्बई चल दिया। वहां बस के कण्डक्टर की नौकरी कर ली। कुछ दिन बाद एक जेबकतरा मिला। उसने बताया कि इस नौकरी में क्या धरा है? महीने भर पैर रगड़ते हो तो साठ रुपल्ली मिलती है। मेरे साथ हो जाओ तो एक ही दिन में वारे-न्यारे हो सकते हैं। मैंने नौकरी छोड़ कर उससे ट्रेनिंग लेना शुरू कर दिया। जब पारंगत हो गया तो परदेश के बजाय जन्मभूमि की ही सेवा करने का निश्चय किया। अजमेर पहुंच कर मैंने पुलिस से साठ-गांठ की और प्रेक्टिस शुरू कर दी। २८ बार गिरफ़्तार हुआ और १८ बार सज़ा हुई। कुल मिला कर अब मेरा बीसवां साल जेल में चल रहा है। जब जब छूट कर बाहर जाता तभी पुलिस को तिहाई हिस्सा देने पर भी मुझे कहीं काम धंधा नहीं करने दिया जाता। लाचार होकर किसी की जेब काटता और जेलखाने

चला जाता। लेकिन अब मैं यहां के जीवन से थक गया हूं। कृपा करके मेरी मदद कीजिये।" मैंने उसे सहायता का वचन दिया और छूटने पर अपने घर न जाकर मेरे पास चले आने को कह दिया। एक रोज़ जब मैं और अंजनादेवी घर पर बैठे बातें कर रहे थे तब शाम को नारायणसिंह आ पहुंचा। मैंने तुरन्त श्री खलील ग़ौरी, डिप्टी सुपरडण्ट पुलिस को टेलीफोन किया: "आपके दोस्त नारायणसिंह अब हमारे दोस्त हो गये हैं। हम उसके लिये जिम्मेदार है। मेहरबानी करके उन्हे कुछ न कहिये।" ग़ौरी साहब ने बड़ी चेतावनियां दी कि वह खतरनाक आदमी है, सब कुछ सफ़ाया कर देगा। लेकिन हमारे पास कुछ था ही नही जिसका हमें खतरा हो और घर में हम दोनों ने सलाह करके निश्चय किया कि नारायणसिंह पर पूरा विश्वास किया जाय। तदनुसार घर की रखवाली और बैंक वग़ैरा का कामकाज सब कुछ उसी के सुपुर्द कर दिया। ६ महीने वह मेरे पास अजमेर में रहा लेकिन किसी तरह की शिकायत नहीं हुई।

आघात से चल बसा

१९५५ में जब नेहरूजी मुझे दिल्ली ले आये तो नारायणसिंह को भी मैं अपने साथ ले आया और भारत सेवक समाज मे भी उस पर पूरा विश्वास करके रखा। हजारों रुपये का लाना ले जाना उसके द्वारा हुआ लेकिन उसकी ईमानदारी पर कभी सन्देह नही हुआ। एक बार ऐसी शंका की बात मेरे कान पर आई तो उसे बड़ा आघात लगा। उसे दिल का दौरा हुआ और वह चल बसा। मेरा खयाल है कि वह इस बात को बर्दाश्त न कर सका कि जिस आदमी ने उसके साथ इतना बड़ा उपकार किया उसे उसकी ईमानदारी में संदेह हो।

'वर्तमान राजस्थान'

लगभग तीन वर्ष की नज़रबन्दी के बाद मई १९४५ के अन्तिम सप्ताह मे भाई दुर्गाप्रसाद और स्वामी कुमारानन्दजी के साथ में जेल से छूटा। यह रिहा होने वाले नज़रबन्दों की आखिरी टोली थी।

इस लम्बे अर्से में जिसे रचनात्मक कार्य कहा जा सकता है वह मैंने यह किया कि 'वर्तमान राजस्थान' के नाम से सार्वजनिक जीवन के संस्मरणों की एक पुस्तक लिख डाली। इस काम में मुझे भाई दुर्गाप्रसाद से बहुमूल्य सहायता मिली। एक तरह से इसे राजस्थान के स्वातंत्र्य संग्राम का ही नहीं, जनहित के सभी कार्यों का संक्षिप्त इतिहास कहा जा सकता है। असल मे इस तरफ़ किसी और ने ध्यान दिया ही नहीं। बहरहाल, इस पुस्तक ने इतिहासकार के लिये कुछ उपयोगी सामग्री ज़रूर प्रस्तुत कर दी।

गो सेवा संघ में

इससे पूर्व मेरे कार्यक्रम मे एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ था। सन् १६४१ के दशहरे के दिन वर्धा में अखिल भारतीय गोसेवा संघ की स्थापना हुई। सेठ जमनालालजी ने इसी काम मे शक्ति लगाने का निश्चय किया। वे ही संघ के अध्यक्ष बनाये गये। साथ ही बापूजी से सलाह करके में इस नतीजे पर पहुंच गया था कि देशी राज्यों की आजन्म सेवा के व्रत मे इस नये काम मे शरीक होने से कोई बाधा नही पड़ती। उन्होंने एक नई बात बताई। उनकी दलील यह थी कि अब देशी राज्यों का प्रश्न ही नही है। मौजूदा स्वरूप में न अंग्रेज ही उन्हें रखना चाहते हैं; न कांग्रेस ही इसके पक्ष में है। मैंने यह सार निकाला कि अधिक से अधिक यह हो सकता है कि देशी राज्य प्रजा को दायित्वपूर्ण शासन देकर भारतीय संयुक्त राष्ट्र के अविभाज्य अंग बन कर ही रह सकेंगे, उनकी कोई स्वतंत्र हस्ती या निरंकुश हकूमत नही होगी। साथ ही यह भी विचार था कि हरिजन और खादी कार्य की तरह गोसेवा द्वारा भी देशी राज्यों की प्रजा की सेवा खूब की जा सकती है। इस बात ने भी मुझे बहुत प्रभावित किया कि गोसेवा गाधीजी के कार्यक्रम का सबसे बड़ा अंग था। देश की दृष्टि से खेती के बाद, बल्कि एक तरह से उससे भी अधिक महत्व गोसेवा का है। भारतवर्ष के लिये गाय ही ऐसा जानवर है जो हमारे मुख्य उद्योग कृषि का एकमात्र आधार बैल देती है और एक प्रायः निरामिषभोजी राष्ट्र के लिये जिन भोजन-तत्वों की अत्यन्त आवश्यकता है वे भी दूध घी वगैरा के रूप में मुहय्या करती है। अतः निश्चय हुआ कि में गोसेवा संघ में काम करने लगूं। सेठ जमनालालजी संघ की स्थापना के बाद पूरे पाच महीने भी जीवित नहीं रहे, परन्तु मैंने देखा कि वे इस काम मे तन्मय हो गये थे, थोडे से समय में ही संस्था को उन्होने मूर्त स्वरूप दे दिया, देश के विशिष्ट हल्कों मे उसके लिये अनुकूल वातावरण पैदा कर लिया और कार्यकर्त्ताओ की एक मंडली जमा कर ली। उनकी मृत्यु के बाद गांधीजी ने मुझे गोसेवा संघ का मंत्रिपद संभालने का आदेश दिया और आग्रह भी किया, परन्तु स्व० जमनालालजी को दिये गये वचन के अनुसार में गोसेवा की तालीम पाने के कार्यक्रम पर निकल पड़ा। प्रथम ६ माह के लिये बंगलौर गया। रास्ते में अपने मित्र सत्यनारायणजी के पास मद्रास में ठहरा तो दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा का विशाल, सुव्यवस्थित और अद्‌भुत कार्य देख कर चकित हो गया।

बंगलौर में

वहां से अपने भावी कार्य के लिये बहुत सी उपयोगी सूचनाएं लेकर बंगलौर पहुंचा और इम्पीरियल डेरी इन्स्टीट्यूट मे दाखिल हो गया। यह संस्था भारत

सरकार के डेरी डिपार्टमेंट की तरफ़ से स्थापित थी। इसमे गौसेवा की तालीम दी जाती थी। इसके संचालक श्री० जाल रुस्तमजी कोठावाला और सुपरडण्ट कॉक्स साहब थे। कोठावाला साहब अपने विषय के पंडित, राष्ट्रीय भावना रखने वाले अच्छे शासक, परिश्रमशील और स्वाभिमानी पारसी थे। मुझ पर उनका शुरू से ही प्रेम और विश्वास था। कॉक्स साहब एक फ़ौजी अंग्रेज होते हुए भी मेरा आदर रखते थे। यही हाल वहा के दूसरे अध्यापको का था। देसाई साहब से तो मित्रता ही हो गई थी, लाजर्स साहब एक जिंदादिल और आतिथ्यशील ईसाई थे। नजीरुद्दीन साहब विनोदी जीव थे। श्री रंगस्वामी विद्यार्थियो को अधिक से अधिक सिखाने के लिये उत्सुक रहते थे। हमारे एक ईरानी पड़ोसी आग़ा महमूद साहब और उनके परिवार के साथ भी मेरी घनिष्ठता हुई। वे हिन्दू-मुस्लिम एकता के हामी और निहायत शरीफ़ आदमी थे। विद्यार्थियो का कहना ही क्या ? उन्होने शुरू से अन्त तक अपनी श्रद्धा और प्रेम से मुझे सदा के लिये उपकृत कर दिया। अनेक प्रतिकूलताओ के होते हुए भी उन्होने राष्ट्रीय भावना, भारतीय रहन-सहन, शरीरश्रम, स्वच्छता और दूसरी अनेक सूचनाओं को अंगीकार किया और मेरे हृदय पर यह अंकित कर दिया कि बंगलौर प्रवास के ये पाच महीने मेरे जीवन के अत्यन्त सुखी दिनों मे से थे। मुझे वहा काफ़ी सीखने को मिला।

आज़ादी-विभाजन-रक्तपात

लेकिन एक घटना जो पिछले महायुद्ध के समाप्त होने पर हुई वह इतिहास मे अभूतपूर्व थी। वह यह थी कि विजयी होकर भी ब्रिटेन ने हिन्दुस्तान को आज़ादी दे दी। इसमे अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का हाथ जरूर था और नेताजी बोस की आज़ाद हिंद फ़ौज के कारनामों का भी असर हुआ, मगर मुख्य बात यही थी कि गाधीजी के नेतृत्व मे उनके दिये हुए अहिंसा के हथियार से जो लम्बी लड़ाई लड़ी गई उसी के कारण यह स्वतन्त्रता नसीब हुई। मुस्लिम लीग की हठधर्मी और देशद्रोही नीति के कारण भारत माता के टुकड़े हो गये। यह विभाजन भी इस बेदर्दी के साथ हुआ कि दोनों देशो में खून की नदियां बह गईं, लाखो नरनारी व बच्चे मारे गये, अरबो की सम्पत्ति नष्ट हो गई और असंख्य जन जलावतन हो गये। देश मे साम्प्रदायिक झगड़ों का जो दौर चला उसकी लपटे राजस्थान में भी आईं। अजमेर मे काफ़ी तूफ़ान मचा। पाकिस्तान की देखादेखी हिन्द में भी अल्पसंख्यकों की बरबादी हुई। साम्प्रदायिक संस्थाओं को घृणा और हिंसा का प्रचार करने का मौक़ा मिला। नतीजा यह हुआ कि इन्ही संस्थाओं से प्रभावित एक कार्यकर्त्ता नारायण गोडसे के हाथों राष्ट्रपिता महात्मा

गांधी की ३० जनवरी १९४८ को दिल्ली के बिडला भवन में निर्मम हत्या हुई। बापू के इस बलिदान से संसार अहिंसा का कायल, हिन्दुस्तान साम्प्रदायिकता से मुक्त और पाकिस्तान प्रभावित दिखाई दिया। उधर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, खाकसार और मुस्लिम नेशनल गार्ड आदि निजी सेनाएं रखने वाली संस्थायें नाजायज करार दी गई और उनके हजारों कार्यकर्त्ता नजरबन्द कर दिये गये।

विलीनीकरण

इधर रियासतों को अंग्रेजों ने जाते जाते बिलकुल आजाद कर दिया था। राष्ट्रीय सरकार के रियासती विभाग के मंत्री सरदार पटेल की राजनीतिज्ञता, राजाओं की समझदारी और प्रजा शक्तियो के बढ़ते हुए वेग के कारण अधिकाश रियासतें या तो प्रान्तों मे मिल गई या राज्यसमूह बन कर बड़ी इकाइयो में बदल गई। फिर भी कारमीर तो हिन्द उपनिवेश में उस वक्त शरीक हुआ जब पाकिस्तान ने कबाइलियों द्वारा उस पर हमला करके राजधानी को भी खतरे में डाल दिया। इधर हिंद के शातिप्रेम ने पाकिस्तान पर हमला करके उसे नष्ट करने के बजाय संयुक्त राष्ट्रसंघ में मामला पेश करने की प्रेरणा की। उधर निजाम ने हैदराबाद मे इत्तिहादुल मुसल्मीन नामक साम्प्रदायिक संस्था को लूट मार की छूट देकर भीतर भीतर पाकिस्तान से साठ गाठ करके और हिन्द के साथ संबंध स्थापित न करके एक पेचीदा समस्या खड़ी कर दी। अन्त में पुलिस कार्रवाई के द्वारा उसका भी विलय कर दिया गया।

परिवार की शान

नजरबन्दी से छूट कर बाहर आया तो कुछ दूसरा ही दृश्य सामने था। सार्वजनिक कलह अनपेक्षित रूप में सामने आया और वियोग दुःख में परिणित हुआ। परन्तु जहा तक मेरे अपने घर का सम्बन्ध है अंजनादेवी और तीनो बच्चों ने जिस बहादुरी, शान, और कुर्बानी के साथ इस संकट काल को बिताया उससे किसी भी देशभक्त गृहस्थ को गर्व ही हो सकता है। इस इतिहास का सबसे उज्वल भाग, वह था जब चि० प्रताप तो गम्भीर रोग मे ही फंस गया था। उस समय मित्रो और पुलिस अधिकारियों तक ने चाहा कि मै पैरोल अर्थात् शर्तबन्द रिहाई पर निकल आऊं। इससे घरवालों को सहायता और सन्तोष प्राप्त हो सकते थे। यह प्रस्ताव ऐसा था कि मुझ तक पहुंचाने का तो किसी का साहस ही न हुआ। अंजनादेवी ने भी उस पर ध्यान नहीं दिया और १४ वर्ष के प्रताप ने यह कह कर ठुकरा दिया कि "पिताजी को दुश्मन के आगे झुका कर जीवित रहना मुझे स्वीकार नही है।"

ग्लानि

इस तरह की घटनाएं जितनी सुखद थी उतनी ही उन लोगो की हरकतों से तकलीफ़ पहुंची जिन पर भरोसा करके सारा काम काज और आर्थिक व्यवहार छोड़ रखा था। उधर कांग्रेस संगठन में भी विरोधी और ईर्ष्यालु तत्वो ने शत्रु के सामने आत्मसमर्पण करने वाले लोगों के साथ गुटबन्दी कर ली। पद और सत्ता की यहां तो कभी चाह हुई नहीं थी। इन सारी बातों से जी उचट गया और मैंने प्रेस वग़ैरा को बहुत सस्ते दामों पर बेच कर सेवाग्राम की राह ली।

निराशा

जब मैं सेवाग्राम पहुंचा तो वहां गोसेवा संघ का वातावरण बदल चुका था। गांधीजी की राय तो मुझी को मंत्रित्व का भार सौंपने की थी लेकिन संचालक मंडल का कुछ और ही विचार था। बापूजी मुझे थोपना मेरे स्वाभिमान के विरुद्ध मानते थे। मैं उनके विचार से सहमत नही हुआ और स्वतन्त्र विचरण करने के लिये गांधीजी का आशीर्वाद लेकर कोई १ महीने के बाद मैंने सेवाग्राम हमेशा के लिये छोड़ दिया। इस अवसर पर बापूजी ने एक बात ज़रूर कही थी कि संचालक मंडल के पास कोई और आदमी नही है और उसे अपने निर्णय पर किसी दिन पछताना पड़ेगा। कई वरस के बाद संचालक मंडल के कर्ता-धर्ता ने यह भूल स्वीकार की क्योंकि गोसेवा संघ के बारे में बापूजी और जमनालालजी की जो कल्पना थी वह कुछ भी साकार न हो पाई।

बापू की सेविकाएं

बापू की निजी सेवा का प्रायः सभी काम स्त्रियां करती थीं। खाने-पीने की व्यवस्था तो पूज्य कस्तूरबा किसी और को करने नही देती थीं। हा, उनका अपना खान-पान बापू से भिन्न प्रकार का था। बाकी बापू की मालिश जो रोज़ होती थी, उनके कपड़े धोने, बिस्तर लगाने, ग़रज़ यह कि उनके सारे कार्य मीरां बहन, राजकुमारी अमृतकौर, बीबी अन्तुलसलाम और डा० सुशीला नैयर के ही सुपुर्द थे। बापू की सेवा करने और अधिक स्नेह भाजन बनने के लिये इन चारों में स्पर्धा चलती रहती थी। एक दूसरे से ईर्ष्या भी थी, कभी कभी नोकझोंक और परस्पर आलोचनाएं भी होती थी। मेरे ख़याल से इनमें बापू के प्रति सबसे सच्ची भक्ति मीरां बहन में थी और सुशीलाजी सबसे ज्यादा लाड़ली मानी जाती थीं। मगर बापू के व्यवहार मे इस बहन के प्रति मुझे कोई मोह नज़र नहीं आया। इसका प्रमाण एक घटना से मिला। डा० सुशीला का आग्रह था कि बापू जब कहीं बाहर जायं तब वे उनके साथ ज़रूर हों। एक

बार बापू और किसी को साथ ले गये तो सुशीलाजी रूठ गई, शायद उपवास भी किया, परन्तु बापू ने इसे दुराग्रह समझा और उनकी बात नही मानी। जहां तक मैं समझ पाया, बापू को इन चारों मे सबसे अधिक प्रेम मीरा बहन से था क्योंकि एक बार बापू ने यह कहा था कि "मीरां पूर्वजन्म मे मेरी माता या बेटी होगी।"

बलवन्तसिंहजी

सेवाग्राम आश्रम के निवास काल मे मुझे एक सच्चे सुहृद भी मिले। वे हैं श्री० बलनन्तसिंह। ये खुर्जा तहसील के जाट हैं। कम पढ़े लिखे आदमी हैं। पहले अंग्रेजों की फ़ौज में थे, फिर गाधी की आंधी मे फंस गये और उनके निकटतम साथी बन गये। खेती और गोपालन मे माहिर हैं। अत्यन्त निर्भीक और मुंहफट हैं, परन्तु हृदय भावनाशील और स्वच्छ रखते हैं। मेरी इनकी दोस्ती अविचल रही है।

सतरह स्वतन्त्र विचरण

मैंने अगस्त १९४५ में सेवा ग्राम आश्रम को सदा के लिये छोड़ दिया। एक प्रश्न के उत्तर के रूप में मैंने बापू से विदाई सन्देश मांगा। सवाल यह था : "हिंसा का सबसे बुरा रूप क्या है ?" जवाब यह था : "प्रतिशोध हिंसा का वैसा ही रूप है जैसा दंभ असत्य का है। आवेश में हम किसी पर हाथ उठाले या हानि पहुंचादें तो इतना गम्भीर अपराध नहीं है, क्योंकि उसका वेग शान्त होने पर मनुष्य में पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त की भावना पैदा होती है। परन्तु जब इन्सान जान बूझ कर सोच विचार कर बदला लेने पर उतारू होता है तो वह इरादा पूर्वक हिंसा होती है। उसके लिये वह योजना बनाता है, घात लगाता है और सारी की सारी शक्ति केन्द्रित कर देता है। उसमें पछतावे या सुधार की कम से कम गुंजाइश रहती है। वह हिंसा सबसे खतरनाक होती है। जैसे, किसी ने तुम्हारे एक चाटा मार दिया तो एक गाल दुखेगा। तुमने बदले में उसके चपत लगा दी तो एक गाल की जगह दो गाल दुखेंगे, तुम्हारे गाल का दर्द तो मिटेगा ही नहीं। इसी तरह तुम्हारे लड़के को किसी ने मार दिया तो एक ही मा रोयेगी। अगर तुमने बदले में दूसरे लड़के को मार दिया तो उसकी मां और रोयेगी। तुम्हारा लड़का तो जी नहीं उठेगा।" इस सन्देश ने शीघ्र ही एक नाजुक मौके पर रामबाण औषधि का काम किया। मेरे दीर्घकालीन विरोधी के भ्रष्टाचार का भाडा फूट रहा था और मैं उसमें जरा भी हाथ लगाता तो सदा के लिये कांटा निकल सकता था। मगर बापू के विदाई सन्देश ने न केवल इस अवसर पर ही मुझे प्रतिशोध लेने से रोक दिया बल्कि बाद में भी हमेशा वह मेरा सही मार्ग दर्शन करता रहा है।

अनुवाद कार्य

अंग्रेजी और गुजराती से हिन्दी में अनुवाद करने का मुझे काफ़ी अभ्यास था और गांधीवादी हल्कों में उसकी अच्छी ख्याति थी। सेवा ग्राम छोड़ने पर मैंने इसी काम को अपनी आजीविका का मुख्य साधन बनाने का निश्चय किया। उस समय तक अनुभव के आधार पर मेरा यह विश्वास हो गया था कि नये भौतिकतावादी वातावरण में एक स्वाभिमानी और प्रमुख लोक सेवक को आर्थिक दृष्टि से संस्थाओं या व्यक्तियों की सहायता पर निर्भर न रहकर स्वावलंबन का मार्ग ही अपना लेना चाहिये। नवजीवन कार्यालय को जब मेरा यह विचार

मालूम हुआ तो उसने इसका स्वागत किया। फिर तो एक के बाद दूसरा अनुवाद का काम मेरे पास आता ही रहा। पिछले २० वर्षों में गांधीवादी साहित्य के मैंने कोई ५०००० पृष्ठों का अंग्रेजी और गुजराती से हिन्दी में भाषान्तर किया है। इससे मुझे गांधीवाद का विस्तृत ज्ञान तो प्राप्त हुआ ही, यह आत्म-सन्तोष भी हुआ कि मैं जिस विचार धारा को सर्वोत्तम मानता हूं उसके प्रसार में भी मेरा योगदान रहा। साथ ही कुछ समय इस तरह मेहनत करके रोजी कमाने में खर्च करके बाकी का सारा वक्त मैं किसी संस्था पर भार बने बिना उसके द्वारा सेवा कार्यों में लगा सका।

'नया राजस्थान'

साबरमती आश्रम में ही मैंने एक दैनिक निकालने की योजना बनाई। इस कार्य मे मुझे अपने मित्र डूंगरपुर के महारावल लक्ष्मणसिंहजी से बड़ा सहयोग मिला। उन्होंने स्वयं भी अच्छी रकम दी और उनके परिचय पत्रों से साल भर के अन्दर मुझे लगभग सवालाख रुपया मिल गया।

यह धनराशि राजाओं में जो अच्छे विचारों वाले थे उन्ही से प्राप्त हुई। पत्र की नीति शुरू से साफ़ तौर पर बता दी गई थी कि रियासती प्रजा को पूरी जिम्मेदार हकूमत दिलाने और राजाओं को जनता के प्रथम सेवक बनाने का प्रचार करना प्रस्तावित दैनिक का मुख्य कार्यक्रम होगा। इसे सभी दानदाताओं ने सहर्ष और विचारपूर्वक स्वीकार किया। मैंने यह बात छुपाई भी नही और वैसे भी लोगों को मालूम हुवा कि रुपया सब राजाओं से मिला है। मेरे विरोधी इस ताक में रहे कि 'नया राजस्थान' (हमारे दैनिक का यही नाम था) में कोई ऐसी बात छपे जो राष्ट्रवाद और लोकतन्त्र के विरुद्ध और सामन्तवाद के पक्ष में हो। परन्तु ऐसी कोई बात ही नहीं थी, बल्कि जब किसी राजा की प्रशंसा में एक भी शब्द नही निकला तब उनके आश्चर्य की कोई सीमा न रही। पत्र जल्दी ही लोकप्रिय हो गया और राजस्थान में ही नहीं, और प्रान्तों में भी उसका एक विशेष स्थान माना जाने लगा। उसकी ग्राहक संख्या भी तेज़ी से बढ़ी और शासन पर भी उसके लेखों का प्रभाव पड़ने लगा।

चीफ़ कमिश्नर से संघर्ष

लेकिन अजमेर मेरवाड़े में उन दिनों श्री शंकरप्रसाद आई० सी० एस० नाम के चीफ़ कमिश्नर आये हुए थे। वे योग्य और दबंग शासक तो थे परन्तु जितनी रंगीली तबियत के आदमी थे उतने ही निरंकुश स्वभाव के मालिक भी थे। लोकशाही के युग ने उनकी नौकरशाही वृत्ति को कम करने के बजाय देश

विभाजन की विशेष परिस्थिति ने उन्हें और भी निरंकुश बना दिया था। वे अलोचना को बिलकुल सहन नही करते थे। मेरे लिये उनकी आलोचना अनिवार्य हो गई थी क्योंकि कुछ तो उनकी कार्यवाहिया मनमानी थी और कुछ अजमेर मेरवाड़े को जो सलाहकार कौंसिल दी गई थी वह मेरे और जनता के ख्याल से लोकतंत्र का मज़ाक़ और ढकोसला थी। अत. मुझे उसकी रचना और कार्यवाही पर सतत प्रहार करने पड़े। दुर्भाग्य से राष्ट्रीय संग्राम के मेरे कुछ साथी इस कौंसिल के सदस्य या समर्थक थे। अतः उनपर भी नुकताचीनी होती थी और वे भी चीफ़ कमिश्नर के साथ मिल गये। 'नया राजस्थान' के विरुद्ध क़दम उठाने का बहाना भी चीफ़ कमिश्नर को जल्दी मिल गया। उन दिनो हिन्दू मुस्लिम दंगो का ज़ोर था। मैं तो जीवन भर एकता का हामी रहा था। मेरे लिये दोनों जातियो मे फूट फैलाने या अल्प संख्यकों के प्रति घृणा उत्पन्न करने की कल्पना भी नही की जा सकती थी। लेकिन एक मामूली सी खबर की आड़ लेकर 'नया राजस्थान' पर सैन्सर लगा दिया गया। मुझे ऐसी किसी कार्यवाही की आशंका पहले ही हो चुकी थी। अतः मैंने अखबार का डिक्लेरेशन और दो तीन नामों से भी ले रखा था। मैंने सैन्सर की परवाह न करके अखबार को एक दिन भी बन्द रखने के बजाय दूसरे नाम से निकाल दिया। चीफ़ कमिश्नर साहब मात खाकर झल्ला उठे और स्वराज्य में भी साम्राज्यवाद और सामन्तवाद के तरीको पर उतर आये। उन्होने हमारे यहां से निकलने वाले सभी अखबारों पर पाबन्दी लगादी। लाचार होकर मुझे अखबार का प्रकाशन स्थगित करना पड़ा। लेकिन मैं इस अन्याय को सहन करने वाला तो था ही नही। पहले तो मैंने कुछ मित्रों के द्वारा चीफ़ कमिश्नर को समझा बुझाकर भूल सुधार करने की प्रेरणा दिलवाई। इससे भी काम न चला तो चुपचाप तीन दिन का उपवास किया। मगर चीफ़ कमिश्नर टस से मस न हुये। उनका आग्रह था कि या तो मैं एक दिन के लिये सैन्सर कराऊं या माफ़ी मागूं। यह चोर कोतवाल को डाटने की बात मुझे मंजूर न हुई। अन्त मे मेरे विरोधियो तक ने यह देख कर कि चीफ़ कमिश्नर के जाने का समय निकट आ रहा है उन्हें सलाह दी कि जाते जाते इस बदमज़गी को दूर करते जायें। मगर वे न माने।

चतुर्वेदीजी का असफल प्रयत्न

मेरे मित्र पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी को स्वराज्य में इस स्वेच्छाचार का पता चला तो उन्हे बडा आश्चर्य और दुःख हुआ। उन्होंने पूरा हाल जानना चाहा तो मैंने उन्हे १४-५-४८ को एक विस्तृत पत्र लिख भेजा। उसके आधार पर उन्होंने हाई कमाण्ड का द्वार खटखटाया, मगर हमारे नेता तो उस समय

नौकरशाहों के भक्त बने हुए थे, उन्हे अपने स्वातंत्र्य-संग्राम के साथियों की क्या पड़ी थी ? मेरा वह पत्र यह था :

अजमेर
१४-५-४८

प्रिय बन्धु,

'नया राजस्थान' का असली किस्सा यूं है :—

'नया राजस्थान' दैनिक रूप मे शुरू सितम्बर १६४७ से निकलने लगा। उस वक्त वर्तमान चीफ़ कमिश्नर श्री० शंकरप्रसाद आई०सी०एस० आये ही थे। मैंने उनसे अजमेर पत्रकार संघ के अध्यक्ष की हैसियत से कुछ और पत्रकारों सहित मुलाकात की। उनके व्यवहार में शिष्टता की कमी रही। इस पर मैंने उनका ध्यान खीचा। उन्होंने जवाब तो न दिया, पर मालूम होता है उन्होने इसे एक पत्रकार जैसे बेहैसियत आदमी की धृष्टता समझा। पहली गांठ उन्होंने मेरे खिलाफ़ यह बाधी।

फिर उन्होंने एक सार्वजनिक कार्यकर्त्ता को यह कहा कि यहां के कार्यकर्त्ताओं ने क्या समझ रखा है, में एक एक को खटमल की तरह मसल कर रख दूंगा। मेरे पास यह खबर छपने आई। अपनी निश्चित नीति के अनुसार मैंने उसे छापने से पहले उन्हें पूछा कि यह कहा तक सही है। उन्होंने इसका जवाब न देकर मेरे प्रतिनिधि से कहा कि ये खानगी बातचीत थी, इसे छापना तो नही चाहिये। मैंने उनकी दलील तो नही मानी, मगर उनकी भावना का लिहाज़ करके छापा नहीं। इसमें भी उन्होंने समझा कि उन्हे नीचा देखना पड़ा, यह दूसरी गाठ थी जो मेरे खिलाफ़ उन्होने बांधी।

२० सितम्बर १६४७ के आस पास 'नया राजस्थान' में इस आशय की खबर छपी कि अजमेर में अफ़वाह है कि निज़ाम हैदराबाद ने दरगाह की रक्षा के लिये २००० अरब भेजे हैं। बस इसीके आधार पर चीफ़ कमिश्नर ने सारे अखबार को सैंसर कराकर छापने की आज्ञा जारी करदी। कोई चेतावनी नहीं दी गई, प्रेस एडवाइज़री कमेटी की सलाह नहीं ली गई और न सैंसर के लिये कोई मियाद दी गई। लेकिन चूंकि आज्ञा मेरे नाम पर सम्पादक की हैसियत से थी, मैंने सम्पादक-पद से त्यागपत्र देकर इस आज्ञा को बेकार कर दिया और अखबार को बचा लिया। यह तीसरा कारण चीफ़ कमिश्नर को मुझसे नाराज़ होने का मिल गया।

चौथा कारण उन्हे शुरू से ही यह मिला कि मैं रोज अजमेर मेरवाड़े के निरंकुश शासन के बजाय लोकप्रिय शासन कायम होने पर ज़ोर देता रहा हूं। इसमे मौजूदा शासन के दोष दिखाने का कटु कर्तव्य मुझे करना ही पड़ता रहा।

पाचवां कारण यह हुआ कि मैं सरकारी नौकरो को सार्वजनिक समारोहो में अध्यक्षपद और अनावश्यक सम्मान दिये जाने का विरोध करता रहा हूं।

लेकिन इस बीच में यहा गम्भीर दंगे शुरू हुए। जनता में चीफ़ कमिश्नर की स्थिति बहुत ही अप्रिय हो गई। उन्हे मेरे सहयोग की ज़रूरत महसूस हुई। हरिभाऊजी के मारफ़त मुझे उन्होंने खाने का निमंत्रण दिया। मैंने समझा उन्होने अप्रत्यक्ष ढंग से अपनी भूल समझ ली है और वे प्रायश्चित्त करना चाहते हैं। मैं उनके घर गया और उस दिन से सहयोग शुरू हो गया। मैंने अपने स्वभाव के अनुसार समझ लिया कि उनका दिल साफ़ हो गया। मगर वे तो पूरे I. C. S. ठहरे। उनका दिल नही बदला था।

इधर जवाहरलालजी और सर्दार ने दंगो के सम्बन्ध में चीफ़ कमिश्नर की पीठ ठोंकी तो इनके और भी हौसले बढ़ गये। इन्होंने एडवाइज़री कौंसिल की भी उपेक्षा करना शुरू कर दिया। थोड़े ही दिन में इन्हे पंजाब सेफ़्टी एक्ट के मातहत असाधारण अधिकार मिल गये।

थोड़े दिन बाद महात्माजी की हत्या हुई और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ ग़ैर कानूनी करार दिया जाकर उसके लगभग १०० आदमी यहां भी गिरफ़्तार हुए। इस बारे में मैंने खास तौर पर स्थानीय शासन को सहायता दी। मगर जनता को यह आम शिकायत रही कि छोटे और ग़रीब कार्यकर्त्ता तो पकड़ लिये गये, मगर अमीर और प्रभावशाली सहायक अछूते रह गये क्योकि वे अधिकारियो के खुशामदी थे। यह बात इतनी सही है कि चीफ़ कमिश्नर की एडवाइज़री कौंसिल के मेम्बरो, बार असोसियेशन के जिम्मेदार अधिकारियों, प्रमुख कांग्रेसियों और खुद पुलिस अफ़सरो ने इसकी पुष्टि की। बस यही शिकायत एक सम्वाद के रूप में छपी। मगर यह तो एक बहाना था। असल बात दूसरी ही थी। वह यह कि चीफ़ कमिश्नर इन दिनों बीमार हुए, मगर छुट्टी भी नही ली और काम पर भी नही आये। उधर गांधीजी के मातम की महत्वपूर्ण रस्मों मे शरीक न हुए, मगर सेठ भागचन्द सोनी के लड़के के विवाह में जयपुर ज़रूर गये। मेरे पास इस सम्बन्ध मे चीफ़ कमिश्नर की एडवाइज़री कौंसिल के एक मेम्बर ने एक अंग्रेज़ी सम्वाद के रूप में छपने को खबर भेजी। मैंने उसे न छाप कर चीफ़

कमिश्नर को लिख कर पूछा कि यह कहां तक सही है। उन्हें जब अब मैंने दूसरों के बारे में ऐसा पूछा, उन्होने मेरे कार्य की कद्र की लेकिन अपनी बारी आते ही मेरे सौजन्य को न सराह कर इसे अपना अपमान समझा।

जिन 'बड़े' आदमियों के संघी होने पर भी न पकड़े जाने का ऊपर ज़िक्र आया है उनके नाम मुझे मालूम हुए तो उन्हें भी मैंने लिख कर पूछा कि आपका संघ से क्या सम्बन्ध रहा है। उन्होने मेरे सौजन्य को सराहा। लेकिन इस बीच में चीफ़ कमिश्नर को मेरे इस पत्र व्यवहार का पता चला और उनकी तरफ़ से यह प्रचार शुरू किया गया कि मैं इन लोगों पर अनुचित दवाव डालना चाहता हूं और चीफ़ कमिश्नर सा० ने प्रतिष्ठित और अमनपसन्द नागरिकों की रक्षा का अपना पवित्र कर्त्तव्य अदा करने के लिये अखबार पर बन्धन लगाना मुनासिब समझा है। इनमे से एक ········ कालेज के प्रिंसिपल हैं जो इनके हम फला हम निवाला हैं। मुझे जब यह मालूम हुआ तो मैंने तीन चार प्रतिष्ठित मित्रों द्वारा चीफ़ कमिश्नर का समाधान कराने की कोशिश की और पत्र भी लिखा कि मेरा किसी पर अनुचित दवाव डालने का कतई इरादा न था, बल्कि न्याय और शिष्टता के नाते उनकी बात जाने बिना न छपने की नीति का ही अनुसरण करना है। मैंने यह भी प्रस्ताव किया कि या तो मुझ पर मुकदमा चला कर मुझे अपनी स्थिति साफ़ करने का मौका दिया जाय या किसी निष्पक्ष पंच के सुपुर्द करके फ़ैसला करा लिया जाय। मगर चीफ़ कमिश्नर टस से मस नहीं हुए। सुना है अब तो वे यहा तक कहने लगे हैं कि मेरे रहते 'नया राजस्थान' निकल नहीं सकता। मेरे पास भी यह प्रस्ताव भेजा गया है कि मैं चीफ़ कमिश्नर को उपरोक्त ढंग से पत्र न लिखने का वादा करूं, पत्र को चार पांच दिन सेंसर करा लूं और स्थानीय शासन की मदद करने का (यानी टीका न करने का) वचन दूं तो सेंसर हट सकता है। एक ईमानदार और सिद्धान्त रखने वाले पत्रकार व कार्यकर्त्ता की हैसियत से मैं ऐसा कोई आश्वासन नहीं दे सकता।

बात यहीं खत्म नहीं होती। मुझे जो टेलीफ़ोन देना मंजूर किया गया था वह मंजूरी रद्द कर दी गई है, प्रेस का नया डिक्लेरेशन तक नहीं दे रहे हैं और छोटी छोटी खबरों पर मुकद्दमे चलाने व चलवाने की कार्रवाइयां की जा रही हैं। ग़रज़ यह कि मुझे नाक रगड़ने पर मजबूर करने या कुचल देने के कुचक्र चल रहे हैं।

इतना ही नहीं, यहां के पत्रकारों में भी फूट डाल दी गई है और कुछ को ललचाकर और कुछ को डरा कर दबा दिया गया है।

कार्य स का तो यहा बहुत ही बुरा हाल है। वह बिल्कुल मुर्दा हो गई है। उसमें इतनी फूट, गंदगी और सिद्धान्तहीनता आ गई है कि उसका कोई प्रभाव न जनता में है और न अधिकारियों में। चीफ़ कमिश्नर से तंग सब हैं, मगर कोई चूं नही करता है। एक मैं था तो उसे यह भुगतना पड़ रहा है।

आप छपी हुई सामग्री के साथ इस पत्र को पढ़ कर जो कार्रवाई ठीक समझें करें।

आपका
रामनारायण चौधरी

स्वेच्छाचार की पराजय

जब चतुर्वेदीजी भी कुछ न कर सके तो अन्त में मैंने अपना यह निश्चय चीफ़ कमिश्नर को कहलवा दिया कि उनका तबादला होने से पहले २ उन्हे अपना आदेश बिना शर्त वापिस लेना पड़ेगा। मुझे मालूम था कि चीफ़ कमिश्नर स्वर्गीय श्री रफ़ी अहमद किदवई के आदमी थे। किदवई साहब से मेरा परिचय तो था लेकिन वह पुराना हो गया था और मुझे आशंका थी कि कही वे भूल न गये हों। अतः मैं आगरे गया और मेरे तथा किदवई साहब के मित्र श्री कृष्णदत्तजी पालीवाल और हमारे साथी श्री जगनप्रसाद रावत से मिला। पालीवालजी से मैंने किदवई साहब के नाम एक पत्र लिया और रावतजी और मैं दिल्ली चले गये। किदवई साहब के यही ठहरे। जब मैंने उन्हे पालीवालजी का पत्र दिया तो उन्होने उलाहना दिया। सारी बात सुनकर उन्होने रावतजी के द्वारा चीफ़ कमिश्नर को टेलीफ़ोन करवाया कि 'नया राजस्थान' पर से प्रतिबन्ध तुरन्त हटा लिया जाये। शायद कोई कड़ी बात भी कहलवाई गई हो। जब दो तीन दिन के बाद मैं अजमेर पहुचा तो मुझे चीफ़ कमिश्नर की एक सूचना रखी हुई मिली, जिसमें यह लिखा हुआ था कि 'नया राजस्थान' पर से तुरन्त पाबन्दी हटाई जा रही है।

यह 'तुरन्त' शब्द अनावश्यक था और चीफ़ कमिश्नर की घबराहट का प्रमाण था। इस सारे अप्रिय काण्ड मे एक बात से मुझे संतोष हुआ कि अजमेर छोड़ते समय चीफ़ कमिश्नर महोदय ने एक बड़े पुलिस अफ़सर के द्वारा कहलवाया कि मुझे न पहचानकर उन्होंने बड़ी ग़लती की थी।

राजदूत पद की पेशकश

लेकिन किदवई साहब ने तो दो दिन के आतिथ्य में एक बड़ा प्रस्ताव ही सामने रख दिया। उन दिनो ईरान में भारत के राजदूत श्री अली ज़हीर थे।

किदवई साहब के कथनानुसार उनके काम से पंडित नेहरू सन्तुष्ट नहीं थे और किसी तपे हुए देशभक्त को भेजना चाहते थे। किदवई साहब जानते थे कि मैं उर्दू और थोड़ी सी फ़ारसी पढ़ा हूं। उन्होंने पूछा, "क्या आप जाने को तैयार होंगे ?" मैंने पूछा, "वहां कैसे रहना सहना होगा और क्या करना होगा ?" उन्होंने उत्तर दिया, "अंग्रेजी पोशाक पहननी होगी।" मैंने अरुचि बताई तो अचकन और चूड़ीदार पजामे पर समझौता हुआ। "लेकिन वहां गुप्तचरी तो करनी ही होगी" वे बोले। मैंने कह दिया, "यह मेरे बस की बात नहीं और मेरे सिद्धान्तों के विरुद्ध है।" फिर भी वे अपने प्रस्ताव पर आग्रही रहे और फ़ारसी का ज्ञान ताजा करने के लिये एक दो पुस्तकें मुझे देकर फिर विचार करने की सलाह दी। आखिर अजमेर पहुंच कर सब हितैषियों की सम्मति के विरुद्ध मैंने किदवई साहब का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया।

रफ़ी अहमद किदवई

किदवई साहब के दो दिन के आतिथ्य के दौरान एक मजेदार घटना भी हुई। नेहरूजी और सरदार पटेल के मतभेद सभी को मालूम थे। किदवई नेहरूजी के खास आदमी और विश्वस्त मित्र थे। उन्होंने अपनी दराज से निकाल कर रियासती विभाग के सचिव और सरदार के दाहिने हाथ श्री वी० पी० मेनन के एक पत्र की नकल मुझे अचानक दिखाई। यह फ़ोटोस्टेट कॉपी थी। पत्र उड़ीसा के किसी महाराजा को लिखा गया था। उसका आशय यह था कि महाराजा साहब ने अच्छा किया जो सरदार की सलाह मान ली अन्यथा दूसरी कार्रवाई की जाती। जब मैंने पत्र पढ लिया तो किदवई साहब बोले : "देखा आपने, राजाओं को कैसे विलय के लिये राजी किया गया है। यह है नमूना हमारे रियासती विभाग की होशियारी और राजाओं की देश भक्ति का जिसका इतना ढोल पीटा गया है।" मैंने विनोद मे इतना ही कहा : "इतनी ताकत के साथ तो मैं किसी चपरासी से भी यह काम करा सकता था।" किदवई साहब की मृत्यु के बाद एक दिन इस घटना का जब मैंने नेहरूजी से जिक्र किया तो वे भी कहने लगे : "हां, मेनन ऐसी बातें करते रहे है, यह मुझे भी बताया गया था।" मैंने समझ लिया कि बड़े लोगों मे मानवीय विकार तो आम आदमियों की तरह ही होते हैं, मगर वे प्रकट दूसरे तरीकों पर होते हैं। बहरहाल, रफ़ी अहमद किदवई जैसा सच्चा राष्ट्रीय मुसलमान मैंने नहीं देखा। उनका रहन सहन निहायत सादा, रवैया सहायक और दिमाग़ बड़ा सूझ बूझ वाला था। दिल तो उनका कांच का सा था ही।

राजाओं का सहयोग

'नया राजस्थान' के लिये धनसंग्रह के सिलसिले में मुझे राजस्थान, मध्यभारत, पंजाब, उत्तर प्रदेश, उड़ीसा और बंगाल का दौरा करना पड़ा। मेरे पास मूल परिचय पत्र तो महारावल साहब डूंगरपुर का ही था। उन्होंने शुरू में पाच सात राजाओं से सिफ़ारिशें की और फिर इन लोगो से दूसरों के नाम खत लिखवा लिये गये। निश्चय यह था कि सबसे राज्य की वार्षिक आय का एक प्रतिशत सहायतार्थ लिया जाय। अधिकांश ने सहायता दी और इसी हिसाब से दी। इस सफलता का मुख्य श्रेय तो महारावल लक्ष्मणसिंहजी को ही था। वे सचमुच राजाओं में, खास तौर पर छोटों मे बहुत लोकप्रिय थे। दूसरा कारण कामयाबी का मेरा बापू के साथ दीर्घकालीन सबंध था। मैंने सभी राजाओं मे महात्मा गांधी के प्रति गहरी श्रद्धा पाई। पत्र की घोषित नीति भी बहुत सहायक हुई।

गांधीजी पर श्रद्धा

इस श्रद्धा का एक उदाहरण उल्लेखनीय है। मध्यभारत मे नागोद एक बहुत छोटी सी रियासत थी। जब मैं वहा पहुंचा तो मेरा सबसे अधिक स्वागत सिर्फ़ इस लिये हुआ कि मैं गाधीजी का पुराना साथी था। राजा साहब नौजवान थे। उन्होंने मुझे चन्दा तो बूते से ज्यादा दिया ही, मेरे लिये राजमहल का पर्दा भी तोड़ दिया गया। उनकी रानी मुझसे निःसंकोच मिलती और बात करती रही, यहा तक कि उन्होने अपनी अत्यन्त गोपनीय पारिवारिक समस्या वर्णन करके उसे हल करने का मुझसे अनुरोध किया। उनके पतिदेव ने भी ऐसी इच्छा प्रकट की। बात यह थी कि राज्य और प्रजामंडल के संघर्ष मे लोकनेताओं और राजा साहब के बीच शत्रुता उत्पन्न हो गई थी और हिंसा प्रतिहिंसा की नौबत आती दिखाई दे रही थी। रानी बहुत चिन्तित थी। उनके प्रस्ताव पर मैंने राजा साहब को समझाया और वे शान्त हो गये। इस पर रानी ने बाद मे जो पत्र लिखा उसमे ये शब्द थे : "पूज्य पिता, आपने मुझे उबार लिया।" यह सब बापू का ही पुण्य प्रताप था।

मुस्लिम लीग का 'मुक्ति दिवस'

कलकत्ते में मुस्लिम लीग ने १६ अगस्त, १९४६ को 'मुक्ति दिवस' मनाया था। मैं उस दिन विवेकानंद रोड और चित्तरंजन ऐवेन्यु के जोड़ पर स्थित एक मकान में ठहरा हुआ था। पास ही मुसलमानो की बस्ती थी। वहा से मैं हिन्दू और मुसलमान दोनों की गुण्डागर्दी देख सकता था। उनकी कार्यपद्धति यह थी

कि जो अभागा उधर से गुज़रता था उसे सशस्त्र दंगाई रोक कर नंगा कर देते थे और इस तरह उसके हिन्दू या मुसलमान होने का निश्चय करके परधर्मी उसे लाठियों से बिछा कर काट देते थे। हमारे मकान के नीचे कुछ दुकानें मुसलमान पिंजारों की थी। उन्हे जान का खतरा हुआ तो कुछ भले मारवाड़ियों ने ऊपर की मंज़िल पर एक कमरे में शरण दे दी, लेकिन दरबान लोग बिहारी हिन्दू थे, वे खून का बदला खून से लेने पर कटिबद्ध थे। उन्हे किसी तरह रहस्य प्रकट हो गया और वे पिंजारों को मारने चले। मुझे मालूम होते ही मैंने गांधीजी की दुहाई दी और जब मैंने उनसे कहा कि बापू को इस कृत्य से कितना आघात पहुंचेगा तो वे उस क्रूर कृत्य से विमुख हो गये। सुबह होते ही पिंजारों को पुलिस की लारी में सकुशल घर पहुंचा दिया गया।

त्रिपुरा यात्रा

मुझे त्रिपुरा जाना था। जब रेल का टिकट मंगवाया तो बाबू ने पूछा: "हिन्दू डिब्बे का टिकट चाहिये या मुसलमान डिब्बे का?" मुझे आश्चर्य तो हुआ पर मैंने मुसलमान डिब्बे का ही टिकट खरीदा। रिश्तेदारों के मना करने पर भी जब डिब्बे मे पहुंचा तो वहां बैठे हुए चारों मुसाफ़िरो को भी अचंभा हुआ। मेरे शिर पर गाधी टोपी थी ही, मैंने जाते ही बातचीत भी बापू की, उनके आश्रम की और उनके विचारों की शुरू कर दी। मैंने देखा कि उन बुरे दिनो में भी शिक्षित मुसलमानो के दिलों में महात्माजी की बड़ी इज्जत थी। शायद इसी लिये मेरी यात्रा बड़े आनंद से पूरी हुई।

विदेशियों की गांधी भक्ति

गोलंदों से जहाज़ में सवार होने पर और भी खतरनाक दृश्य था। हज़ारों यात्रियों में मैं अकेला गांधी टोपीधारी और हिन्दू था। सबकी नजर मेरी ओर थी और शायद उनका खयाल था कि यह बलिदान का बकरा कहां से आ गया। अंग्रेज़ जहाजी कम्पनी का बाबू भी कहने लगा: "तुम्हारी मौत आई है जो गांधी टोपी लगा कर आये हो।" मैंने उसकी सद्भावना के लिये धन्यवाद दिया मगर मुझे कोई डर नही था क्योंकि एक तो राजस्थानी और दूसरे गाधीवादी होने का मुझे भान था। जहाज़ में खाने के समय कई गोरे यात्रियों से भेट हुई। सबके हृदयों मे बापू के प्रति श्रद्धा और जिज्ञासा थी। लौटते समय मैं ढाका होकर रेलमार्ग से आया तो चार सशस्त्र मुसलमान युवक मेरे डिब्बे में ही सवार हो गये। परन्तु न तो मुझे भय था और न उनका कोई बुरा इरादा ही जाहिर हुआ क्योंकि उनसे भी मैंने गांधी चर्चा कर ली थी। वैसे वे जा भी रहे थे शि-शिकार पर।

टोपी नहीं उतरी

मैं मध्यभारत से अजमेर लौट रहा था तो चित्तौड़ के पास हमारी रेल पटरी से उतर गई। उसमे ख्वाजा साहब के मेले में आने वाले मुसलमान यात्री बहुत और हिन्दू थोड़े से थे। सुनसान जंगल था। हम लोग बाहर निकल कर खड़े हो गये तो मेरी गाधी टोपी देखकर एक आर्य समाजी भाई आये और कहने लगे : "मैं भी गाधी टोपी लगाता हूं, मगर अभी छुपा ली है। आप भी ऐसा ही कीजिये, क्योकि ये दंगों के दिन है और मुसलमान यात्रियो में हिन्दू मुसाफ़िरों पर हमला करने की कुछ कानाफूसी सी भी हो रही है।" मैंने सुझाव दिया कि भयभीत और सशंक होने के बजाय हम टोपी लगा कर सब यात्रियों की कुशल पूछें और सेवा करे तो यह अधिक शोभास्पद भी होगा और रक्षक भी सिद्ध होगा। हम दोनो ने ऐसा ही किया और फल भी वही निकला। हमें मुसलमान यात्रियों ने बड़े प्रेम से भोजन भी कराया। इसी अवसर पर मैंने राजस्थान के वर्तमान मुख्यमंत्री मोहनलालजी सुखाड़िया को पहले पहल देखा। वे सौ० नारायणी बहन के साथ रेल दुर्घटना के समाचार पाकर कष्ट निवारण कार्य के लिये आये थे। होनहार नवयुवक दिखाई दिये।

प्रवेश निषेध हटा

इसी दौरान में बापूजी की प्रेरणा से राजकुमारी अमृतकौर के लिखने पर मेवाड़ राज्य ने १८ वर्ष से चली आ रही मेरे विरुद्ध प्रवेश निषेध की आज्ञा उठा ली। मैंने रियासत की सरकार से इस संबंध में कभी कोई दर्खास्त नही की थी। राजकुमारीजी की खुद की भी मेरे मामलो मे दिलचस्पी थी क्योंकि जब हम सेवाग्राम मे साथ थे तब मैं उन्हे हिन्दी पढाता था और बदले मे वे मेरे बच्चो को अंग्रेज़ी पढ़ाती थी। हमारे बीच काफ़ी घनिष्टता थी।

अजमेर में दंगे

देश विभाजन के सिलसिले में अजमेर मे भी दंगे हुए। दानव लीलाएं दोनो ओर से हुईं, परन्तु हिन्दू बहुसंख्यक थे, इसलिये उनकी ज्यादतिया अधिक प्रकट हुईं। इस नगर में मुस्लिम लीग और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ दोनो का ज़ोर था, इसलिये उत्पात और भी तीव्र हुए। इस अवसर की दो घटनाएं मुझे ख़ास तौर पर याद हैं।

जियालालजी की मानवता

एक तो यह थी कि एक मुसलमान मुहल्ला हिन्दू दंगाइयो से घिर गया था। उन दिनों स्व० पंडित जियालालजी और मैं साथ साथ शहर मे गश्त

लगाते थे। जियालालजी कट्टर आर्यसमाजी थे और उनका हिन्दू-मुस्लिम विवाद मे मुसलमानों का विरोध सर्वविदित था। परन्तु इन दंगों के दौरान मैंने इस आदमी में जो मानवता देखी वह आश्चर्यजनक थी। जब हम विपद्ग्रस्त स्थान पर पहुंचे तो वहा के स्त्री-पुरुष, बच्चे और बूढ़े सभी की दीन हीन और भयभीत अवस्था को देखकर जियालालजी की आखे भर आईं और उन्होंने सैकड़ो मुस्लिम नरनारियों को अपनी जान जोखम मे डालकर जिस बहादुरी से बचाया उसे स्मरण करके आज भी मैं गद्‌गद् हो जाता हूं।

संघी युवकों का छुटकारा

दूसरी घटना यह थी कि अजमेर के बहुत से संघी नवयुवक दंगों के सिलसिले मे सन्देह पर गिरफ़्तार कर लिये गये थे। उनमें से कुछ के घर वाले मेरे पास आये। बड़े परेशान थे। मैं कोतवाली पहुंचा तो वे नौजवान क़तार मे बैठे थे। वे भी डरे हुए थे। मैंने पूछताछ की तो उन्होंने अपने को निर्दोष बताया। मैं यह तो नहीं समझ पाया कि वे सभी बेक़सूर थे, परन्तु उनके और उनके परिजनों के चेहरे मुझे सहानुभूति के पात्र लगे। उन दिनों अजमेर के पुलिस कप्तान ठाकुर सुधर्इसिह थे। उनके दिल मे पुराने देशभक्तो के प्रति बहुत आदर था। मेरी सिफ़ारिश पर उन्होने प्रायः सभी गिरफ़्तार और बंदी संघी युवकों को रिहा कर दिया।

इस उपकार का बदला इन लोगों ने भी अप्रत्यक्ष रूप में १९५२ के आम चुनावों मे मेरी आलोचनाओं को सहन करके दिया। बीच में संघवालों ने एक बार मुझे अपने किसी सम्मेलन का अध्यक्ष बना कर यह आशा भी रखी थी कि चूंकि मैं उस समय कांग्रेस से असन्तुष्ट था इसलिये शायद मैं उनसे मिल जाऊंगा या हमदर्दी रखने लगूंगा। लेकिन जब मैंने उनकी रीति नीति के एक पहलू का घोर विरोध किया और उनके उस कार्यकलाप को आड़े हाथो लिया तब उन्हें बड़ी निराशा हुई और पता लगा कि जिन व्यक्तियों के कुछ सिद्धान्त, कुछ आदर्श और कुछ मिशन होते है वे अपनों से, अपनी संस्था से असन्तुष्ट होकर मार्ग से विचलित नहीं हुआ करते। यही कारण था कि चुनाव में खुद खड़ा न होकर भी मैंने कांग्रेस का साथ दिया।

समाजवादी दल में

इसके कुछ अर्से बाद दिल्ली से एक राजनैतिक तूफ़ान उठा जिसमे कांग्रेस के कई बड़े बड़े लोग उस संगठन से अलग हो गये। क़िदवई साहब ने भी इस्तीफ़ा दे दिया। आम खयाल यह था कि पंडित नेहरू भी शीघ्र ही इस नये

दल में शरीक होंगे। मैं भी उन दिनों कांग्रेस के अनेक पुराने कार्यकर्त्ताओं की तरह कांग्रेस के रंग ढंग से असन्तुष्ट था। मैं भी उससे अलग हो गया। उधर पंडित नेहरू ने कांग्रेस नहीं छोड़ी और उनके कहने सुनने पर किदवई साहब फिर कांग्रेस और उसकी सरकार में चले गये। मेरे लिये इतनी जल्दी रंग बदलना कठिन था। मैं अपने स्वभाव के अनुसार समाजवादी दल मे मिला रहा और उत्साह से काम करने लगा। 'नया राजस्थान' का प्रकाशन दुबारा आरम्भ किया गया और उसके द्वारा प्रान्त में समाजवादी विचारधारा का ज़ोरो से प्रचार होने लगा। परन्तु थोड़े ही अर्से मे मुझे अनुभव हो गया कि जो समस्याएं कांग्रेस मे सत्ता के कारण पैदा हो गई थी वे सत्ता के बिना ही समाजवादी दल मे बढ़ रही थी। उनमे से एक यह थी कि व्यक्तित्व के लिये योग्य स्थान नही था।

वापस कांग्रेस में

इतने मे ही १९५२ के आम चुनाव आ गये। पंडित नेहरू ने पुराने कांग्रेसियो से कांग्रेस में लौट आने की अपील की। अजमेर मेरवाड़ा कांग्रेस के अध्यक्ष और मंत्री मुझसे मिले और उस अपील को दोहराते हुए चुनाव मे सहयोग देने का अनुरोध किया। संसद या विधान सभा मे खड़े होने का प्रस्ताव भी आया। लेकिन मुझे तो इस ओर कभी रुचि थी ही नही। मैंने वह प्रस्ताव तो अस्वीकार कर दिया, परन्तु कांग्रेस के शरीक होकर चुनाव मे मदद देना मंजूर कर लिया। मुझे तुरन्त प्रान्तीय कांग्रेस का उपाध्यक्ष और पार्लियामेंटरी बोर्ड का सदस्य बना लिया गया। इस हैसियत से मैंने अन्त तक चुनाव का काम किया और कांग्रेस मे अपने विरोधियो के पक्ष मे ख़ास तौर पर परिश्रम किया।

प्रथम आम चुनाव

इस चुनाव मे कांग्रेस ने पूरे स्थानों पर और जनसंघ ने आधी जगहो पर अपने उम्मीदवार खड़े किये थे। उसमें इस्तमुरारदार भी थे। कांग्रेस विरोधियो का खंडन करने का भार मुख्यतः मुझ पर ही आ पड़ा। मैंने बापू वाली आलोचना पद्धति अपनाई। मुझे मालूम था कि दो तीन विरोधी उम्मीदवार कांग्रेसी उम्मीदवारो से अधिक अच्छे इन्सान और पुराने लोकसेवक थे। मैंने अपने भाषणो मे इस बात को मुक्त कंठ से स्वीकार किया। परन्तु मेरे दो प्रहार ऐसे थे जिनका उत्तर विरोधी दल के पास नही था। एक तो यह कि चुनाव का उद्देश्य सरकार बनाना होता है, परन्तु विरोधी दल के पास तो आधे से ज्यादा उम्मीदवार ही नही थे। यदि वे सब चुन लिये जायं तब भी उनकी हुकूमत नही बन सकती। दूसरे, वे गोरक्षा की बड़ी दुहाई देते थे। परन्तु जहा वे गोवध करने वाली ब्रिटिश

सरकार के सामने म्याऊं बने रहे और जहा उनके कुछ इस्तमुरारी उम्मीदवार तो अंग्रेज प्रभुओं के आतिथ्य मे गोमांस भी मुहैया करते थे, वहां कांग्रेसवाले गोहत्यारे अंग्रेजो से बराबर लड़ते रहे। इसलिये राजनैतिक और धार्मिक दोनो दृष्टियो से कांग्रेस को ही वोट देना चाहिये। मतदाताओं ने वैसा ही किया। स्वतंत्र उम्मीदवार भी काफ़ी खड़े हुए थे। परन्तु उनके विरोध में एक ही दलील काफ़ी थी और वह कारगर हुई। वह यह थी कि जहां किसी दल के उम्मीदवारो पर दल का अनुशासन रहता है और पथभ्रष्ट होने पर उन्हे दल के द्वारा रास्ते पर लाया जा सकता है, वहा स्वतंत्र उम्मीदवारो पर ऐसा कोई नियंत्रण नहीं होता। उनकी संख्या थोड़ी होने के कारण सरकार तो उनकी बन नही सकती। इस चुनाव मे नीति और कार्यक्रम के अलावा कांग्रेस की स्वातंत्र्य संग्राम संबंधी सेवाएं, उसकी हकूमत और महात्मा गांधी की हत्या आदि कारण भी कांग्रेस की सफलता के साधन बने।

नेताओं की जालसाज़ी

लेकिन इन चुनावो के संबंध मे एक कार्रवाई निहायत ज़लील हुई। वह यह थी कि जब संसद के हारे हुए उम्मीदवार की ओर से विजेता के विरुद्ध चुनाव अर्ज़ी दी गई तो उसमे सफ़ाई पक्ष की तरफ़ से एक जाली रजिस्टर पेश किया गया। इसमें कांग्रेसी शासन और संगठन दोनों के सूत्रधारों का प्रत्यक्ष हाथ था। वादी पक्ष ने मेरा और भाई कृष्ण गोपाल जी गर्ग का नाम भी अपने गवाहों मे रख दिया। गर्गजी ने स्वर्गीय जयनारायण व्यासजी और केन्द्रीय मंत्री राजबहादुरजी के दबाव और कांग्रेस के हित मे गवाही देने से ही इन्कार कर दिया और अदालत की मानहानि के अपराध मे जुर्माने की सजा भुगत ली। मैंने सही बात तो कह दी परन्तु मर्म के स्थान को बचा गया। मेरे मन मे यही बात मुख्य थी कि सम्पूर्ण सत्य प्रकट कर देने से अपने आजीवन प्रतिस्पर्धी से बदला लेना ही समझा जायगा। यही विचार मेरे मन में उस समय रहा जब १९५७ के चुनावो मे कांग्रेस के अध्यक्ष ढेबर भाई ने मुझ से संबंधित व्यक्ति के बारे में जानना चाहा और मैंने कुछ भी कहने से इन्कार कर दिया।

चुनावों की गंदगी

इस चुनाव में मुझे बड़े कटु अनुभव हुए। एक तो गांधीवादी बने हुए लोगो की छावनी मे मत दाताओं को शराब तक पिलाई गई और एक प्रमुख उम्मीदवार ने अपने विरोधी को रिश्वत तक दी। एक कांग्रेसी के दूसरे कांग्रेसी के खिलाफ़ काम करने के उदाहरण तो कई सामने आये। चुनाव के प्रति अरुचि घृणा में परिणत हो गई।

दल में शरीक होंगे। मैं भी उन दिनों कांग्रेस के अनेक पुराने कार्यकर्ताओं की तरह कांग्रेस के रंग ढंग से असन्तुष्ट था। मैं भी उससे अलग हो गया। उधर पंडित नेहरू ने कांग्रेस नहीं छोड़ी और उनके कहने सुनने पर किदवई साहब फिर कांग्रेस और उसकी सरकार में चले गये। मेरे लिये इतनी जल्दी रंग बदलना कठिन था। मैं अपने स्वभाव के अनुसार समाजवादी दल में मिला रहा और उत्साह से काम करने लगा। 'नया राजस्थान' का प्रकाशन दुबारा आरम्भ किया गया और उसके द्वारा प्रान्त में समाजवादी विचारधारा का जोरों से प्रचार होने लगा। परन्तु थोड़े ही अर्से में मुझे अनुभव हो गया कि जो समस्याएं कांग्रेस मे सत्ता के कारण पैदा हो गई थीं वे सत्ता के बिना ही समाजवादी दल में बढ़ रही थीं। उनमें से एक यह थी कि व्यक्तित्व के लिये योग्य स्थान नही था।

वापस कांग्रेस में

इतने मे ही १६५२ के आम चुनाव आ गये। पंडित नेहरू ने पुराने कांग्रेसियों से कांग्रेस में लौट आने की अपील की। अजमेर मेरवाड़ा कांग्रेस के अध्यक्ष और मंत्री मुझसे मिले और उस अपील को दोहराते हुए चुनाव में सहयोग देने का अनुरोध किया। संसद या विधान सभा में खड़े होने का प्रस्ताव भी आया। लेकिन मुझे तो इस ओर कभी रुचि थी ही नही। मैंने वह प्रस्ताव तो अस्वीकार कर दिया, परन्तु कांग्रेस के शरीक होकर चुनाव मे मदद देना मंजूर कर लिया। मुझे तुरन्त प्रान्तीय कांग्रेस का उपाध्यक्ष और पार्लियामेंटरी बोर्ड का सदस्य बना लिया गया। इस हैसियत से मैंने अन्त तक चुनाव का काम किया और कांग्रेस मे अपने विरोधियों के पक्ष में खास तौर पर परिश्रम किया।

प्रथम आम चुनाव

इस चुनाव मे कांग्रेस ने पूरे स्थानों पर और जनसंघ ने आधी जगहो पर अपने उम्मीदवार खड़े किये थे। उसमें इस्तमुरारदार भी थे। कांग्रेस विरोधियों का खंडन करने का भार मुख्यतः मुझ पर ही आ पड़ा। मैंने बापू वाली आलोचना पद्धति अपनाई। मुझे मालूम था कि दो तीन विरोधी उम्मीदवार कांग्रेसी उम्मीदवारों से अधिक अच्छे इन्सान और पुराने लोकसेवक थे। मैंने अपने भाषणों में इस बात को मुक्त कंठ से स्वीकार किया। परन्तु मेरे दो प्रहार ऐसे थे जिनका उत्तर विरोधी दल के पास नहीं था। एक तो यह कि चुनाव का उद्देश्य सरकार बनाना होता है, परन्तु विरोधी दल के पास तो आधे से ज्यादा उम्मीदवार ही नहीं थे। यदि वे सब चुन लिये जायें तब भी उनकी हुकूमत नहीं बन सकती। दूसरे, वे गोरक्षा की बड़ी दुहाई देते थे। परन्तु जहां वे गोवध करने वाली ब्रिटिश

सरकार के सामने म्याऊं बने रहे और जहा उनके कुछ इस्तमुरारी उम्मीदवार तो अंग्रेज प्रभुओं के आतिथ्य में गोमांस भी मुहैया करते थे, वहा कांग्रेसवाले गोहत्यारे अंग्रेजो से बराबर लड़ते रहे। इसलिये राजनैतिक और धार्मिक दोनों दृष्टियो से कांग्रेस को ही वोट देना चाहिये। मतदाताओं ने वैसा ही किया। स्वतंत्र उम्मीदवार भी काफ़ी खड़े हुए थे। परन्तु उनके विरोध में एक ही दलील काफ़ी थी और वह कारगर हुई। वह यह थी कि जहां किसी दल के उम्मीदवारो पर दल का अनुशासन रहता है और पथभ्रष्ट होने पर उन्हें दल के द्वारा रास्ते पर लाया जा सकता है, वहा स्वतंत्र उम्मीदवारो पर ऐसा कोई नियंत्रण नहीं होता। उनकी संख्या थोडी होने के कारण सरकार तो उनकी बन नही सकती। इस चुनाव मे नीति और कार्यक्रम के अलावा कांग्रेस की स्वातंत्र्य संग्राम संबंधी सेवाएं, उसकी हकूमत और महात्मा गांधी की हत्या आदि कारण भी कांग्रेस की सफलता के साधन बने।

नेताओं की जालसाज़ी

लेकिन इन चुनावों के संबंध मे एक कार्रवाई निहायत ज़लील हुई। वह यह थी कि जब संसद के हारे हुए उम्मीदवार की ओर से विजेता के विरुद्ध चुनाव अर्ज़ी दी गई तो उसमे सफ़ाई पक्ष की तरफ़ से एक जाली रजिस्टर पेश किया गया। इसमें कांग्रेसी शासन और संगठन दोनों के सूत्रधारों का प्रत्यक्ष हाथ था। वादी पक्ष ने मेरा और भाई कृष्ण गोपाल जी गर्ग का नाम भी अपने गवाहों में रख दिया। गर्गजी ने स्वर्गीय जयनारायण व्यासजी और केन्द्रीय मंत्री राजबहादुरजी के दबाव और कांग्रेस के हित में गवाही देने से ही इन्कार कर दिया और अदालत की मानहानि के अपराध मे जुर्माने की सजा भुगत ली। मैंने सही बात तो कह दी परन्तु मर्म के स्थान को बचा गया। मेरे मन मे यही बात मुख्य थी कि सम्पूर्ण सत्य प्रकट कर देने से अपने आजीवन प्रतिस्पर्धी से बदला लेना ही समझा जायगा। यही विचार मेरे मन मे उस समय रहा जब १९५७ के चुनावों मे कांग्रेस के अध्यक्ष ढेबर भाई ने मुझ से संबंधित व्यक्ति के बारे में जानना चाहा और मैंने कुछ भी कहने से इन्कार कर दिया।

चुनावों की गंदगी

इस चुनाव मे मुझे बड़े कटु अनुभव हुए। एक तो गांधीवादी बने हुए लोगो की छावनी मे मत दाताओं को शराब तक पिलाई गई और एक प्रमुख उम्मीदवार ने अपने विरोधी को रिश्वत तक दी। एक कांग्रेसी के दूसरे कांग्रेसी के खिलाफ़ काम करने के उदाहरण तो कई सामने आये। चुनाव के प्रति अरुचि घृणा मे परिणत हो गई।

बच्चों की तरफ ध्यान

आजादी की लड़ाई की व्यस्तताओं में घर की तरफ़, खास तौर पर बच्चों की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया था। वैसे मारपीट तो मैंने कभी की नहीं थी और बच्चों को गांधीजी जैसे महापुरुष की छत्रछाया में भी ३-४ वर्ष तक रहने का सुअवसर मिला था। इसी लिये उनकी तरफ़ से कोई खास समस्या उपस्थित नहीं हुई थी। सादा जीवन और दूसरे अच्छे संस्कार ही उन्हें मिले थे। प्रेमपूर्ण व्यवहार के कारण उनका शरीर और मानसिक विकास अच्छा ही रहा था। फिर भी पिता के नाते मुझे उन्हें जो समय देना चाहिये था उसका तो अभाव ही रहा था। इस अभाव के क्या परिणाम हो सकते हैं, यह मुझे तब महसूस हुआ जब इन्हीं दिनों मैंने पड़ौस के बच्चों की गतिविधियां देखीं। मैंने तुरन्त निश्चय किया कि मुझे अपना दैनिक कार्यक्रम ऐसा बनाना चाहिये जिसमें बच्चों को सिर्फ़ यही महसूस न हो कि मैं उनका पिता हूं, बल्कि यह भी अनुभव होना चाहिये कि मित्र भी हूं। दूसरे शब्दों में, मुझे उनके लालन-पालन और शिक्षा की ही चिन्ता नहीं होनी चाहिये, उनकी समस्याएं, उनकी कठिनाइयां और उनकी आकांक्षाएं भी मालूम होनी चाहियें और वे खुलकर ये सब बातें मेरे सामने प्रकट कर सकें। इसके लिये मैंने उनके साथ खाना पीना, गाना बजाना, खेलना और हंसी दिल्लगी का कार्यक्रम शुरू कर दिया। परिणाम बहुत अच्छा आया। तीनों बच्चे प्राइवेट ट्यूशन के बिना पढ़ाई में बहुत अच्छे रहे और सारे विद्यार्थी काल में उन्होंने सिनेमा नहीं देखा।

स्वाभिमान को आघात

इसी अर्से में मेरी इच्छा हुई कि पंडित नेहरू से मिल कर कांग्रेस की खराबी बताऊं और सुधार के उपाय समझाऊं। मैंने उन्हें मुलाकात के लिये पत्र लिखा लेकिन उनके दफ़्तर से जो उत्तर आया उससे मुझे चोट पहुंची। मुझे लगा कि मेरे जैसे प्रमुख कार्यकर्त्ता को भी उनसे मिलने में कठिनाई हो सकती है तो अवश्य ही स्वराज्य सरकार और कांग्रेस संगठन में कोई बड़ा दोष है। मेरा परिचय तो नेहरूजी से था परन्तु वह बहुत पुराना हो गया था और संभव है उनके दफ्तर के लोगों ने ही मेरा पत्र उनके सामने न रखा हो। कुछ भी हो, मेरे स्वाभिमान को धक्का लगा और मैंने निश्चय किया कि अब नेहरूजी से तभी भेंट की जायगी जब स्वयं उन्हें मुझसे मिलने की जरूरत महसूस हो। संयोग से ऐसी स्थिति भी जल्दी ही पैदा हो गई। बात यह हुई कि अजमेर एक अलग राज्य बन चुका था और उसके मंत्रिमंडल में श्री हरिभाऊ उपाध्याय और श्री बालकृष्ण कौल में नेतृत्व के लिये रस्साकशी शुरू हो गई थी। श्री कौल पंडित नेहरू के दूर के रिश्तेदार थे

और इसी कारण उन्हें मन्त्रिमण्डल मे लिया गया था। एक बार बाद में बहुमत श्री कौल का हो गया था परन्तु, जैसा पंडित नेहरू ने मुझे बाद में बताया, श्री कौल को उन्होने इस लिये मुख्य मन्त्री नही बनाने दिया कि एक तो वे दूर के रिश्तेदार थे और दूसरे, हरिभाऊजी ने नेहरूजी को तीन पत्र ऐसे लिखे जिनमें बुढापे की लाज रखने की याचना की गई थी। लेकिन इन दोनो की खींचतान से नेहरूजी क्षुब्ध हुए और उन्होंने एक गुप्त पत्र मुख्य मन्त्री को लिखा। हरिभाऊ विरोधी पक्ष ने मुझे वह पत्र दिखाया। उसे देखते ही मैंने समझ लिया कि अब नेहरूजी को मुझसे मिलना पड़ेगा। मैंने उस पत्र को जनहित में प्रकाशित करवा दिया। इसका पता लगने पर पंडितजी ने मुझसे पत्र-व्यवहार किया और मुलाकात तय हो गई।

अठारह अजमेर की कांग्रेस सरकार

भारत के प्रथम आम चुनावों के परिणाम स्वरूप अजमेर मेरवाड़ा को तीसरे दर्जे के राज्य की हैसियत से अपनी सरकार बनाने का सौभाग्य मिला। वह कैसी थी, इसका अंदाजा लगाने के लिये उस नोट से अच्छा और कोई पैमाना नहीं हो सकता जो प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू ने अजमेर के तीनों मन्त्रियों और प्रान्तीय कांग्रेस के अध्यक्ष के नाम भेजा था। लेकिन अजमेर को राजस्थान की राजधानी बनने के जन्म-सिद्ध और कर्म-सिद्ध अधिकार से अवसर प्राप्त होने पर भी वंचित रहना पड़ा, इसे लोकमत ने मुख्य मन्त्री की अयोग्यता और वित्तमन्त्री की अनुशासनहीनता के साथ साथ दोनों की फूट और सत्ता लोभ का ही परिणाम माना और इन दोनों में राजस्थान के प्रति जन्म-जात प्रेम का अभाव तथा प्रदेश कांग्रेस के नेताओं की कमजोरी को जिम्मेदार समझा। इतिहास इन लोगों को कभी माफ़ नहीं करेगा। अजमेर नगर की आम जनता तो पानी की समस्या हल न होने के लिये अजमेर और राजस्थान की कांग्रेस सरकार को चिरकाल तक कोसती रहेगी।

नेहरूजी का पत्र

अस्तु, पं० जवाहरलालजी का वह नोट अंग्रेजी में यह था:—

Note on Ajmer

The Ajmer Government and the Congress Party in the Legislature have been giving us continuous headaches, almost since their formation after the general elections, and more especially for the last year or more. Repeated attempts have been made by us in Delhi to compose the differences that had arisen and to speed up the work of the administration. Unfortunately these attempts have not met with success and these internal differences have reached a stage of acute crisis. The Government cannot be considered to be an efficient Government and progress of work in the past has been very dilatory. The Community Project scheme

dered himself, and still considers himself, more competent and suited to the post. There was thus a tendency for him not to give that full cooperation to which the Chief Minister was entitled from his colleague. In the later stages this lack of cooperation became more acute and, in fact, there was a continuous tug-of-war between the Chief Minister and Shri Kaula. This struck at the very root of the leadership of the Chief Minister and the joint functioning of a Cabinet. Gradually a group emerged, which openly worked for a change in the Chief Ministership, that is, a group which wanted Shri Kaula to become Chief Minister. It must be presumed that this group had the passive support at least of Shri Kaula himself. In these circumstances, the working of the Government became progressively more difficult.

5. Another remarkable feature of the situation is that the Speaker, Shri Bhagirath Singh, has been an active member of this dissident group in the Party. From any point of view, a Speaker's participation in the kind of group politics and attempts to change this Government is obviously most objectionable. I believe that the General Secretary of the A.I C.C. informed the Speaker sometime ago that he must keep apart from such activities. Never-the-less, he has continued to indulge in them. A Speaker cannot, while he is the Speaker, participate in normal party politics, much less in group politics within the Party. All he can do is to remain a primary member of the Congress and no more. He should not participate in the Party meetings of the Legislature. This point must be clearly understood, for any other course is to bring discredit to the high position of the Speaker.

6. I do not propose in this note to go into the various charges and counter charges brought against each other by the Ministers or by the dissidents. So far as the adminis-

a member of the Government, he must support that Government and his Chief Minister. These are the general principles of Parliamentary and Party Government.

9. It is clear that in the present instance of Ajmer, these principles have not been adhered to. The Chief Minister has, I believe, often made mistakes in the administration and work has not been upto the standard required. There has been dilatoriness. But the major difficulty appears to have been the continued lack of cooperation between the Home Minister and the Chief Minister. If the Home Minister felt unable to give his cooperation to the Chief Minister, then the only correct course for him was to resign from his office. Of course in a Party Government like that of the Congress, not only the local Congress organisation has to be considered but the Central Parliamentary Board comes into the picture. The Central Board comes even more into the picture in a small State like that of Ajmer and the proper course is for difficulties to be preferred to the Central Parliamentary Board In a sense this has been done on several occasions, but the advice given by the Central Board has not produced much effect.

10. A Party Government ultimately can only carry on when it has a majority in the Assembly and when it has also a majority in the Party itself. There is no doubt that the Congress Party as such has a considerable majority in the Ajmer Assembly. But the question has arisen as to whether the present Government has a majority in the Party itself or rather, to put it differently, whether the Party desires a change in the leadership and if so, what further steps should be taken.

11. Since the general election, two and a quarter years have passed. That is, about half the period of the life of

this Assembly is over. The future of Ajmer State itself as a seperate entity is doubtful and it is certainly conceivable that after the report of the States Reorganisation Commission, it may be decided that Ajmer should form part of a larger State. Recent events in Ajmer have not encouraged the people that the State can function satisfactorily as a seperate entity. In any event the members of the Assembly, the Party and the Government must have realised that in a sense they are on their trial. In spite of this they have failed to function with even a moderate degree of cohesion.

12. Normally speaking it would be undesirable at this stage to change the leadership and the composition of the Government for the remaining period of two years or so. Any change would bring about not greater stability but probably even less cohesion and disruptionist forces would continue to work. Therefore, unless there is some special reason for a major change, no such change appears advisable. However, if circumstances compelled a change, then it has to be faced and the consequences taken, whatever they might be.

13. The course I would have suggested and which I would suggest even now, if it is accepted wholeheartedly by the parties concerned, is that the present leader should continue, the present Government should also continue, but certain changes in portfolios should be made. This would be subject to important matters being considered by the Cabinet and decision taken by it, and the Ministers working as a team and in a spirit of cooperation. This would mean that all group formation and working must stop during this coming period a least.

14. While the Party is directly responsible for choosing its leader, it must be remembered that *the Party itself is an*

organ of the Congress organisation. That organisation is represented by the Ajmer Pradesh Congress Committee and by the Central Parliamentary Board. It is a relevant factor as to what the Pradesh Congress Committee thinks about a change, because that Committee is supposed to represent public opinion in that area. A decision by the Party, which may go contrary to public opinion, is not likely to lead to stability or to have the confidence of the public.

15. In the present case, I understand that the Pradesh Congress Committee of Ajmer is not in favour of a change in the leadership of the Party. That is, therefore, a relevant consideration, though not a final one.

16. It has to be remembered also, as I have mentioned above, that the Party at present consists of some new comers, who have not the cohesive spirit or discipline of old members of the Congress.

17. Any attempt to change the leadership of the Party now might or might not succeed. In either event probably, the difference in voting, if it came to a vote, would be very small, perhaps one or two. A result arrived at in this way would hardly be a satisfactory one and disruptionist tendencies would continue, more especially if the general body of public outside also does not approve of the change.

18. For all these reasons, my recommendation would be and is, as I have said above, that no major change is desirable at present and all Congress-men must work in a spirit of discipline without the formation of groups and that they must put before themselves the welfare of this little State and not the interest of this little group or that individual. At the same time, some matters deserve to be considered afresh, such as a re-arrangement of portfolios, remembering always

that every important subject must be considered by the Cabinet as a whole Certain other matters could also be decided to promote efficient and corporate working.

19. While this was the view I formed when I met a number of Ministers and M.L. A's of Ajmer and I still hold that view, I am a little doubtful now as to whether this will be acceptable to the persons concerned. I understand that Maulana Azad saw a number of the dissident M. L. A's from Ajmer and advised them more or less on the above lines, but that they were not prepared to accept his advice. I am surprised and somewhat distressed to learn that they should have thus rejected Maulana Saheb's advice. If that is so, then we cannot think in terms of a cooperative working as we would have liked to suggest. Any such cooperative working must have not verbal support but wholehearted approval.

20. If, therefore, my above suggestions are nor accepted in a true spirit and with the full intention of acting upon them, then the only other course is for a suitable opportunity to be given to the Party to decide the question of a leader. For this purpose a full Party meeting will have to be held on a date to be fixed by the A.I.C.C. office and a senior representative of the A.I.C.C. will have to be present there. That date will have to be sometime later, roughly about a month from now. The meeting so held will be a private meeting. Previous to that the representative of the A.I·C.C. will take necessary steps to have this meeting.

21. It must also be clearly understood that no Minister can in any way support or vote with an opposition group at the Party meeting or elsewhere. Therefore, if a Minister feels that he should support an opposition group and cannot give his loyalty to the present Government, then he should

resign previously. After regination he will be free to act like any other member of the Party.

22. Therefore, the first step to be taken is to get a clear answer from the members of the present Government as well as the dissident members of the Party as to whether they are prepared to accept the recommendations I have made above, that is, no change in the leadership but various other changes in the port-folios etc. as might be recommended by the Central Parliamentary Board. If this is to be accepted, it has to be done wholeheartedly and there is to be no further group working as in the past. If this is accepted, then obviously the question of a Party meeting to consider a change in the leadership does not arise.

23. If the above recommendation is not accepted, then the other course suggested will have to be followed and for that the A.I.C.C. will lay down the procedure In that event the present Ministry must hold together and support each other as a family If any Minister is unable to give that support, he should resign.

24. The Speaker must in no event in future take any part in party activities.

Sd/-J. Nehru
25-4-54.

इसका हिन्दी अनुवाद यह है :—

अजमेर पर नोट

अजमेर सरकार और विधान सभा का काग्रेस दल हमारे लिये लगातार सरदर्द बने हुए हैं। आम चुनावो के बाद लगभग शुरू से ही और खास तौर पर एक डेढ वर्ष से यही हाल है। दिल्ली मे हम लोगों ने बार बार प्रयत्न किये कि जो मतभेद पैदा हो गये हैं वे मिट जायं, और हकूमत का काम तेजी से चले। दुर्भाग्य से ये कोशिशें कामयाब नही हुईं और ये भीतरी मतभेद अब एक तीव्र संकट की स्थिति मे पहुच गये हैं। सरकार कोई कार्यक्षम सरकार नही समझी

जा सकती और पिछली काम की प्रगति बहुत दीर्घसूत्री रही है। अजमेर की सामुदायिक विकास योजना कम से कम सफल योजनाओं में से एक है। असल में बहुत अर्से से वहां करीब करीब कुछ भी नहीं किया गया। इतना कह दूं कि हाल मे थोड़ी सी प्रगति हुई है।

२. कार्यक्षमता के अभाव की यह सामान्य पृष्ठभूमि तो थी ही, लेकिन मंत्रिमंडल के भीतर और कांग्रेस दल के अन्दर आन्तरिक झगड़े खड़े हो जाने से शासन तंत्र के काम मे और भी स्पष्ट खराबी पैदा हो गई है। जब ऊपर संघर्ष होता है तो उसका असर दल मे और सरकारी ढाचे के तमाम कल पुरजों पर पड़े बिना नही रहता। इस प्रकार अब समय आ गया है कि साफ़ साफ़ फ़ैसले करने होंगे। ये फ़ैसले आसान नही हो सकते और जो भी नया क़दम उठाया जाय उससे कोई नये प्रकार की कठिनाई पैदा हो सकती है क्योंकि सारा आधार कमज़ोर है। कुछ भी हो, वर्तमान स्थिति तो सहन नहीं की जा सकती।

३. दो तीन बातें ध्यान मे रखनी होंगी। विधान मंडल मे कांग्रेस दल का विरोधी पक्ष से काफ़ी ज्यादा बहुमत है। परन्तु, जैसा हाल के अनुभव ने बताया है, उसमें बहुत एकता नही है और न सामान्य पैमाने ही बढ़िया हैं। चुनावों के बाद इस दल में किसान सभा और पुरुषार्थी पंचायत के कुछ सदस्य शामिल हुए हैं। ये नये सदस्य पहले कांग्रेसी नही थे और इसलिये उनमें अनुशासन या एकता की वैसी ही भावना नहीं है।

४. ठेठ शुरू से मुख्य मंत्री पद के लिये दो दावेदार थे, श्री हरिभाऊ उपाध्याय और श्री बालकृष्ण कौल। अन्त में यह निर्णय किया गया कि श्री हरिभाऊ उपाध्याय मुख्यमंत्री और श्री कौल दूसरे मंत्री हों। बाद में श्री ब्रजमोहनलाल शर्मा को तीसरा मंत्री और बनाया गया। हालांकि चुनाव के समय दल के नेता का निर्वाचन सर्व सम्मत हुआ और वह मुख्य मंत्री बन गया, फिर भी यह साफ़ जाहिर है कि श्री कौल ने इस निर्णय को पूरे दिल से स्वीकार नही किया और वे स्पष्ट ही अपने को इस पद के लिये अधिक योग्य और मौजूं समझते थे और अब भी समझते हैं। इस प्रकार उनमें वह सम्पूर्ण सहयोग न देने की वृत्ति रही जो मुख्य मंत्री को अपने साथी से पाने का हक था। आगे चल कर सहयोग का यह अभाव और भी तीव्र हो गया और सच तो यह है कि मुख्य मंत्री और श्री कौल के बीच सतत रस्साकशी रही। यह मुख्यमंत्री के नेतृत्व और मंत्रिमंडल के मिलजुल कर काम करने में कुठाराघात हुआ। धीरे धीरे एक गुट सामने आया जो खुले तौर पर मुख्य मंत्री के पद में परिवर्तन के लिये काम करने लगा अर्थात् जो श्री कौल को मुख्य मंत्री बनाना चाहता था। यह मान लेना होगा कि इस

गुट को कम से कम श्री कौल का निष्क्रिय समर्थन प्राप्त था। ऐसी सूरत में सरकार का काम करना दिन दिन कठिन होता गया।

५. इस स्थिति का एक उल्लेखनीय पहलू यह है कि विधान सभा के अध्यक्ष श्री भागीरथसिंह दल में इस असंतुष्ट गुट के सक्रिय सदस्य रहे हैं। किसी भी दृष्टि से इस प्रकार की गुटबन्दी और सरकार को बदलने के प्रयत्नों में अध्यक्ष का भाग लेना स्पष्ट ही अत्यन्त आपत्तिजनक है। मुझे विश्वास है कि कांग्रेस महासमिति के महामंत्री ने कुछ समय पहले अध्यक्ष को सूचना दी थी कि उन्हें ऐसी प्रवृत्तियों से अलग रहना ही चाहिये। फिर भी वे उनमें भाग लेते रहे हैं। कोई अध्यक्ष जब तक वह अध्यक्ष है, साधारण दलगत राजनीति में भाग नहीं ले सकता, दल के भीतर की गुटबंदी में तो हरगिज शरीक नहीं हो सकता। वह इतना ही कर सकता है कि कांग्रेस का साधारण सदस्य बना रहे, इससे अधिक नहीं। उसे विधान मंडल की दलीय बैठकों में भाग नहीं लेना चाहिये। यह बात साफ़ समझ लेनी होगी क्योंकि और कोई मार्ग अपनाने से अध्यक्ष के उच्चपद को बट्टा लगता है।

६. मैं इस नोट में मंत्रियों अथवा असंतुष्ट सदस्यों द्वारा लगाये गये विविध आरोपों और प्रत्यारोपों की चर्चा करना नहीं चाहता। जहां तक प्रशासन की अक्षमताओं का सम्बन्ध है, इन आरोपों में बहुत कुछ सचाई है। जैसा मैं ऊपर कह चुका हूं, शासन में योग्यता का अभाव रहा है।

७. मेरा यह विचार भी नहीं है कि व्यक्तिगत आरोपों या आलोचनाओं की यहां चर्चा करूं। मुझे इस बात से बड़ी निराशा हुई कि मेरी बार बार की कोशिशों के बावजूद अजमेर के भीतरी हालात में कोई खास असर नहीं हुआ है। अजमेर जैसे छोटे से मंत्रिमंडल में तो पूरा ऐक्य और सहयोग होना चाहिये। वास्तव में विभागों का बटवारा प्रशासकीय दृष्टि से ज़रूरी हो तो भी उससे कार्यकलाप में बहुत ज्यादा अलगपन नज़र आने की ज़रूरत नहीं और जहां तक संभव हो, सारी समस्याओं पर मिल जुलकर सलाह मशवरा और विचार होना चाहिये। किसी मंत्री को यह नहीं समझना चाहिये कि वह अपने विभाग का पृथक स्वामी है।

८. दूसरी बात यह याद रखनी है कि मुख्य मंत्री प्रशासन का प्रमुख है और लोकतंत्रात्मक संसदीय सरकार की सारी व्यवस्था का आधार इस बात पर है कि मुख्य मंत्री के हाथ में कुंजी है। इसी लिये मुख्य मंत्री को अपने साथियों से पूरी वफ़ादारी और सहयोग पाने का हक है। अगर वह मुख्य मंत्री बनने के लायक नहीं है तो अन्त में कोई तब्दीली करनी पड़ेगी। लेकिन जब तक वह मुख्य मंत्री

है, तब तक उसे वफ़ादारी मिलनी ही चाहिये। वास्तव में मंत्रिमंडल को मिलजुल कर ही काम करना चाहिये और हर मंत्री को विधान सभा में, दल में और जनता में एक दूसरे का समर्थन करना चाहिये, भले ही भीतरी मतभेद कुछ भी हों। ऐसे मतभेदों की मंत्रिमंडल में खानगी तौर पर चर्चा की जा सकती है, परन्तु और किसी तरह नहीं। यदि मतभेद हद से ज्यादा बढ़ जायं अथवा सिद्धान्त के किसी तरह अत्यंत महत्व के मामले पर हों तो जो मंत्री मुख्य मंत्री से सहमत न हो उसका काम यह है कि मंत्रिमंडल से अस्तीफ़ा देकर दल में अपना दृष्टिकोण पेश करे। जब तक वह सरकार का सदस्य है, उसे सरकार और मुख्य मंत्री का समर्थन करना ही चाहिये। संसदीय और दलीय सरकार के ये सामान्य सिद्धान्त हैं।

९. यह स्पष्ट है कि अजमेर के प्रस्तुत मामले में इन सिद्धान्तों का पालन नहीं किया गया है। मेरा विश्वास है कि मुख्य मंत्री ने प्रशासन में अकसर ग़लतियां की हैं, कार्य आवश्यक पैमाने का नहीं हुआ है। दीर्घ सूत्रता रही है। परन्तु बड़ी कठिनाई यह मालूम होती है कि गृहमंत्री और मुख्य मंत्री में सहयोग का सतत अभाव रहा है। यदि गृहमंत्री यह महसूस करते थे कि वे मुख्य मंत्री को सहयोग देने में असमर्थ हैं तो उनके लिये एक मात्र सही मार्ग अपने पद से त्याग पत्र दे देना था। अवश्य ही कांग्रेस जैसी दलीय सरकार में न केवल स्थानीय संगठन का ख्याल करना पड़ता है, बल्कि केन्द्रीय संसदीय मंडल भी चित्र में आ जाता है। अजमेर जैसे छोटे राज्य में केन्द्रीय मंडल और भी अधिक बीच में आता है और उचित मार्ग यह है कि कठिनाइयां केन्द्रीय संसदीय मंडल के सामने रख दी जायं। एक तरह से ऐसा कई बार किया गया है, मगर केन्द्रीय बोर्ड की सलाह का बहुत असर नहीं हुआ है।

१०. आखिर तो कोई दलीय सरकार तभी चल सकती है जब विधान सभा में उस का बहुमत हो और स्वयं दल में भी उसका बहुमत हो। इसमें शक नहीं कि कांग्रेस दल का अजमेर विधान सभा में काफ़ी बहुमत है। परन्तु प्रश्न यह खड़ा हुआ है कि मौजूदा सरकार का स्वयं दल में बहुमत है या नहीं या दूसरी तरह यूं कह लीजिये कि क्या दल नेतृत्व में परिवर्तन चाहता है और अगर ऐसा है तो आगे क्या कार्रवाई की जाय।

११. आम चुनावों के बाद सवा दो साल बीत चुके हैं यानी इस विधान सभा का लगभग आधा कार्यकाल समाप्त हो गया। खुद अजमेर राज्य का भविष्य बतौर अलग इकाई के संदिग्ध है और यह कल्पना जरूर की जा सकती है कि राज्य पुनर्संगठन आयोग की रिपोर्ट के बाद यह फ़ैसला हो जाय कि अजमेर को

किसी बड़े राज्य का अंग बनना चाहिये। अजमेर की हाल की घटनाओं से लोगों को यह प्रोत्साहन नहीं मिला है कि यह राज्य अलग इकाई के तौर पर संतोषजनक ढंग से काम कर सकता है। कुछ भी हो, विधान सभा के सदस्यों ने, दल ने और सरकार ने यह अनुभव जरूर कर लिया होगा कि एक तरह से उनकी आजमायश हो रही है। इसके बावजूद वे मामूली एकता के साथ भी काम नहीं कर सके हैं।

१२. मामूली तौर पर इस स्थिति में दो अढ़ाई वर्ष के बाकी अर्से के लिये नेतृत्व और सरकार की रचना में परिवर्तन करना वांछनीय नहीं होगा। किसी भी तब्दीली से कोई अधिक स्थिरता तो नहीं आयेगी, परन्तु शायद एकता और भी कम हो जायगी और विग्रहकारी शक्तियां काम करती रहेंगी। इसलिये अगर बड़े परिवर्तन के लिये कोई खास वजह नहीं है तो ऐसा कोई भी परिवर्तन वांछनीय प्रतीत नहीं होता। लेकिन अगर हालात किसी तब्दीली के लिये मजबूर करें तो उनका सामना करना होगा और नतीजे भुगतने होंगे, वे चाहे कुछ भी हों।

१३. मैंने जो मार्ग सुझाया होता और अब भी सुझाऊंगा, यदि वह सब पक्षों को हृदय से स्वीकार हो तो, वह यह है कि मौजूदा नेता बना रहे, मौजूदा सरकार भी बनी रहे, परन्तु विभागों में कुछ परिवर्तन कर दिये जायं। इसमें यह शर्त रहेगी कि महत्वपूर्ण मामलों पर मंत्रिमंडल विचार करे और फ़ैसला करे और मंत्रीगण एक जमात के तौर पर और सहयोग की भावना से काम करें। इसका अर्थ यह होगा कि कम से कम इस आने वाले काल के दौरान तमाम गुटबन्दी जरूर बन्द हो जानी चाहिये।

१४. जहां अपना नेता चुनने के लिये दल सीधा जिम्मेदार है, वहां यह भी याद रखना चाहिये कि दल स्वयं कांग्रेस संगठन का एक अंग है। उस संगठन के प्रतिनिधि अजमेर प्रदेश कांग्रेस कमेटी और केन्द्रीय संसदीय मंडल हैं। यह एक महत्वपूर्ण बात है कि परिवर्तन के बारे में कांग्रेस कमेटी के क्या विचार हैं क्योंकि यह माना जाता है कि वह कमेटी उस क्षेत्र में लोकमत की नुमायंदगी करती है। दल का कोई निर्णय लोकमत के प्रतिकूल जाने वाला हो तो उससे न तो स्थिरता आयेगी और न जनता का विश्वास प्राप्त होगा।

१५. मौजूदा मामले में मुझे मालूम हुआ है कि अजमेर की कांग्रेस कमेटी दल का नेतृत्व बदलने के पक्ष में नहीं है। इसलिये यह एक विचारणीय विषय है, भले ही निर्णायक नहीं है।

१६. जैसा मैं ऊपर बता चुका हूं, यह भी याद रखना होगा कि इस समय दल में नये लोग भी आये हैं जिनमें कांग्रेस के पुराने सदस्यों की सी एकता और अनुशासन की भावना नहीं है।

१७. इस वक्त दल का नेतृत्व बदलने का कोई प्रयत्न सफल हो भी या न भी हो। कदाचित् दोनों ही सूरतों में मतदान की नौबत आये तो मतों का अन्तर बहुत थोड़ा, शायद एक दो का होगा। इस प्रकार लाया हुआ परिणाम शायद ही संतोषजनक होगा और फूट पैदा करने वाली प्रवृत्तियां जारी रहेंगी, खास तौर पर अगर बाहर की आम जनता भी परिवर्तन पसन्द न करती हो।

१८. इन सब कारणों से मेरी सिफ़ारिश, जैसा मैं ऊपर कह चुका हूं, यह होगी और है कि फ़िलहाल कोई बड़ी तब्दीली वांछनीय नहीं होगी और तमाम कांग्रेस जनों को गुटबन्दी छोड़ कर अनुशासन की वृत्ति से काम करना चाहिये और उन्हें इस छोटे से गुट या उस व्यक्ति के हित के बजाय इस छोटे से राज्य के कल्याण को ही अपने सामने रखना चाहिये। साथ ही कुछ मामलों पर पुनर्विचार होना चाहिये, जैसे विभागों की पुनर्व्यवस्था। लेकिन हमेशा याद रखना होगा कि प्रत्येक महत्वपूर्ण विषय पर सारे मंत्रिमंडल को विचार करना चाहिये। कार्यक्षमता और सहयोग बढाने के लिये कुछ और मामलों का फ़ैसला किया जा सकता है।

१९. जहां मैंने अजमेर के कुछ मंत्रियों और विधायकों से मिलकर यह खयाल बनाया और अब भी मेरा यही खयाल है, वहां मुझे अब जरा सन्देह है कि संबंधित व्यक्तियों को यह मान्य होगा या नहीं। मुझे मालूम हुआ है कि मौलाना आज़ाद अजमेर के कुछ असन्तुष्ट विधायकों से मिले थे और उन्हें थोड़े बहुत इसी ढंग की सलाह दी थी, परन्तु वे उनकी सलाह को मानने के लिये तैयार नहीं थे। मुझे यह जानकर आश्चर्य और कुछ दुःख होता है कि उन्होंने मौलाना साहब की सलाह को इस प्रकार अस्वीकार कर दिया। खैर, अगर ऐसी बात है तो हम मिलजुलकर काम करने के रूप में विचार नहीं कर सकते, जैसा कि हमें सुझाव देना पसन्द होता। इस तरह से मिल कर काम करने के लिये जबानी समर्थन न होकर दिल से होना चाहिये।

२०. इसलिये अगर मेरे ऊपर वाले सुझाव सच्ची भावना और अमल करने के पूरे इरादे के साथ मंजूर न हों तो दूसरा उपाय यही है कि दल को नेता का प्रश्न तय करने का उपयुक्त अवसर दिया जाय। इसके लिये महासमिति के कार्यालय द्वारा निश्चित तारीख को पूरे दल की बैठक करनी होगी और महासमिति के किसी बड़े प्रतिनिधि को वहां उपस्थित रहना पड़ेगा। यह तारीख कुछ

समय बाद, अब से कोई एक महीने बाद की होगी। इस तरह की बैठक खानगी होगी। उससे पहले महासमिति का प्रतिनिधि बैठक कराने के लिये जरूरी क़दम उठायेगा।

२१. यह भी स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि कोई मंत्री दल की बैठक में या और कही किसी विरोधी गुट की न हिमायत कर सकता है, न उसके पक्ष मे राय दे सकता है। इस लिये यदि कोई मन्त्री महसूस करता है कि उसे किसी विरोधी गुट का समर्थन करना चाहिये और वह मौजूदा सरकार को वफ़ादारी नही दे सकता तो उसे पहले अस्तीफ़ा देना चाहिये। त्याग पत्र देने के बाद वह दल के अन्य किसी सदस्य की तरह कार्रवाई करने को स्वतन्त्र होगा।

२२. इसलिये पहला क़दम उठाने का यह है कि मौजूदा सरकार के सदस्यों और दल के असंतुष्ट सदस्यों से यह स्पष्ट उत्तर लिया जाय कि मैंने जो सुझाव ऊपर दिया है क्या उसको वे मानने को तैयार हैं। यानी नेतृत्व में तो परिवर्तन न हो, परन्तु विभागों आदि में और ऐसे परिवर्तन कर लिये जायं जिन की केन्द्रीय संसदीय बोर्ड सिफ़ारिश करे। यदि ऐसा करना हो तो दिल से किया जाय और पहले की तरह आगे गुटबन्दी न हो। यदि यह मंज़ूर हो तो स्पष्ट है कि नेतृत्व में परिवर्तन के विचारार्थ दल की बैठक का प्रश्न नही रह जाता।

२३. अगर ऊपर वाली सिफ़ारिश मान्य न हो तो सुझाये हुए दूसरे उपाय को अपनाना होगा और उसके लिये महासमिति तरीका तय करेगी। उस सूरत मे वर्तमान मंत्रिमण्डल को एक होकर रहना होगा और परिवार की भांति एक दूसरे का समर्थन करना होगा। यदि कोई मन्त्री यह समर्थन नहीं दे सकता तो उसे त्यागपत्र दे देना चाहिये।

२४. भविष्य में अध्यक्ष को किसी भी हालत मे दल की प्रवृत्तियों में कोई भाग नहीं लेना चाहिये।

ज० नेहरू
२५-४-५४

नेहरूजी से मुलाक़ात

अस्तु, १९५४ में जब अजमेर मे कांग्रेस महासमिति का अधिवेशन हुआ तब पंडित नेहरू से मेरी मुलाकात हुई। उन्होंने अपने गुप्त पत्र के प्रकाशन कराने वाले और उसे उस पत्र की प्रतिलिपि देने वाले के नाम पूछे। मैंने पहला नाम तो बता दिया और वह मेरा अपना ही था लेकिन दूसरा नाम अब तक बताने में

असमर्थता प्रकट कर दी जब तक वह व्यक्ति स्वीकृति न दे। बाद में उस व्यक्ति ने अपना नाम प्रकट करने की मुझे अनुमति भी दे दी और वह व्यक्ति श्री रमेश चन्द्र भार्गव थे। पंडितजी ने भी आग्रह नहीं किया। उन्होंने हंसकर इतना ही कहा, "आपने मुझसे मिलने के लिये बहुत चक्करदार रास्ता अपनाया।" फिर कहने लगे, "आजकल आप क्या कर रहे हैं?" मैंने बताया कि, "मैं गांधी साहित्य का अनुवाद करता हूं और कार्यकर्ताओं को सलाह और सहायता देता हूं।" उन्होंने सुझाव दिया कि मुझे कुछ अधिक ठोस और बड़ा काम करना चाहिये और उसके लिये दिल्ली आने का आदेश दिया।

भारत सेवक समाज में

तदनुसार में अगस्त १९५४ में उनसे दिल्ली में मिला और कोई एक घंटे तक उनकी मेरी बातचीत हुई। उन्होंने दो विकल्प रखे कि या तो मैं कांग्रेस का काम करूं या भारत सेवक समाज का। पहले काम में उन्होंने चुनाव व कई तरह के दूसरे झगड़े-टण्टे बताये जो शायद मेरी प्रकृति और विचारधारा के अनुकूल न हों। फिर भी उन्होंने कांग्रेस के महामन्त्री श्री बलवन्तराय मेहता से बात की और हम दोनों की मुलाकात भी हुई। परन्तु पंडितजी का अधिक झुकाव भारत सेवक समाज की तरफ़ था। वे बोले, "यह संस्था मैंने ताजा ही खोली है। उसमें अच्छे कार्यकर्त्ताओं की जरूरत भी है। आप उसी में मेरी सहायता कीजिये।" मैंने आज्ञा शिरोधार्य की, पंडितजी ने श्री गुलजारीलाल नंदा से मेरी भेंट कराई और मेरा भारत सेवक समाज में जाना निश्चित हो गया।

उन्नीस सिंहावलोकन

हमने देख लिया कि राजस्थान में राष्ट्रोत्थान का कार्य काफ़ी हुआ। यह अवश्य ही संतोष की बात है कि अनेक प्रतिकूलताओं के होते हुए हम इतना कुछ कर पाये। इसके अलावा ऐसी कई संस्थाओं, प्रवृत्तियों और व्यक्तियों ने भी जिनसे मेरा प्रत्यक्ष परिचय नही हुआ अपने अपने ढंग से काम किया। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि कुल मिला-कर भी यह कारगुजारी इतनी नही थी जिस पर राजस्थान जैसा विशाल क्षेत्र गर्व कर सके। निःसंदेह हम और भी अधिक कर सकते थे। वह क्यों नही हो सका? भविष्य में हम क्या करें? वे कौनसी भूले थी जिन्हे ध्यान मे रख कर भूतकाल से ज्यादा और अच्छा काम भविष्य मे हो सकता है? इस परिच्छेद मे इन्ही प्रश्नों पर विचार करना है।

मध्यम श्रेणी मुख्य स्रोत

दूसरे देशों और प्रान्तों की तरह हमारे यहां भी सार्वजनिक कार्यकर्ता ज्यादातर मध्यम श्रेणी के लोगों मे से ही निकले। यह एक ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जनसेवक न धनिक वर्ग मे पैदा होते हैं, न ग़रीब समुदाय में। एक आराम पसंद, अभिमानी और महत्वाकांक्षी होते हैं और दूसरे निराश, निर्जीव और निःसत्व। बीच के दर्जे के लोग ही ऐसे होते हैं जिन्हे धन का प्रमाद और दरिद्रता की विवशता उच्च भावनाओं से शून्य नहीं कर पाती। उनमें आदर्शवाद आसानी से जाग्रत होता है। इन्ही मे सेवा, शौर्य और बलिदान के दिव्य भाव फलते फूलते हैं। अधिकांश राजस्थानी देशभक्त और समाज सेवक इसी श्रेणी से आये। सब हालात को देखते हुए उनकी संख्या थोड़ी नहीं कही जा सकती। देश के दूसरे हिस्सों की भांति हमारे यहां के राष्ट्रीय कार्यकर्ता अलग अलग विचार श्रेणी के लोग थे। उन्हे क्रमशः उदार, विप्लववादी, राष्ट्रवादी, समाजवादी, साम्यवादी और सत्याग्रहवादी इन छः वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। राष्ट्र के उत्थान मे अपने अपने समय, शक्ति और विचार की मर्यादा के अनुसार थोड़ा या बहुत इन सभी दलों ने योग दिया।

नरम दल

उदार या नरम दल के राजनीतिज्ञों ने सार्वजनिक जीवन का श्रीगणेश किया।

यही स्वाभाविक भी था। जब राजसत्ता का दबदबा बहुत होता है तब उसके खुले मुकाबले का प्रारम्भ नरम ढंग से ही संभव है। सीधी और बड़ी मुखालिफ़त को आसानी से कुचल देने का राज्य को अवसर मिल जाता है। साधन उसके पास होते ही हैं। जनता दबी हुई होती है। वह न आवाज़ उठा सकती है, न हाथ। ऐसी हालत में नरम दल के लोग ही काम कर सकते हैं। वे शिक्षित और सम्पन्न होते हैं, हर प्रश्न का गहराई से अध्ययन करते हैं, लिखने बोलने की कला जानते हैं और युक्तियों मे जितना सामर्थ्य होता है उस हद तक सत्ताधारियों को घायल या परास्त भी कर लेते हैं। लेकिन राजसत्ताएं पशुबल पर अवलम्बित होती और लोकमत पर कायम रहती है। वे केवल दलीलों से न सुधरती हैं और न उखड़ती है। उन्हे हिलाने को ताक़त चाहिये। या तो आपके पास राज्यकर्त्ताओं से अधिक शक्ति हो अर्थात् सेना आपके पक्ष में हो या लोकमत आपके साथ हो और राज्य व्यवस्था पलटने के लिये आवश्यक कष्ट सहने को तैयार हो, तभी आप अनिच्छुक शासकों से अधिकार छीन सकते हैं। नरम दल वालो के पास ये दोनो ही बल नही होते। वे सिर्फ़ अर्ज मारूज़ कर सकते हैं, देशभक्ति में राजभक्ति का पुट मिला कर कड़वी गोली पर शक्कर का गलेफ़ चढ़ा सकते हैं, अपनी विद्वत्ता और तर्क की धाक जमा कर छोटी मोटी बातो मे सरकार से राहत दिला सकते हैं या बड़े ओहदे ले सकते हैं और देश के प्रति, हल्की सी ही सही, भक्ति की दीपशिखा सुलगती या जलती रख सकते हैं। इस दल का महत्त्व इस बात में है और वह छोटी बात नही है कि वह एक ऐसी पगडंडी बना देता है जिस पर आगे चल कर अधिक मनस्वी लोग एक प्रशस्त मार्ग निर्माण कर लेते हैं। वे राजनैतिक सेना में सफ़र मैना का काम देते हैं। ये लोग शुद्ध राष्ट्रवादी होते हैं, साम्प्रदायिकता से अछूते रहते हैं, सार्वजनिक और व्यक्तिगत जीवन में भेद की गुंजाइश मानते है और अपने को उच्च वर्ग के प्राणी समझने के कारण जनता में घुलमिल नहीं सकते। इनका प्रभाव बहुत सीमित रहता है। समाज सुधार, कष्ट निवारण और विचारो का आदान प्रदान आदि कार्य इनके हाथों कुछ न कुछ सम्पन्न होते है। रियासतो की राजसत्ता अधिक निरंकुश होने के कारण हमारे रजवाड़ों में दल के रूप मे तो ये लोग कभी सामने नही आये। सिर्फ़ अजमेर मेरवाड़ा में सन् १९१६ तक उन्होने कांग्रेस मे भाग लिया। उस वक्त कांग्रेस का ध्येय ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर और सम्राट् के प्रति वफ़ादार रह कर स्वशासन प्राप्त करना था। मगर रचनात्मक काम हमारे यहां के नरम दल वालो के हाथ से कुछ खास नहीं हुआ दीखता है। इनकी सबसे बड़ी कमज़ोरी यह थी कि अंग्रेजी राज्य को ईश्वर का प्रसाद मान रखा था। अवश्य ही ऐसा पोच ध्येय युवकों से तो फूटी आखों भी नही देखा जा सकता।

साधारण जनता से इनका वास्ता नहीं था इसलिये उसका बल भी इन्हे नहीं मिलता था।

राष्ट्रवादी दल

दूसरा दल राष्ट्रवादियो का था। इसमें धनिकों की उपेक्षा बौद्धिक वर्ग का हिस्सा ज्यादा था। वकील और डाक्टर वग़ैरा इसके कर्णधार थे। ये उदार दल से ज्यादा गरम बातें करने और साम्प्रदायिक प्रवृत्तियों से अलग रहने वाले थे। प्रचार तक ही इनकी पहुंच थी। इस अर्थ में नरम दल वालो से ये अधिक लोकप्रिय हुए। इनके पीछे भी किसी ठोस सेवा, सर्वसाधारण की आवाज़ या कुर्बानी का बल नहीं था। इनमे से कुछ लोगों को जेल की हवा भी खानी पड़ी। विदेशी बहिष्कार और होमरूल आन्दोलन इनके दो खास संघर्षात्मक प्रयत्न थे। स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा इनके कार्यक्रम का रचनात्मक भाग था। राजस्थान में इस दल ने कोई खास स्थान नही पाया और रियासतो मे तो इसका अस्तित्व भी नही हुआ। ये लोग भी देहाती जनता मे नहीं पहुंचे और न मज़दूरो या ग़रीबो की ही प्रत्यक्ष सेवा की तरफ़ ध्यान दे सके। इनका ध्येय नरमों से आगे बढ़ा हुआ था। ये ऐसा स्वराज्य चाहते थे कि संभव हो तो भारत एक उपनिवेश के रूप मे ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर रहे और आवश्यक हो तो उसके बाहर जाय। इनकी कल्पना में स्वराज्य का अर्थ यह था कि सत्ता अंग्रेज़ों के हाथ से शिक्षित भारतीयों के हाथ में आ जाय, सर्वसाधारण उसमें भागीदार हों या न हो। इस प्रान्त में इस दल के जो इक्के दुक्के कांग्रेस में शरीक हुए वे या तो जब मान या प्रतिष्ठा मिली तब शरीक हुए या अपने धन्धों को चमकाने के हेतु शामिल हुए। इनके कारण दलबन्दी भी बढ़ी।

क्रान्तिकारी दल

तीसरा दल विप्लववादियों का था। राजपूताने मे इसका अस्तित्व शुरू से था। हमारी मध्यकालीन हिंसापूर्ण वीरता की परम्परा के कारण राजस्थान देश के क्रान्तिवादी आन्दोलन का एक प्रमुख केन्द्र रहा। आरम्भ तो इन लोगों ने रूस, इटली और तुर्की आदि यूरोपियन देशो के अनुकरण से ही किया मगर बंगभंग के बाद बंकिम बाबू के 'आनंद मठ' की कल्पना और अरविन्द की शिक्षा से इसका भारतीय संस्करण स्वतंत्र बन गया। ये ऐसे राजनैतिक सन्यासियों की टोली थी जिनके एक हाथ में गीता और दूसरे मे तमंचा था, हृदय मातृभूमि को विदेशियों के बंधन से छुड़ाने के लिये व्रत-बद्ध था और बुद्धि अपने पराये के राग द्वेष से मुक्त थी। इनका उत्कट देशानुराग, इनका ध्येय प्राप्ति का उन्माद, इनका जान हथेली पर

रख कर चलना, इनकी कार्य-दक्षता, निर्भयता और पवित्र जीवन युवकों को स्फूर्ति देने वाला था। इनका साहसी कार्यक्रम शिक्षित वर्ग को प्रशंसक बनाने वाला और उनका प्रबल साम्राज्य की अतुल शक्ति का सामना करते हुए पतंगों की तरह बलिदान हो जाना शत्रु तक को शर्माने वाला था। इन्होंने नैराश्य के रेगिस्तान में स्वावलम्बन की हरियाली दिखाई, शासन मंडल के अत्याचारी व्यक्तियों में भय का संचार किया और सरकार को नृशंस दमन के मार्ग पर धकेल कर विदेशी शासन का असली रूप प्रकट किया। इनके कार्य के परिणामस्वरूप सत्ताधारियों को कुछ राजनैतिक सुधार भी देने पड़े लेकिन विप्लववाद का आधार हिंसा का ही था। हिंसा का परिणाम प्रतिहिंसा अनिवार्य है। इससे विपक्षी पर उल्टी ही प्रतिक्रिया होती है। इसका अनुसरण छुप कर ही हो सकता है और गुप्तता के साथ छल और झूठ का अटूट संबंध है। परायों पर चलाते चलाते जिन अस्त्रों का हमें अभ्यास हो जाता है पक्ष भेद होते ही हम उन्ही को अपनों पर भी चलाने लगते हैं। हमारा देश इतना विशाल है कि उसके लिये राष्ट्रव्यापी गुप्त संगठन एक असाध्य चीज़ है। भोली भाली ग्रामीण जनता के संस्कार उसे सतत हिंसा और असत्य के मार्ग पर नहीं चलने देते। हत्या और लूटमार के प्रति उसकी हार्दिक या व्यापक सहानुभूति नहीं हो सकती। यही कारण है कि जहां आयरलैंड के दो सौ वर्ष के राष्ट्रीय संग्राम में क्रांतिकारियों के खिलाफ कोई देशद्रोही गवाही देने और जनता मदद करने को तैयार नहीं हुई, वहां भारत के सिर्फ तीस साल में ही लगभग हर राजनैतिक षड्यंत्र भेदियों और विश्वासघातियों के कारण असफल हुआ। अज्ञान और दरिद्रता के कारण फौज में भरती होने वाले भाड़े के आदमियों से भी बहुत आशा नहीं की जा सकती कि वे किसी सशस्त्र क्रान्ति में प्रजा पक्ष का साथ देंगे। सच तो यह है कि इस छल बल और शस्त्र बल में अंग्रेज इतने पटु थे कि इस अखाड़े में उतर कर उनसे जीतना बहुत मुश्किल था। इनमें समझौते की गुंजाइश नहीं थी। सैनिकों को सदा जीवन मरण और मैदान जंग में डटे रहना पड़ता था। ऐसा अविश्रान्त युद्ध बीच बीच में आराम मांगने वाली मानव-प्रकृति के विपरीत था। साधारण जनता से इसका सम्पर्क नहीं था और लोकमत का खुला समर्थन मिल नहीं सकता था। ये लोग भावना प्रधान होते थे। राजस्थान के क्रान्तिकारियों में अधिकांश बंगाल और महाराष्ट्र के आदि विप्लववादियों जैसी नैतिक उच्चता प्राप्त नहीं थी। सन् १९२० के बाद क्रान्तिकारी जीवन की शुद्धता, अपनों के साथ सरल व सरस व्यवहार, सिद्धान्तों की [illegible] साहस और साधनों की पवित्रता आदि गुण देश के दूसरे भागों के के विप्लववादियों में भी कम होते गये। [illegible] राजनीति में [illegible] में पड़ गये। मगर इसके कुछ कारण भी थे। प्रथम तो [illegible]

प्रभाव ने इनकी आस्तिकता और नैतिकता को ठेस पहुंचाई, दूसरे खुली देशभक्ति से मिलने वाले पद और प्रतिष्ठा का जादू चला और तीसरे रचनात्मक कार्यक्रम में लगे हुए सेवकों को मिलने वाले साधनों और सुविधाओं ने ईर्ष्या व प्रलोभन उपस्थित किया। फल यह हुआ कि कफ़न बांध कर चलने वाले ये राजनैतिक फ़कीर भी निष्ठा, निस्पृहता और तप के मार्ग से विचलित हो गये। त्याग के अभिमान ने सहयोग का द्वार नहीं खुलने दिया। दूसरे क्रियाशील दलों से इनका संघर्ष दीर्घकालीन रहा। फिर भी इनमें अन्य दलों की अपेक्षा देश के लिये कुछ न कुछ कर गुज़रने का उत्साह अधिक बना रहा। विप्लववादी राजस्थान यह गर्व कर सकता है कि उसमें अनेक प्रसिद्ध क्रान्तिकारियों को आश्रय मिला और उसने दूसरे प्रान्तों की तरह विश्वासघाती गवाह पैदा नहीं किये।

साम्यवादी दल

साम्यवादी या कम्यूनिस्ट दल भारत में रूस की १६१७ वाली लाल क्रान्ति के बाद पैदा हुआ। ज़ारशाही के लोमहर्षी अत्याचारों का अन्त करके यूरोप के सबसे बड़े राष्ट्र ने जब ग़रीबों के राज की दुंदुभी बजाई तो संसार के पीड़ित वर्ग में एक अजीब आशा, उत्साह और आत्म विश्वास की लहर दौड़ गई। साम्यवाद ने सैकड़ों के दिल व दिमाग पर जल्दी ही कब्ज़ा कर लिया। देखते देखते उनमें कार्ल मार्क्स का तत्वज्ञान घर कर गया। सन् १६१६ तक मुझ पर भी इसका काफ़ी असर रहा। इस दल की विशेषता यह थी कि यह सर्वसाधारण के साथ एकरस था। इसका उद्देश्य व्यक्तिगत सम्पत्ति, साम्राज्यवाद और शोषकवर्ग को मिटा कर वर्गहीन समाज की रचना और अन्त में अहिंसा की प्रस्थापना करना है। यह मानता है कि जो श्रमिक अपना पसीना बहा कर सुख के सारे साधन पैदा करते हैं उन्हीं के हाथ में इन साधनों का नियंत्रण होना चाहिये। वह यह भी मानता है कि राज्य संस्था संगठित हिंसा का दूसरा नाम है और अहिंसा के कायम होने और जीवित रहने का एकमात्र उपाय यह है कि कोई सरकार ही न हो और समाज के सब कामकाज उसके सदस्यों की कर्त्तव्य परायणता, सहयोग और जिम्मेदारी की भावना से चलें। परन्तु पूंजीपतियों, साम्राज्यवादियों, सामन्तशाहों और अन्य शोषक वर्गों को उखाड़े और उनकी ढाल शासन संस्थाओं को तोड़े बिना यह स्थिति नहीं आ सकती। इसलिये साम्यवाद के मातहत बीच की अवस्था यह होगी कि हिंसा का आश्रय लेकर साम्यवादी सरकार कायम की जाय। इस दल के प्रयत्न से भारत के मजदूरों में काफ़ी और किसानों में कुछ जागृति हुई। धुन के पक्के ये लोग भी उतने ही थे जितने विप्लववादी। इनमें साम्प्रदायिकता तो नाम को भी नहीं थी। प्रचारक

इनसे बढ़ कर शायद ही कोई दूसरा दल होगा। मगर इनका अनीश्वरवाद, इनकी नैतिकता के प्रति उदासीनता, इनकी कटु आलोचना और व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक जीवन में इनकी विषमता इनके ऐसे दोष थे जिनके कारण ये भारतीय लोकमत का समर्थन नहीं पा सके। ब्रिटिश सरकार इन्हें विप्लववादियों से भी खतरनाक समझती थी। इसलिये उसके दमन की चक्की में ये खूब पीसे गये। इनका यह विश्वास है कि जनता में असंतोष कायम रहना और बढ़ना चाहिये ताकि उसमें क्रान्तिकारी भावना बनी रहे। इसलिये लोगों के तात्कालिक कष्ट निवारण का उपाय न करना, पूंजीपतियों और साम्राज्यवादियों के साथ किसानों व मजदूरों के संघर्ष द्वारा वर्गयुद्ध की स्थिति बनाये रखना साम्यवादियों की कार्य पद्धति का एक खास उसूल है। लेकिन इससे एक हानि होती है। सार्वसाधारण की मनोवृत्ति यह है कि वे बातें खूब गरमा गरम पसन्द करते और नारे उग्र से उग्र बुलन्द करते हैं, मगर लम्बा और तीव्र कष्ट सहन नहीं कर सकते। इसलिये हर भिड़न्त में उन्हें कुछ न कुछ राहत न मिले और कोई न कोई स्पष्ट अधिकार या सुविधा प्राप्त न हो तो उनका न अपने नेताओं पर और न उनके बताये हुए रास्ते पर ही विश्वास स्थिर रहता है। फिर भी साम्यवादी विचारधारा का असर हमारे शहरी मजदूरों पर जरूर हुआ है और बड़े बड़े कारखानों में काम करने वाले लोग लाल झण्डे के नीचे एक हद तक संगठित भी हुए हैं। राजस्थान में भी अजमेर, ब्यावर, किशनगढ़ आदि की मजदूर हड़तालों में साम्यवादियों का हाथ था। साम्यवादियों की क्रान्ति की कल्पना में इन्हीं शहरी श्रमजीवियों को अग्रगामी दल और स्तम्भ माना गया है। इसलिये इन्हें मुट्ठी भर होते हुए भी वे असंख्य किसानों की अपेक्षा अधिक महत्व देते हैं। लेकिन इस विचार का भारतीय परिस्थिति में मेल नहीं बैठता। यहां के ८० फ़ीसदी लोग देहाती हैं। किसान सदियों से एक खास तरह की संस्कृति में पला है। उसे ऐसा कोई रास्ता पसन्द नहीं हो सकता जो सर्वथा विदेशी और नया हो, जो धर्म और ईश्वर की सत्ता के विपरीत दिखाई देता हो, जिसमें छल कपट या मारकाट की छूट या प्रधानता हो और जिसके साथ चिर संघर्ष लगा हुआ हो। शायद इसलिये भी किसानों की तरफ़ हमारे साम्यवादियों ने बहुत ध्यान नहीं दिया। बहरहाल, हिन्दुस्तानी काश्तकार आम तौर पर साम्यवाद से प्रभावित नहीं हुए। इसका सूत्र संचालन रूस से होने के कारण राष्ट्रवादी भारत के स्वाभिमान ने इसे ज्यों का त्यों अंगीकार करने से इन्कार किया और जनसाधारण ने इस धर्म विरोधी विचार सरणी को नहीं अपनाया। राजस्थान के सार्वजनिक जीवन में इस दल का कोई रचनात्मक भाग नहीं रहा और न उसके अधिकांश सदस्यों के साधारण व्यवहार की ही अच्छी छाप पड़ी। जो भी प्रतिक्रिया हुई वह प्रतिकूल ही

हुई। पिछले महायुद्ध के समय तो साम्यवादी दल ने राष्ट्र के साथ स्पष्ट ही दग़ा किया।

समाजवादी दल

समाजवादी (सोशलिस्ट) दल कांग्रेस के साथ रहा। पिछले दिनों तक राजस्थान में इनकी गिनती अंगुलियों पर हो सकती थी। ऐसी हालत में उनका दल या संगठन तो होता ही क्या ? हां, उदार दल की तरह इनमें भी चोटी के लोग अध्ययनशील, उच्च शिक्षित और तर्कशील होते हैं। समतावादियों मे इनकी स्थिति नरमदल की है। फ़र्क इतना ही है कि ये पूर्ण स्वाधीनता और बड़े उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के पक्षपाती रहे। साम्प्रदायिकता से ये भी दूर रहते हैं। मगर उतने ही दूर रचनात्मक कार्यों से भी रहते हैं। राजस्थानी समाजवादी तो मजदूरों या साधारण जनता के साथ भी बहुत सम्पर्क स्थापित न कर सके। अल्बत्ता प्रजामण्डलों और कांग्रेस संगठन में, पत्रकारों और विद्यार्थियो मे इनकी संख्या बढ़ती रही। कांग्रेस से अलग होकर ये क्रियाशील भी ज्यादा बनेंगे। विरोधी दल के रूप में इसकी लोकप्रियता बढ़ने की संभावना है।

सर्वोदयवादी दल

सर्वोदयवादी दल सबसे व्यापक, संगठित और लोकप्रिय रहा। इसे सत्याग्रहवादी और गांधीवादी भी कहते है। इसकी सफलता का मुख्य कारण इसके प्रणेता और नायक महात्मा गांधी का अद्वितीय कार्य, अलौकिक व्यक्तित्व और देश विदेश व्यापी प्रभाव था। सन् १९२० से ही गाधीजी हमारे राजनैतिक गगन में सूर्य के समान चमकते रहे। हमारे राष्ट्रीय जीवन के हर पहलू पर उनके विचारों का प्रकाश पड़ा है और समाज की प्रत्येक प्रवृत्ति पर उनके व्यक्तित्व का प्रभाव हुआ है। उन्होने हर दिशा में जाति का सुधार करने की कोशिश की है। ऐसी सर्वतोमुखी सामर्थ्यवाली विभूति की तरफ़ सभी का आकर्षित होना स्वाभाविक था। गांधीजी ने भारतीय संस्कृति के मूल और मुख्य आधार की रक्षा करते हुए पश्चिम की वे सभी खूबियां ग्रहण करलीं जो हमारी सांस्कृतिक सम्पत्ति और राष्ट्रीय शक्ति को बढ़ा सकती थी। उनके सर्वोदयवाद मे दूसरे वादों की खास खास अच्छाइयां शामिल हैं। इसमें विप्लववाद का गीतामय जीवन और पूर्ण स्वाधीनता का ध्येय, नरम दल की समाज सुधार, रचनात्मक सेवा और समझौते की वृत्ति, राष्ट्रवाद की असाम्प्रदायिकता, समाजवाद का बड़े उद्योगों का राष्ट्रीयकरण और साम्यवादियों की अराजकता थी। विप्लववाद और साम्यवाद की तरह यह निश्चय के, कृति के बल (Sanctions) में विश्वास रखता है और इन

दोनों से अधिक आमूल और व्यापक क्रान्ति का हिमायती है। सत्याग्रहवाद वर्गयुद्ध के विग्रहकारी कार्यक्रम के बजाय सब की भलाई चाहता, शोपक वर्ग के नाश का व्यर्थ प्रयास छोड़ कर उसके हृदय परिवर्तन और स्वेच्छापूर्वक त्याग का अधिक स्वभाविक और आशामय प्रयत्न करता है। समाजवादियों की तरह वह भी मानता है कि पूंजी के सच्चे उत्पादक और असली स्वामी मजदूर है और उत्पादन में केवल वृद्धि या धन लगाने वाला समुदाय मालिक नहीं, ट्रस्टी या रक्षक बनने का हक्दार है। यह समाजवादियों और साम्यवादियों की राजाओं, जागीरदारों और दूसरे परंपरागत सुविधा और सत्ताभोगी समूहों के विनाश का पथ ग्रहण न करके उन्हें जनता के सेवक बनाने का पक्षपाती था। इस कारण इन विशेष समुदायों की तरफ़ से भी गांधीवाद का तीव्र विरोध नहीं हुआ और एकहद तक उनकी सहानुभूति भी मिली। हिन्दू धर्म के आधारभूत सिद्धांत सत्य और अहिंसा के साथ गाधीजी ने अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अस्वाद आदि यम नियमों का पुट लगा कर असग्रह, शरीरश्रम, निर्भयता, सर्वधर्म समभाव, स्वदेशी और स्पृश्यता के ग्यारह नियम ऐसे बता दिये जिन्हें गांधीवाद के तत्व कह सकते है। सत्य सर्वोपरि है, मगर अहिंसा के बिना उसका श्रेयस्कर पालन नहीं हो सकता। या यों कहिये कि न्याय साध्य है और उसका साधन प्रेम हो तभी वह कल्याणकारी हो सकता है। लक्ष्य शुद्ध होने पर भी उस तक पहुंचने के तरीके अशुद्ध हों तो लक्ष्य अनिष्ट हो सकता है। इस बात पर बड़ा जोर है। यह एक निर्विवाद सचाई है कि झूठ और क्रोध का, छल और पशुबल का, दूसरे पर अच्छा असर नहीं होता। प्रतिपक्षी का हृदय अहिंसा अर्थात् प्रेम, दया, क्षमा या उदारता से ही जीता जा सकता है। लेकिन इस हृदय परिवर्तन के लिये निष्क्रिय अहिंसा काफ़ी नहीं है। उसे सक्रिय होना चाहिये। पापी, अत्याचारी या विरोधी के प्रति रोष या बल प्रयोग न करते हुए और सब कष्ट सहकर भी सत्याग्रही का उचित बात पर डटे रहना जरूरी है। इसी को सत्याग्रह कहते हैं। गांधीवाद के शस्त्रागार का यही ब्रह्मास्त्र है। लेकिन सत्याग्रही को अस्तेय यानी चोरी न करने का व्रत भी पालन करना जरूरी है। उसके विचार से इतना ही काफ़ी नही है कि किसी की चीज उससे बिना पूछे बुरी नियत से न ली जाय, बल्कि यह भी आवश्यक है कि हम संसार को अधिक से अधिक दें और अपने लिये कम से कम लें। ब्रह्मचर्य के पुराने अर्थ में भी गांधीवाद ने यह सुधार और विस्तार किया है कि अविवाहित रहने या विवाहिता पत्नी से अलग होने की अपेक्षा उसके साथ रहकर संयम रखने में अधिक शौर्य है। अस्वाद के नियम का उपभोग भी स्पष्ट ही है कि मनुष्य अधिक खाकर बीमार पड़ने और विकारों का शिकार होने से बचे। असंग्रह की कल्पना साम्यवाद के व्यक्तिगत सम्पत्ति न रखने वाले विधान

से भी आगे बढ़ी हुई है। उस विधान मे कुछ हजार तक रुपया रखने की गुंजाइश है तो यहां रोज़ कुआ खोदने और रोज़ पानी निकालने की आशा रखी गई है। इन पांचों नियमों का लाभ एक ग़रीब देश के सेवकों के लिये साफ़ ही है। शरीरश्रम का महत्व अस्वाद की तरह स्वास्थ्य के लिये तो है ही, इसका मुख्य मूल्य मनुष्य की शोषणवृत्ति कम करने मे है। हम अधिक से अधिक सुख भोगना चाहते हैं इसलिये खुद कम से कम काम करके दूसरों से ज्यादा से ज्यादा काम लेने की कोशिश करते है। नतीजा यह होता है कि ससार मे एक तरफ़ मुट्ठी भर पढ़े लिखे, धनवान और सत्ताधारी लोग हैं जो जरूरत से ज्यादा खाते, पहनते और नाम मात्र को मेहनत करके भी मौज उड़ाते हैं और दूसरी ओर करोड़ों इन्सान अपना खून पसीना एक करके भी नंगे भूखे और निराश्रित रहते हैं। एक वर्ग शरीरश्रम के अभाव में और दूसरा उसकी ज्यादती से स्वास्थ्य की हानि करता है। गांधीवाद ने निजी कामो के रूप में शरीरश्रम आवश्यक करार देकर वर्ग विषमता और शोषण के एक ज़बरदस्त कारण को दूर करने का उपाय सुझाया है। भारत सतान की चिर भीरुता को मिटाने के लिये निर्भयता का पाठ पढ़ा कर गांधीजी ने हंसते हंसते जेल, लाठी और गोली की मार सहने का साहस उत्पन्न किया है। अंग्रेज़ों की फूट डाल कर शासन करने की नीति ने हिन्दू, मुस्लिम और दूसरी जातियों में वैमनस्य का विष वृक्ष लगाया। उसके उन्मूलन के लिये भी सर्वधर्म समभाव ज़रूरी था। मगर इससे भी बडी शिक्षा इस व्रत में यह है कि हम सब एक ईश्वर की सन्तान हैं, सारे धर्म उसी एक लक्ष्य तक पहुंचने के अलग अलग रास्ते मात्र हैं और हम सब अपने धर्म से प्रेम और दूसरे धर्मों का आदर करते हुए भाई भाई की तरह सुख शान्ति से रह सकते है। विदेशी चीज़ो की झूठी तड़क भड़क और सस्तेपन की ग़लत धारणा ने हमें अपने देश की बनी हुई वस्तुओ के प्रति इतना उदासीन बना दिया था कि हम अंधे होकर अपना धन विदेशों मे वहां रहे थे और अपने उद्योग धंधो की हत्या करते जा रहे थे। गांधीजी ने हमारी स्वदेशी की भावना को अधिक सुदृढ़ और सजीव तो किया ही, हमें उनसे इस विषय मे एक मौलिक विचार भी मिला है। स्वदेशी की उनकी यह व्याख्या यहां तक जाती है कि हम अपने पड़ौसी की सेवा पहले करें और फिर बूते के अनुसार सेवा का क्षेत्र बढाते जावें। अस्पृश्यता को मिटाये बिना तो राष्ट्र में न्याय, एकता और समानता की स्थापना ही नहीं हो सकती थी।

सर्वोदयवाद मे मधुरता, शान्तिप्रियता और जीवदया देख कर धनिकवर्ग ने इसके अनुयायियों को धन की अच्छी सहायता दी। कुछ अमीरों ने इन्हें भावी तारक समझ कर मदद की। गांधीजी ने गोखले की भारत सेवक समिति से

आजन्म सेवा करने वाले कार्यकर्त्ताओं की कल्पना लेकर धनवानों के दान से उसका खूब उपयोग और विस्तार किया। इससे देश में सैकड़ो ऐसे सेवक पैदा हो गये जो सारा समय लगा कर जनता की भलाई का कोई न कोई काम करते रहे। इनका एक बलशाली संगठन बन गया। ये लोग आजादी की लड़ाइयों में तो सैनिक बन जाते और शान्तिकाल मे अस्पृश्यता निवारण, शिक्षा, सेवा, ग्राम उद्योग और कष्ट निवारण आदि मे से किसी न किसी रचनात्मक प्रवृत्ति मे लगे रहते। इससे कार्यकर्त्ताओं को भावी स्वराज्य सचालन के लिये आवश्यक तालीम मिलती रही, जनता से दिन रात का सीधा संबंध बढता रहा, उसके दुःख सुख, आवश्यकताओं और आकाक्षाओ का ज्ञान होता रहा, ग्रामीणों की कुछ न कुछ प्रत्यक्ष सेवा होती रही, उन्हे थोड़ी बहुत रोजी मिलती रही, राजकर्मचारियों, सूदखोरों और दूसरे शोषक वर्गों से उनकी कुछ रक्षा होती रही और रोज़मर्रा के जीवन को सुखी और शुद्ध रखने के लिये उचित सलाह प्राप्त होती रही। इन सब बातो से देहाती जनता की राष्ट्रीय आन्दोलन में दिलचस्पी बढती रही। वह यह समझ कर उसमें भाग लेती रही कि आन्दोलन उसी की भलाई के लिये है। उसे यह विश्वास होता था कि जिस लड़ाई में वह खुद हिस्सा ले रही है उसका फल भोगने यानी शासन के अधिकारों में भी उसका भाग जरूर रहेगा। सत्याग्रह का संग्राम हमारे देहातियों की स्थिति, संस्कार और शक्ति के अनुकूल था। एक निःशस्त्र, विशाल और अहिंसा प्रधान संस्कृति वाले देश के बेचारे निरक्षर, दरिद्र और सीधे सादे ग्रामीण अंग्रेज़ों जैसे घुटे हुए कूटनीतिज्ञ, हिंसापटु और सगठित शासकों के सामने गुप्त मार काट, छल कपट की राजनीति या हथियार बन्द बगावत में कैसे टिक सकते थे? उन्हे तो खुला और सीधा कार्यक्रम ही पसन्द आ सकता था। इस कार्यक्रम की सफलता मे स्फुट लड़ाइयो से विश्वास तो हो ही गया था, सत्याग्रह के देशव्यापी धर्मयुद्ध मे वह हर बार बड़ी संख्या में शरीक हुए। गांधीजी ने स्त्रियो, अछूतों, आदिम जातियो और अल्पसंख्यकों के उत्थान कार्य को भी चालना दी। इस कारण सर्वोदयवादी इन वर्गों मे भी लोकप्रिय हुए। गाधीजी के कार्यक्रम में बाल, वृद्ध और कमजोर सभी के लिये स्थान था। वे भी सहायक हुए।

सबसे महत्व की बात यह है कि सामूहिक अहिंसावाद में संसार की समस्याओं को हल करने का सामर्थ्य है। राष्ट्रों मे हिंसा और असत्य के आधार पर जो आर्थिक, राजनैतिक और सैनिक संघर्ष चिर-काल से चला आ रहा है वह सत्य और अहिंसा मूलक उपायो से ही रुक सकता है। सभी देशो के विचारशील व्यक्ति गांधीवाद की इस योग्यता से आकर्षित हुए हैं और इसमे तो कोई शक ही नहीं कि जब भारत आजाद हो गया है और पिछले महायुद्ध के बाद

नया महासमर मुंह फाड़ रहा है तो दुनिया की आखें गांधीजी के तरीकों की तरफ़ लगी हुई हैं।

देशी राज्यो की दृष्टि से देखा जाय तो उदार दल को छोड़ कर दूसरे राजनीतिज्ञो ने प्रायः उनकी उपेक्षा की थी। इस कारण वहा की आठ करोड़ जनता के लिये ब्रिटिश भारत की राजनीति दिलचस्पी की चीज नही थी। गाधीजी ने एक रियासत मे जन्म लिया, हिन्दुस्तान की आज़ादी मे रियासती प्रजा को साझीदार बनाया और काग्रेस संगठन मे उसे प्रतिनिधित्व दिलवाया। इतना ही नही, उन्होंने देशी राज्यो मे रचनात्मक कार्य के ज़रिये सार्वजनिक जीवन की जड़ जमाई और बाद मे उसे ब्रिटिश भारत की तरह ठेठ तक पहुंचा दिया। इस कारण गांधीवादियो को रियासती प्रजा का समर्थन भी मिल गया। राजस्थान देशीराज्य प्रधान प्रात था और सेठ जमनालालजी जैसे समर्थ व्यक्ति राजस्थानी थे। इस कारण इस प्रान्त में गांधीवादियों का असर व्यापक और स्थायी रहा। मगर गाधीवादियो में, कम से कम राजस्थान मे बाहर से आने वाले अधिकाश गांधीवादियों मे, न विप्लववादियों का सा उन्माद था और न साम्यवादियो की सी धुन थी। वे राजस्थान सेवासंघ के कार्यकर्ताओं की तरह त्याग, कष्ट सहिष्णुता और परिश्रमशीलता का उदाहरण भी पेश न कर सके। आम तौर पर उनकी सहनशीलता तथा नम्रता आदि गुणो के साथ साथ उनकी आरामतलबी और साधनों के मोह की भी दूसरो पर छाप पड़ी। प्रमुख व्यक्तियो में से अधिकाश में कार्यशक्ति और नेतृत्व के गुणों की भारी कमी पाई गई। दुर्भाग्यवश जब से यह दल राजपूताने मे बना तब से आपस का संघर्ष घटने के बजाय बढ़ता ही गया और हर दल से इसकी किसी न किसी समय टक्कर हो गई। इन कारणो से कुल मिला कर प्रान्त की सेवा इनके हाथों और किसी भी दल से कम न होने पर भी जितने साधन, जितना समर्थन और जितना अवसर इनको मिला उतना काम इनके हाथों नहीं हो पाया।

प्रतिकूलताएं

हमारे प्रान्त के राष्ट्रीय प्रयत्नो को यथेष्ट सफलता न मिलने का कारण हमारी दो तरह की प्रतिकूलताएं थी। प्रथम तो राजस्थान की भौगोलिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक परिस्थितिया अनुकूल नही थी। अजमेर मेरवाड़ा के छोटे से हिस्से को छोड़ कर बाक़ी सारा इलाका रियासती था। पिछले युद्ध साल पहले तक इसमे सार्वजनिक कामो की बहुत कम गुंजाइश थी। लिखने, बोलने, अखबार निकालने और सभा संस्था संगठित करने की आज़ादी न होने से निर्दोष प्रवृत्तिया भी बंद थीं। जिनके दिलों मे देशभक्ति के भाव उदय होते उन्हें वहां काम करने

का मौका न मिलता। इसलिये उच्च शिक्षितों मे व्यावहारिक बुद्धि वाले तथा जोरदार तबियत वाले अंग्रेजी इलाके में आकर कांग्रेस या रियासती लोक परिषद मे शरीक होकर अपनी सार्वजनिक आकाक्षाओं की पूर्ति करते। मगर अजमेर मेरवाड़ा खुद भी निरंकुश शासन के अधीन था। उसका दायरा भी छोटा सा था। इस सीमित क्षेत्र मे भी रचनात्मक कार्य की ओर जितना ध्यान दिया जाना चाहिये था उतना नही दिया गया। छोटी सी जगह में बहुत से कार्यकर्ता इकट्ठे हो गये। उन्हे भी पूरी तरह काम मे लगाये रखने की चिंता नही की गई। निठल्ले रहने और सबकी महत्वाकाक्षाओ के लिये अवसर न मिलने के कारण आपसी संघर्ष अनिवार्य हो गया।

बेमेल प्रांत

कार्यकर्ताओं की भीड़ और पारस्परिक झगडो का दूसरा कारण हमारे प्रांत का बहुत बड़ा बना दिया जाना भी था। कांग्रेस ने जिस वक्त मध्यभारत और राजपूताना की रियासतों को अजमेर मेरवाड़ा के साथ मिला कर एक सूबा बनाया उस वक्त न तो नेताओं को ही परिस्थिति का सम्यक् ज्ञान था और न प्रान्त के राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं को ही इस प्रश्न के महत्व और भावी उलझनों का खयाल था। असल में भूगोल, राजनीति और सभ्यता के लिहाज़ से राजपूताना के रजवाड़ों और अजमेर मेरवाड़ा का ही मेल बैठ सकता था। मध्यभारत की ये स्थितिया स्पष्टत: एक अलग प्रान्त की माग करती थी। उसके बहुत से भाग अजमेर से दूर होने के कारण प्रान्त के राष्ट्रीय केन्द्र से घनिष्ट सम्पर्क नही रख सकते थे। यह दूरी आमदरफ़्त के लिये ख़र्च होने वाले समय और धन की समस्या भी उपस्थित करती थी। इसी वजह से मध्यभारत की जनसंख्या और कार्यकर्त्ताओं की तादाद के मुताबिक बहुत अर्से तक उन्हें योग्य महत्व नही मिल सका और उनमें यह असंतोष रहा कि मध्यभारत राजपूताना का पुछल्ला है। बुंदेलखंड वाले तो आखिर इस प्रान्त से निकल ही गये। उधर मध्यभारत वालों को यह शिकायत रही कि जो लोग उन्हे छोड़ कर अजमेर आ गये है उन्हे मध्यभारत का प्रतिनिधि क्यों मान लिया जाता है और इधर राजपूताने वालो को यह शिकायत रही कि बाहर के लोग हमारे शिर पर आ बैठे हैं।

साधनों का दुरुपयोग

रचनात्मक काम भले ही अजमेर मेरवाड़ा मे बहुत न हुआ हो, किन्तु प्रान्त मे तो हुआ ही। इस कार्यक्रम की सफलता का रहस्य इस बात में होता है कि उसमें लगे हुए कार्यकर्त्ता सभी दलो का सद्भाव प्राप्त करें। यह सद्भाव चुनाव

सम्बन्धी और दूसरे राजनैतिक झगड़ो मे तटस्थ रह कर ही प्राप्त किया जा सकता है। मगर हमारे यहां के रचनात्मक सेवक, विशेषतः खादी कार्यकर्त्ता यह निरपेक्ष वृत्ति नहीं रख सके और राजनैतिक दल बन्दी मे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से भाग लेते रहे। सेवा के साधनों का इस प्रकार का उपयोग पारस्परिक संघर्ष बढ़ा ही सकता था।

नेतृत्व का अभाव

एक बड़ी प्रतिकूलता हमारे प्रान्त की यह रही कि हमारे किसी राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता को शक्तिशाली नेतृत्व का पद और सर्वाङ्गीण प्रभाव प्राप्त नहीं हुआ। सेठीजी और पथिकजी दो व्यक्ति जरूर ऐसे थे जिनमे प्रारम्भ मे नेता के काफ़ी लक्षण दिखाई दिये। मगर वे लगभग बराबर के आदमी थे। उनमे आपस मे स्पर्धा रही। कार्यक्षेत्र अलग अलग होने के कारण संघर्ष भले ही उनमें तीव्र न हुआ हो परन्तु असहयोग तो था ही। सेठ जमनालालजी ही एक ऐसे समर्थ पुरुष थे जिनका व्यक्तित्व, प्रभाव और व्यवहार प्रान्त के छोटे बड़े अधिकांश कार्यकर्त्ताओं पर असर डाल सकता था। मगर वे अखिल भारतीय नेता थे। मध्यप्रांत मुख्यतः उनका कार्य एवं निवासक्षेत्र था। राजस्थान में आकर बैठने की उनको फ़ुर्सत न थी। यहां के गांधीवादी दल के वे सरपरस्त थे। जब यह दल आपसी झगड़ो मे पड़ा तो सेठजी की स्थिति, ग़लत या सही, दूसरे दलों की दृष्टि में सर्वथा निष्पक्ष नही रही। फिर भी मेलमिलाप और संगठित कार्य के हर प्रयत्न को उनकी तरफ़ से प्रोत्साहन मिलता था। बाकी के लोगों मे से जो प्रान्त के सार्वजनिक जीवन का पथ प्रदर्शन करने की क्षमताएं रखते थे वे अपनी व्यक्तिगत कमजोरियों के साथ साथ सार्वजनिक ईर्ष्या के शिकार हो गये। जो इस विषय मे अधिक भाग्यशाली थे उनमें लोकनायक बनने की योग्यताएं नही थी। लेकिन महत्वाकांक्षा तो थी ही। उसकी पूर्ति के लिये अपात्रों को आर्थिक सहायता या पद-दान की नीति से अपना बना कर रखना स्वाभाविक था। फलतः नये और छोटे कार्यकर्त्ताओं में लोभ की वृत्ति पैदा हुई और वे खुशामद के जरिये सुविधाएं प्राप्त करने की कला सीखने लगे। अनुयायियों की हेरा फेरी हमारे सार्वजनिक जीवन का एक स्थायी सा अभिशाप हो गया। एक नेता के प्रति बेवफ़ाई दूसरे नेता के प्रति श्रद्धा की कसौटी बन गई। इस गड़बड़ में अपने आदमियों की प्रशंसा और दूसरों की ग़लतियों की निन्दा करना राजनैतिक अखाड़े की साधारण नीति हो गई। उद्दंडता दूसरों मे पाई गई तो वह "गुण्डाई" कहलाई और अपनों मे हुई तो उसे "दबंगपन" का दर्जा मिल गया। विरोधी की साधुता को धूर्तता और उसकी ईमानदारी को उच्छृंखलता बता कर कोसा गया। फिर भी

हमारे यहां 'राजस्थान के एकमात्र नेता' का निर्माण करने के कई प्रयत्न हुए। इनके असफल होने पर सामूहिक नेतृत्व का विकास करने की चर्चाएं चली। खयाल अच्छा था। अ० भा० कांग्रेस की कार्यसमिति का उदाहरण भी मौजूद था। मगर हमारे प्रांत मे आपस के झगड़ों से दिलो में इतनी खाई पैदा हो गई थी कि पुराने कार्यकर्त्ताओं में तो आपस मे सहयोग नही हो सका और नये लोगो की महत्वाकांक्षा की कोई सीमा नहीं थी। वे छलांग मार कर सभी के शिर पर बैठना चाहते थे। कुछ ऐसे जीव भी थे जो न किसी एक व्यक्ति का लोहा मानने को तैयार होते थे और न किसी ऐसे सामूहिक नेतृत्व को पसन्द करते थे जिसमें वे खुद सम्मिलित न किये गये हो। फिर भी हमें आगे पीछे इसी सामूहिक उपाय का अवलम्बन करना पड़ेगा। दूसरा कोई चारा ही नही दीखता।

स्थानीय प्रश्नों की उपेक्षा

हमारे संगठन में यह खामी रही कि हमने स्थानीय प्रश्नो की तरफ़ ध्यान नहीं दिया। इस कारण सर्वसाधारण और खास कर पीड़ित और दलित वर्ग की वास्तविक सहानुभूति और क्रियात्मक सहयोग प्रान्तीय या स्थानीय शाखाओं को यथेष्ट नही मिला। इसका एक प्रमाण और परिणाम यह है कि हमारे बड़े से बड़े राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओ के नाम और काम से आम जनता परिचित नही हुई और कांग्रेस के मामूली आयोजनों मे उसने बहुत थोड़ी दिलचस्पी दिखाई। इस दिशा मे अजमेर में सिर्फ़ तीन कार्यकर्त्ताओं ने प्रयत्न किया। श्री कृष्णगोपाल गर्ग ने व्यापारियों में, श्री बालकृष्ण गर्ग ने हरिजनों और म्यूनिसिपल्टी के निम्न कर्मचारियो में और श्री ज्वालाप्रसाद ने रेल्वे मजदूरों मे उनकी दैनिक समस्याएं और प्रत्यक्ष तकलीफ़ें मिटाने के लिये काम करने का प्रयत्न किया।

सामन्तों की स्वार्थपरायणता

प्रान्त की साधारण जनता और उसके भिन्न-भिन्न वर्गों की हालत भी किसी प्रगतिशील और प्राणदायक कार्यक्रम के अनुकूल नहीं थी। ब्रिटिश संरक्षण ने हमारे राजाओं को अंग्रेजों के सामने भेड़ और प्रजा के आगे शेर बना दिया था। अधिकांश को भोग विलास के सिवाय दूसरे किसी शग़ल में दिलचस्पी नही रही। वे अपने को देश के सेवक और वस्तुतः प्रजा के स्वाभाविक नेता समझ कर आगे बढते तो उन्नति का मार्ग काफ़ी सुगम और प्रशस्त हो सकता था। जागीरदारों की ज्यादतियां राजाओं से भी अधिक अमर्यादित थी। वे राजा प्रजा दोनों के अप्रिय बन कर लोकहित के लिये निकम्मे हो गये। इन दो वर्गों में देश प्रेम, दूरदर्शिता और कर्मण्यता होती तो इन्हें भारत के मशुराई कहलाने का

और भारत को जापान की तरह स्वातंत्र्य सुख भोगने का सौभाग्य कभी का सुलभ हो सकता था।

पूंजीपतियों की संकीर्णता

धनवानों में दान देने का संस्कार प्रबल था, परन्तु उसमें विवेक का अभाव था। वे जो कुछ देते थे अधिकांश ऐसे कामों में देते थे जिनका आधुनिक काल में बहुत उपयोग नहीं रहा। सम्पत्ति मनुष्य को कायर बनाती है। इसलिये राजस्थानी अमीर ऐसे कार्यों में मदद देने से डरते थे जो राज्यसत्ता को नापसंद हों। जब उनमें राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ तब भी उसमें संकीर्णता बाकी रही। जिस प्रदेश में वे पैदा होते उसी में अधिक खर्च करते। वह प्रदेश प्रान्त के हिसाब से बहुत छोटा था। नतीजा यह हुआ कि राजपूताने के अनेक भागों में जहां सेवा की बहुत जरूरत थी और जहां थोड़े धन से काफ़ी काम हो सकता था वहां उसके अभाव में काम नहीं हो सका और जहां बहुत जरूरत नहीं थी वहां पानी की तरह पैसा बहता रहा। इससे सेवक और सेव्य दोनों की मनोवृत्ति में बिगाड़ हुआ। हमारे बहुत से दानियों में आगे चल कर यह ख़राबी भी आगई कि धार्मिक और सामाजिक कामों की तरह राष्ट्रीय क्षेत्र में भी वे नाम चाहने लगे। इससे सार्वजनिक जीवन की शुद्धता को काफ़ी हानि पहुंची। आज तो स्थिति यह है कि अधिकांश दाता लोग यश भी चाहते हैं और पद भी। जहां खुले तौर पर पद लेने में जोखम होती है वहां वे अपने नुमायंदों को देखने के इच्छुक रहते हैं। माया के इस बढ़ते हुए प्रभाव ने त्याग, सेवा और शौर्य का मूल्य घटा कंचन को ऐसी जगह आसीन कर दिया है जहां वह भलाई के बजाय बुराई अधिक कर रहा है। उसने हमारी राजनीति में कृत्रिम दलबन्दी को जन्म दिया है। अब तो धनवान एक रुपया देकर दसका बदला चाहते हैं।

बृटिश शासन का रोड़ा

अजमेर मेरवाड़ा की शासन पद्धति और नीति भी सदा लोकबल के विकास में बाधक रही। शायद वह घड़ी ही इसी प्रकार और इसी हेतु से गई थी। विदेशी निरंकुशता ने प्रान्त में राजनीति को गंध न पहुंचने देने के लिये असाधारण सतर्कता रखी, जिन कार्यकर्त्ताओं ने ज़िले के अत्याचार के खिलाफ़, इस्तमुरारी इलाकों की जनता में प्रवेश करने की कोशिश की उन्हें निकाल देने के लिये मदाखिलत बेजा के कानून तक का उपयोग करने में शर्म महसूस नहीं की गई, मानो उस ज़मीन पर अंग्रेज शासक या राजपूत इस्तमुरारदार ईश्वर के यहां से पट्टा लिखवा कर लाये हों और जो प्रजा दोनों के आगमन से भी पहले उस पर काबिज़ थी उसका कोई हक़ ही नहीं था। ख़ैर, अब तो इस्तमुरारी प्रथा ख़त्म हो चुकी है।

अफ़सोस की बात है कि नेताओं की तरफ़ से इस दमन का योग्य उत्तर नही दिया गया। दो एक कार्यकर्त्ता जेल भेज दिये गये। जनता दब गई। उसका सेवको पर से विश्वास उठ गया। हमारे कांग्रेस संचालन में यह एक खास कमज़ोरी रही कि हम आरम्भ शूर रहे और किसी बात को उठा कर उस पर अन्त तक डटे नही रह सके। इसी तरह शहरी मज़दूरों में जागृति और संगठन पैदा करने के जितने प्रारम्भिक प्रयत्न किये गये उन्हे भी बेदर्दी के साथ कुचल दिया गया। खालसे में किसानों को लगान और लागबाग की ज्यादती का कष्ट तो नही था, मगर उनमें जो जीवट के आदमी निकल सकते थे उन्हे फ़ौज में नौकरियां देकर प्रजा के लिये निकम्मा ही नही, बाधक बना दिया जाता था। मध्यमवर्ग के लोग अधिकांश सरकारी या रेल्वे की नौकरियों के कारण स्वार्थभीरु हो गये। रिश्वत देने लेने या दिलाने वालों में म्याऊं का ठौर पकड़ने की हिम्मत कहां से आये? नसीराबाद, नीमच और मऊ आदि खालिस फ़ौजी स्थान ठहरे। छावनियों में सैनिक अधिकारियों के स्वेच्छाचारी अख्तियारों के सामने मामूली साहस की गुज़र नही होती। केकड़ी सामन्तशाही के और पुष्कर पंडाई के वायुमंडल से दूषित था। ब्यावर के व्यापारी नगर में ज़रूर सार्वजनिक उत्साह पैदा हुआ। बाज़ारू तत्वों के बाहुल्य में वहां प्रदर्शनात्मक आयोजन सफल भी हुए। किन्तु वहां आदर्शवाद, बुद्धिशीलता और संस्कृति का आधार न होने से जिन योजनाओं में ठोसपन, स्थायित्व और ऊंची सतह की ज़रूरत होती है वे कामयाब नही हुईं।

बाहरवालों की उदासीनता

एक और प्रतिकूलता भी रही। हमारे प्रान्त को समय समय पर ऐसे कई सेवकों की सेवाएं प्राप्त हुईं जो दूसरे सूबों से आये थे। इनमें से कई हमारे प्रमुख सेवक बन कर रहे। इनके द्वारा राजपूताना की सेवा भी काफ़ी हुई। इसके लिये हमें उनका अहसानमन्द होना चाहिये था। उन्हें भी सेवा का यह सौभाग्य पाकर खुश होना उचित था। फिर भी उन्हें अपनी सहायता के लिये बाहर से अपने भरोसे के सहायक कार्यकर्त्ता बुलाने पड़े। यह स्वाभाविक ही था। लेकिन उस हद तक स्थानीय और प्रान्तीय कार्यकर्त्ताओं को अवसर कम मिला। इस पर असंतोष होना भी आश्चर्य की बात नही थी। फलतः इन सेवकों को 'बाहर वाले' कह कर समय असमय चिढ़ाया गया। उन्होंने भी राजस्थान को 'मरुभूमि', 'नमक की खान' आदि विशेषण देकर यह प्रकट किया कि बरसों तक यहां का अन्न जल खाकर भी वे अपने में इस प्रान्त के प्रति ममत्व पैदा नही कर सके। आपसी मनमुटाव का और जनता में इन सेवकों का प्रभाव न बढ़ने का एक कारण यह भी था कि उनमें राजस्थान के प्रति प्रेम हार्दिक नही था।

छोटे कार्यकर्ता

हमारे छोटे कार्यकर्त्ताओं में भी अनेक दोष पाये गये। इनमें से अधिकांश सन् १६२० के विराट आन्दोलन के जोश से प्रभावित होकर राष्ट्रीय क्षेत्र में आये थे। उनमें १६०५ के देशभक्तों की सी आदर्शवादिता और १६२० के सत्याग्रहियों की सी त्याग भावना नहीं थी। ज्यादातर स्वयंसेवक देखा देखी और परिणामों का विचार किये बिना भरती हुये थे। उनके संस्कार ऊंचे नहीं थे। बौद्धिक सतह भी नीची थी। न उन्होंने और न उनके नायकों ने ही ये त्रुटियां दूर करने की कोई खास कोशिश की। सरकार से लड़ने के कारण उनमें लड़ाकूपन तो आ ही गया था। राजनैतिक अखाड़े की दलबंदियों, चुनावों की अनीतियों और जेल जीवन की अशुद्धताओं ने उन्हें नेताओं की बुराइयां तो सिखा दीं मगर उनके गुण सीखने में न ये तत्पर रहे और न सफल हुए। फलतः कांग्रेस के भीतर आवारा उद्दंड और अविश्वसनीय 'देशभक्तों' का एक दल ऐसा भी पैदा हो गया जिसकी सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि जब तक आप उन्हें खिलाते पिलाते और बढाते चढाते रहिये तब तक उनका शरीर, इज्जत और अन्तःकरण सब कुछ आपके अर्पण है, आप उनसे बुरे से बुरा काम ले लीजिये, लेकिन ज्यूं ही आपने कृपा का वरदहस्त हटाया और किसी कारणवश सहायता देना बन्द किया त्यों ही वे आपके शत्रु हो गये। फिर तो आपका खुले तौर पर अपमान करना, गाली गलौज व मारपीट पर उतर आना, आपके खिलाफ़ पर्चे निकालना, विश्वासघात करना और हर तरह आपको तंग करना उनके बायें हाथ का खेल था। वे राजनीति में झूठ ही नहीं, खानगी जीवन में भी बेईमानी, छलकपट, हिंसा और अनाचार की सभी शाखाओं को विहित मानने और तदनुसार व्यवहार करने लगते। जो प्रमुख व्यक्ति कांग्रेस की अहिंसा को केवल मजबूरी समझ कर मानते थे, किन्तु संस्कार उनके वही पुराने झूठ और हिंसा के बने हुए थे, ऐसे लोगों की तरफ़ से भी इन छोटे कार्यकर्त्ताओं को समय असमय प्रोत्साहन मिलता रहा। नेताओं के जीवन की प्रासंगिक असंगतताओं को अपनी दिन रात की नीतिहीनता के लिये ये लोग पर्याप्त कारण बताते और उसका औचित्य सिद्ध करते थे। फल यह होता था कि समय पड़ने पर आर्थिक प्रामाणिकता, शारीरिक कष्ट सहन, राष्ट्रीय स्वाभिमान और लक्ष्य निष्ठा की परीक्षाओं में इनमें से बहुतेरे बुरी तरह असफल होते और संस्था की प्रतिष्ठा को गहरा धक्का तो पहुंचाते ही, उसके संगठन की मजबूती, कार्य संचालन की शान्ति और अनुशासन की कड़ाई की भी काफ़ी हानि करते थे।